वाजसनेयि-माध्यन्दिन
शुक्ल-यजुर्वेद-संहिता

वेदार्थ पारिज[illegible] विभूषिता

चत्व[illegible]ायः

ईशा वास्योपनिषत्

करपात्र-भाष्यम्

प्रणेतारः
अनन्त श्रीविभूषिताः स्वामि करपात्र महाराजाः

प्रकाशकः
श्रीराधाकृष्ण धानुका प्रकाशन संस्थानम्
कलकत्ता • वृन्दावनम्

❀ श्रीहरिः ❀

श्रीमद्वाजसनेयि-माध्यन्दिन
शुक्ल-यजुर्वेद-संहिता

वेदार्थपारिजाताख्यभाष्य विभूषिता
चत्वारिंशोऽध्यायः

ईशा वास्योपनिषत्

करपात्र-भाष्यम्

प्रणेतारः

अनन्त श्री विभूषिताः स्वामिकरपात्र महाराजाः

भाषानुवादकः

परमहंस श्री स्वामिवामदेव महाराजाः

प्रकाशकः

श्रीराधाकृष्णधानुका प्रकाशन संस्थानम्

कलकत्ता ★ वृन्दावनम्

श्रीवृन्दावनम्   प्रथम संस्करणम्   श्रीसंवत् २०४४

प्रकाशकः
श्रीराधाकृष्ण धानुका प्रकाशन संस्थानम्
कलकत्ता ❀ वृन्दावनम्

मूल्यं तीस रुपये

पुस्तकप्राप्तिस्थानम्

१. राधाकृष्ण धानुका प्रकाशन संस्थान
C/o. मैसूर पेट्रो कैमिकल्स लिमिटेड
११३, पार्कस्ट्रीट, सात तल्ला
कलकत्ता

२. राधाकृष्ण धानुका प्रकाशन संस्थान
ब्रह्मकुटीर, डी० २५.१८ नारदघाट
वाराणसी (उ० प्र०)

३. राधाकृष्ण धानुका प्रकाशन संस्थान
धर्मसङ्घ विद्यालय रमणरेती, वृन्दावन,
मथुरा (उ० प्र०)

४. राधाकृष्ण धानुका प्रकाशन संस्थान
C/o. मैसूर पेट्रो केमिकल लिमिटेड
४०१. ४०४ राहेजा सेण्टर
२१४, नारीमन पोइन्ट, बम्बई ४०००२१

मुद्रक
श्रीहरिनाम प्रेस
श्रीहरिनामपथ, वृन्दावन
२८११२१
दूरभाष ४१५

VĀJASANEYI-MĀDHYANDIN
SHUKLA-YAJURVEDA-SAṀHITĀ
WITH THE VEDĀRTHA-PĀRIJĀTA-
'KARAPĀTRA-BHĀSYA

40

ĪŚĀ VĀSYOPANIṢAD

BY
ANANTA SHRI SWĀMI KARAPĀTRI JI MAHĀRĀJA

Hindi Translation By
PARAMHANS SHRI VĀMADEVA SWĀMI JI

Publisher
SHRI RADHAKRISHNA DHANUKA PRAKASHAN
SAṀSTHĀNA
Calcutta ★ Vrindavan

FIRST EDITION
Shri Vrindāvan Chaitra Navaratri 2044
March 1987

श्रीहरिः

भूमिका

अनन्त श्रीविभूषित जगद्‌गुरु-शङ्कराचार्य–पूर्वाम्नाय गोवर्द्धनमठ पुरी पीठाधीश्वर स्वामी श्रीनिरञ्जनदेवतीर्थ महाराज

अत्यद्भुतमिदं भाष्यं करपात्रविनिर्मितम् ।
ईशा वास्योपनिषदः श्रुतीनां हृदग्रं स्फुटम् ॥१॥

यथा प्रकाशितन्त्वत्र न तथान्यत्र दृश्यते ।
भगवत्पादभाष्येऽपि केवलं ज्ञाननिष्ठता ॥२॥

इति भ्रमो भवेन्नूनं केषाञ्चिद्विदुषां हृदि ।
परमत्र तथा नैव भ्रमस्यावसरो भवेत् ॥३॥

यतः कर्मपरामन्त्राः कर्मार्था एव सूचिताः ।
उपासना पराणाञ्च मन्त्राणामपि तत्पराः ॥४॥

अर्थाः स्पष्टं विनिर्दिष्टा युक्तिप्रौढिश्च दर्शिता ।
एवं ज्ञानपरामन्त्रा ज्ञानार्था एव दर्शिताः ॥५॥

भक्तिवादिषु भाष्येषु कर्मज्ञानपरा अपि ।
भक्ति भक्त्याग्रहेणैव भक्तिनिष्ठाः प्रदर्शिताः ॥६॥

परमस्मत्स्वामिपादैस्तथा नैवाग्रहः कृतः ।
अर्थो मन्त्रस्य यः किन्तु हार्दः स्वारसिकोऽपि च ॥७॥

स एव युक्तितर्काभ्यां प्रमाणैश्च प्रकाशितः ।
यथा मन्त्राः स्वरसतो भगवत्पादपारिताः ॥८॥

स्वामिपादैरपि तथा व्याख्याता मन्त्रवर्णकाः ।
आद्य शङ्करपादेभ्यः पश्चादेतादृशो न हि ॥९॥

विद्वान् कश्चित्समायातो येनैतादृशमीरितम् ।
भाष्यं स्पष्टार्थसंयुक्तं हृदयग्राहि सुन्दरम् ॥१०॥

मर्मस्पृक् युक्तितर्काणां सन्निवेशोऽत्र यादृशः ।
तादृशो नैव कुत्रापि मिलेदिति मतम्मम ।।११।।

सायणाचार्यवर्याणामुव्वटस्य च यन्मतम् ।
महीधरस्य यच्चापि तदप्यत्र समर्थितम् ।।१२।।

संन्यासस्योररीकारे ब्राह्मणस्यैव सर्वथा ।
अधिकारो न चान्येषामिति यत् प्रौढयुक्तिभिः ।।१३।।

सुसाधितं स्वामिपादैस्तदत्यन्तं हि दुर्लभम् ।
अतो भाष्यमिदं प्राज्ञैर्ज्ञेयं ध्येयञ्च यत्नतः ।।१४।।

निवेदनमिदं नम्रं सर्वेषां विदुषां पुरः ।
नासूया चात्रकर्तव्या ह्यध्येतव्यन्तु भक्तितः ।।१५।।

फाल्गुन शु० ३,२०४३ श्रीनिरञ्जनदेवतीर्थः
बहादुरगढ़
(हरियाणा)

श्रीहरिः

भूमिका

पूज्य स्वामी श्रीकरपात्री जी द्वारा विरचित यह भाष्य बड़ा विलक्षण है। **'ईशा वास्योपनिषद्'** की श्रुतियों का हृदय जैसा स्पष्ट इसमें प्रकाशित किया गया है, वैसा और कहीं दृष्टि में नहीं आता। भगवत्पाद (श्रीशङ्कराचार्य) के भाष्य में भी कुछ लोगों के मन में यह भ्रम हो सकता है कि इसमें केवल ज्ञान का ही निरूपण है; किन्तु इस भाष्य में किसी ऐसे भ्रम के अंश का भी अवकाश नहीं है, क्योंकि इसमें कर्म-परक-मन्त्रों को कर्मार्थक ही बतलाया गया है और उपासना-परक तथा ज्ञानपरक मन्त्रो के अर्थ स्पष्टरूप से उपासना परक तथा ज्ञानपरक ही दिखलाया गया है। इस **'वेदार्थ पारिजात'** नामक भाष्य में युक्ति की उत्कृष्टता भी दिखलायी गयी है। भक्तिवादी भाष्यों में

आग्रह केवल भक्ति पर ही रहा तथा लक्षणावृत्ति का आश्रय लेकर भी कर्म और ज्ञानपरक मंत्रों की निष्ठा भक्ति में ही दिखलायी गयी; किन्तु हमारे पूज्य श्रीस्वामीजी महाराज ने ऐसा कोई आग्रह नहीं किया है। मन्त्रों के जो हार्दिक स्वारसिक अर्थ हैं, उन्हीं को युक्ति, तर्क और प्रमाणों के द्वारा प्रदर्शित किया है।

भगवान् शंकराचार्य ने मन्त्रों का जिस तरह स्वारसिक व्याख्यान किया है, पूज्य श्रीस्वामीजी महाराज ने भी मन्त्राक्षरों की उसी प्रकार व्याख्या की है। भगवत्पाद शंकराचार्य जी के अनन्तर ऐसा कोई विद्वान् नहीं आया, जिसने इस प्रकार की व्याख्या की हो। यह भाष्य स्पष्ट, हृदयग्राही और सुन्दर है। युक्ति और तर्कों का जैसा इसमें मर्मस्पर्शी प्रयोग किया गया है, ऐसा और कहीं मिलना सुलभ नहीं—यह मेरा मत है। श्रीसायणाचार्य महोदय का, उव्वट का और महीधर का जो मत है, उसका भी इसमें समर्थन सहित दिग्दर्शन कराया गया है।

'सन्यासाश्रम को स्वीकार करने में केवल ब्राह्मण का ही अधिकार है, दूसरों का नहीं' श्रीस्वामीजी महाराज ने प्रौढ़-युक्तियों द्वारा भलीभाँति इस तथ्य को जिस प्रकार सिद्ध किया है, वैसा दूसरी जगह सुगमता से नहीं मिल सकता है।

विद्वानों से मेरा नम्र निवेदन है कि इस भाष्य का यत्नपूर्वक अवगाहन और अनुशीलन करना चाहिए। इसमें असूया (गुणों में दोष खोजना) न करके भक्तिपूर्वक इसका अध्ययन करना चाहिये।

—श्रीनिरञ्जनदेवतीर्थ

Abstract of Bhumika, Written by Jagadguru Shankaracharyapad Goverdhan Matha Puri Peetnadhishwar Swami Shri Niranjan Devji Tirtha Maharaj.

PREFACE

This thoughtful critical study of Ishavasyopanishada by Swami Karpatri ji is unique. The clear view of the thought of Ishavasyopanishada as presented here is not found elsewhere. The critical study by God-gifted Shankaráchārya may breed a suspicion in the heart of some people that it comprises only the interpretations of the knowledge (jnan). But there is no scope for even the slightest kind of such a doubt about this critical study because here those verses which aim at the Actions (leading to the fulfilment of desires) have been shown worthy of such Actions while the verses which aim at the worship (of the Lord) have been interpretted as worthy of such a worship and the supremacy of these devices has also been laid bear. In a similar manner those verses which aim at the knowledge(of the Lord)have been shown worthy of knowledge. In the various other interpretations of these verses by scholars having faith in the Bhakti cult, there has always been emphasis on Bhakti and so with the help of theories of Associationism even the verses aiming at the actions and the kmowledge have been interpretted as having faith in the Bhakti cult. But our Respected Swamiji, has not laid any such emphasis anywhere. Only the real unbiased meanings of the various verses

have been shown here with the help of logical approach and convincing proofs.

The way as adopted by Bhagwan Shankaracharya in the interpretations of various verses, has also been followed here by our Respected Swamiji Maharaj in the critical interpretations and elucidation of verses. After the God-gifted Adi Shankaracharya, no eminent scholar who has attempted such a kind of critical study, has appeared so for on the scene. This study is full of unprecedented clarity and beauty and is heart searching. The use of logical and rational approach as found here, will not be easily found elsewhere? — This is my opinion. The view points of Saynacharya, Uvvata and Mahidhar have also been elaborately discussed here.

The fact that only Brahmins exclusively have the right to adopt 'Sanyas Ashram', has been substantiated with an unparalleled logical force and manner. The scholars, therefore, are advised to go through this treatise thoughtfully and meditatively. It is my humble request to all the learned people and readers that they should study this work not with an eye to find fault but with devotion and love.

*

श्रीहरिः

श्रीकरपात्राष्टकम्

(डा० श्रीशशिधर शर्मा महामहोपाध्यायः, सप्तविषयाचार्यः)

केचिद् भजन्ति विबुधा हरिमीशितार—
ञ्चाऽन्ये हरं भवनिदाघहरं श्रयन्ति ।
धर्माऽर्तिखिन्नमनसां समुपासनीयं
प्रत्यक्षितं हरिहराद्वयमद्वयन्नः ॥१॥

सद्राजनीतिनिपुणः किमु विष्णुगुप्तो
वाचस्पतिर्निखिलशास्त्रविचक्षणो वा ।
आहो शुको नु भगवद्गुणगानधन्यो
यस्मिन्नितीव समशायि यतिः स वन्द्यः ॥२॥

यस्याऽवसन्नवरसा रसने सरस्व –
त्याभान्ति लेखतनवोऽतनुकीर्तिलेखाः ।
चेतस्य भूत्सरसिजोदरसौकुमार्यं
स्मार्यो न कस्य स वशी शयभाजनार्यः ॥३॥

वन्द्यः स योऽकृतकृती सुकृतार्थसंस्थाः
रामायणे श्रुतिषु चाऽतत वाक्प्रवाहान् ।
नैष्कर्म्यमूर्ध्वमधिताधिधरं तथापि
कर्मेतराऽकृततरं व्यधिताऽऽप्रयाणम् ॥४॥

यः सत्कविर्गुरुगुरुर्बुधमङ्गलात्मा
तीव्रप्रतापतपनश्च सतां च सोमः ।
धर्मद्विषां शनिरर्थी मदिनाञ्च राहुः
केतुः कलेर्जयति दण्डिवरः स कोऽपि ॥५॥

कारागमैः शिरसि दण्डनिपातघातै —
रप्येजनं न जनितं किल, यस्य जातु ।
दीपः सनातनसृतेरपि गीष्पतेर्यो
वार्येतरो हृदि विभाति स नः सदाऽऽर्यः ॥६॥

तिष्ठेत् प्रणष्टकुहक: सुपथे नरौघ:
पारेऽम्बुधि जनगिरा प्रसरं प्रयातु ।
गावश्चरन्तु परितोऽस्तभया घटोध्न्य:
स्वप्नस्तवेति यतिराट् ! फलिता कदा नु ! ।।७।।

यो दण्डिवर्योऽतियतीन्द्रचर्य:
श्रौताऽध्वनोऽभूद्भुवनेषु धुर्य: ।
श्रेयो भृतां शश्वदपीह चार्यो
धार्य: स चित्ते करपात्र आर्य: ।।८।।

★

श्रीहरि:

करपात्राष्टकम्

कुछ बुद्धिमान् जन भगवान् हरि (विष्णु) का भजन करते हैं और कुछ दूसरे संसार तापाहारी हर (शङ्कर) की सेवा करते हैं। (किन्तु) धर्म की ग्लानि से खिन्न मनवाले हम लोगों की उपासना का पात्र तो हरि और हर का वह अनुपम अद्वैत है, जिसे हमने अपनी आँखों से देखा है।(श्रीस्वामी करपात्रीजी महाराज के संन्यास का नाम **श्रीहरिहरानन्द** सरस्वती है; फलत: वे श्रीहरिहरात्मक हैं।) ।।१।।

"क्या उदात्त—लोककल्याणकारिणी--राजनीति में प्रवीण **विष्णुगुप्त**—आचार्य चाणक्य हैं, या समस्त शास्त्रों में दक्ष देवगुरु **बृहस्पति** (किम्वा सर्वतन्त्रस्वतन्त्र **वाचस्पति** मिश्र) हैं, या फिर श्रीप्रभु का गुणगान करने से धन्य हुए **शुकदेव** ही हैं ?" जिनके सम्बन्ध में लोग इस प्रकार से (विविध) सन्देह किया करते थे—वे स्वामी करपात्री जी वन्दना के पात्र हैं ।।२।।

"जिनकी जिह्वा पर नवरसमयी सरस्वती निवास करती थी, लेखों के रूप में जिनकी महान् यशोराशि की लेखाएँ आज भी शोभा पा रही हैं, (और) जिनके हृदय में कमल के मध्यभाग–सरीखी मृदुलता थी, वे सर्वभूतहृदय संयमी (वशी) स्वामी करपात्रीजी किसके स्मरणीय नहीं हैं ? ।।३।।

वन्दनीय हैं वे स्वामी करपात्रीजी महाराज जिन मनीषी ने अनेकानेक धर्मसंस्थाओं की स्थापना की, जिन्होंने रामायण पर एवं वेदों पर सरस्वती धाराएँ प्रवाहित कीं, जिन्होंने भूमण्डल पर नैष्कर्म्य अर्थात् ज्ञानमार्ग की सर्वोच्च सिद्धान्तरूप में प्रतिष्ठापना की, किन्तु जो प्रयाणकाल तक दूसरों द्वारा सुतरां न किये गये कर्म का सम्पादन करते रहे ।।४।।

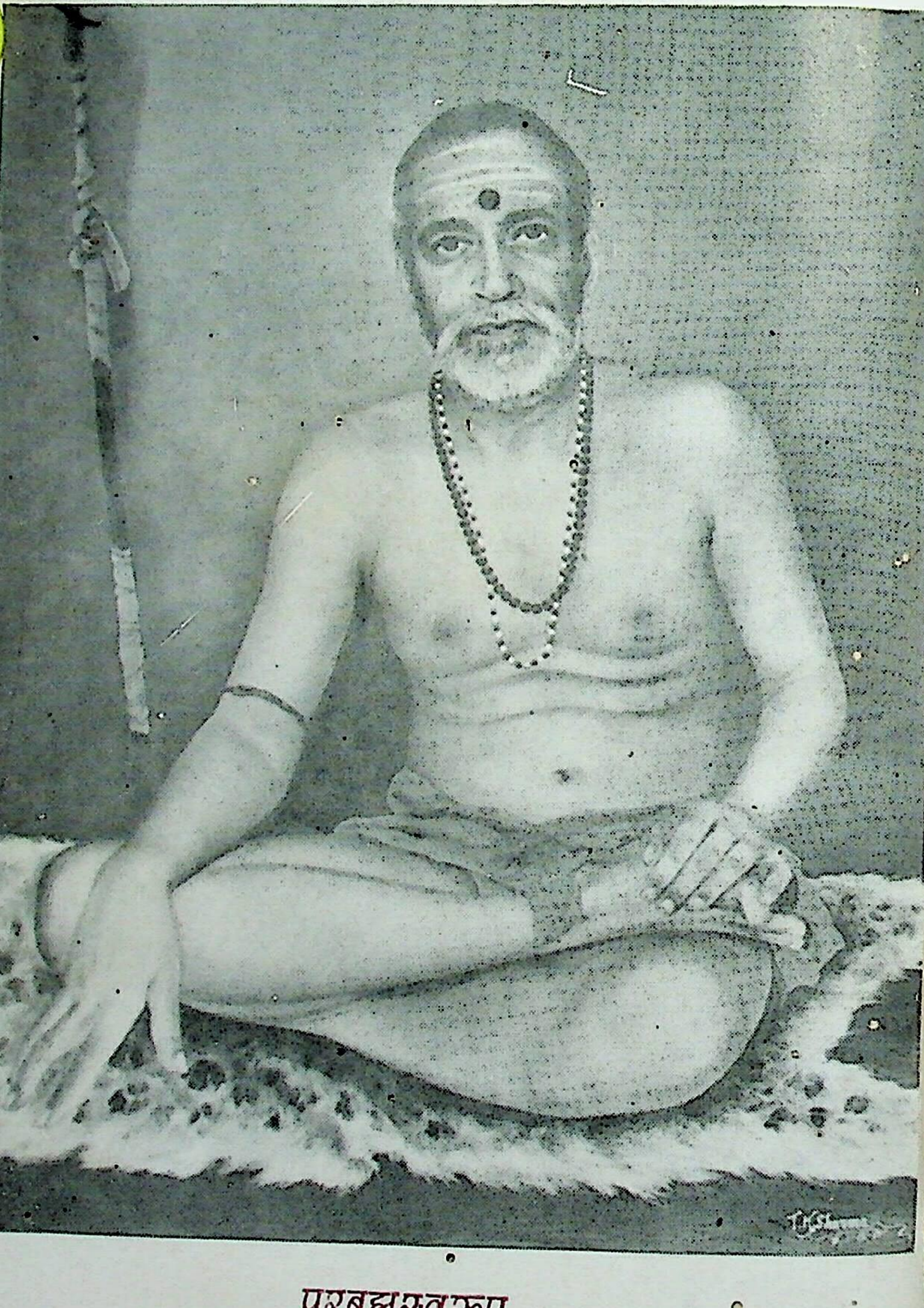
जो अनवद्य विद्यावान् (**शुक्र**) थे, जो गुरुओं के भी **गुरु** (वृहस्पति) थे, जो विद्वानों के कल्याणरूप (**मंगलमय**) थे, प्रचण्ड प्रताप में जो **सूर्य** थे और सज्जनों के लिये **सोम** (चन्द्रमा) थे, धर्म-द्वेषियों के लिये जो **शनि** थे; अहङ्कारियों के लिये **राहु** और कलियुग के लिये **केतु** (विजय-वैजयन्ती) थे, वे विलक्षण यतिराज स्वामी करपात्री जी जयशील हैं ।।५।।

गोरक्षार्थ जेल यात्राओं से यहाँ तक कि सिर पर लाठी पड़ने से लगी चोटों से भी जो अपने मार्ग से विचलित नहीं हुए, जो सनातन धर्ममार्ग के दीपक थे और जिनको जीतना देवगुरु बृहस्पति के लिए भी कठिन था, वे स्वामी (करपात्री) जी महाराज हमारे हृदय में सदा विराजमान हैं ।।६।।

"लोग छल-पाप छोड़कर सन्मार्ग पर आरूढ़ रहें, हिन्दी का प्रसार समुद्रपार विदेशों में भी हो, घड़ों के सदृश थनोंवाली गाएँ (हत्या के) भय से मुक्त होकर चारों ओर विचरण करें"—यतिराज ! आपका यह सपना भला कब फलीभूत होगा ? ।।७।।

जो दण्डि सन्यासियों के शिरोमणि थे। बड़े-बड़े यतिराज़ भी जिनकी जीवनचर्या को जीवन में चरितार्थ (उतार कर जिनकी तुलना या समानता) नहीं कर सकते, जो देश-विदेश में श्रुतिमार्ग के एकमात्र रक्षक थे और जो यहाँ श्रेयभाजन और श्रेयप्राप्त सुजनों के स्वामी थे—वे श्लाध्य श्रीकरपात्री जी महाराज हमारे हृदय (सिंहासन) में धारणीय हैं ।।८।।

★



परब्रह्मस्वरूप

धर्मसम्राट् पूज्यपाद स्वामी श्री करपात्री जी महाराज

SHREE

KARAPĀTRĀSTAKAM

(1)

Some wise men worship Hari (Vishnu) while others pray to Hara (Shiva) who relieves the sufferings that comprise the world. However, for us, aggrieved on account of the decline of Dharma, the peerless pair of Hari and Hara, that we visualise as One, has always been worthy of our devotion.

(2)

Worthy of worship was this Sage about whom doubts, such as these used to arise : 'Is he Vishnu Gupta (Chanakya) adept in the science of polity, or is he the Jupiter (Vachaspati) well versed in all the scriptures, or is he Shukdeva, the blessed singer of the glory of the Almighty.

(3)

Who would not venerate Self-Controlled Swami Karpatriji whose tongue was the seat of Sarswati, the personified goddess of Nine Rasas & Learning, whose writings full of novel thoughts still shine as the symbols of his vast fame and whose heart was as tender as the petals of the lotus flowers.

(4)

Worthy of adoration is learned Karpatri ji who founded

a number of religious institutions and who propounded numerous schools of philosophical thoughts relating to the Ramayana and the Vedas and established the supremacy of the Monastic philosophy having faith in the knowledge (jnan) and not the Actions (Karma) as the key to salvation and who upto the last breath of his life kept busy in producing unique works.

(5)

Victory to the great Dandi Swami Karpatri ji who was a versatile scholar (Venus), godly teacher of teachers Jupiter, holy guardian of the learned (Mars), Sun among tha brilliants, solace giving Moon for the gentle, terrible saturn for the enemies of righteousness, horrible Rahu for the haughty and fearful ketu for the disruptive forces.

(6)

Frequent imprisonments (on account of participation in the movements for Saving the cow) and even painful head injuries caused by the blows of the lathi-charge could not deviate this Sage from his path of Righteousness (Dharma) That Sage, Swami Karpatriji, who could not be overpowered even by the god Jupiter, is always alive in our hearts.

(7)

'People may follow the course of Righteousness, giving up the path of vices, Hindi may spread beyond the limits of Oceans and Cow may roam about here and there freely without the fear of slaughter', O Kingly Ascetics, who knows when your this cherished wish be realised.

(8)

In our hearts is always enshrined that Respected Swami Karpatri ji who as the Pole star of the Dandi Sanyasis and whose life could not be emulated even by the great sages and who alone on the surface of this earth was the Saviour of the path of holy Vedas and who was the fountain head of all those who attained the spiritual prosperity.

श्रीहरि:

दिग्दर्शन

सम्पादकीय

श्री स्वामी निश्चलानन्द सरस्वती

१. अवतरण —

'ईशा वास्योपनिषत्' शुक्ल यजुर्वेद माध्यन्दिन तथा काण्व-संहिता का अन्तिम–चालीसवाँ अध्याय है। इसका प्रारम्भ **'ईशा वास्यम्'** इस मन्त्र से होता है। जिस अद्वितीय प्रत्यगात्मतत्त्व के बोध से कर्म 'अकर्म' हो जाते हैं, उसीके प्रतिपादक होने से **'ईशा वास्यं'** आदि मन्त्र वेद के शिरोभागरूप **'वेदान्त'** या **'उपनिषत्'** कहे जाते हैं।

२. उद्बोधन —

काण्वशाखा की उपनिषत् पर भगवत्पाद शङ्कर और श्रीसायणाचार्य का भाष्य है, जबकि माध्यन्दिन पर श्रीउव्वट और श्रीमहीधर का। श्री श्रीसायण, उव्वट आदि आचार्यों ने और श्री आनन्दगिरि तथा श्रीशङ्करानन्दादि मनीषियों ने भगवत्पाद शङ्कर के दृष्टिकोण को ही अभिव्यक्त किया है। भजनीय तत्त्व श्रीभगवान् के लोकोत्तर स्वभाव, प्रभाव, रूप और स्वरूप के उत्कर्ष ख्यापन, भगवदर्थ कर्मानुष्ठान और भगवद्भजन के पोषण में भक्तिप्रधान आचार्यों ने ईशादि मन्त्रों को विनियुक्त माना है।

माध्यन्दिनशाखीय प्रस्तुत भाष्य **'वेदार्थ पारिजात'** परम प्रसन्न और गम्भीर है। इसके रचयिता हैं सर्वभूतहृदय यतिसम्राट् पूज्यपाद

श्रीस्वामी करपात्री जी महाराज। इसमें उन्होंने कर्म, उपासना और योगादि की यथास्थान उपयोगिता और अनुपम महत्ताका उदारता पूर्वक समर्थन तथा प्रतिपादन जहाँ दक्षता और सरसता पूर्वक किया है, वहाँ उपनिषदादि समस्त शास्त्रों का चरम तात्पर्य निर्विशेष प्रत्यगात्मस्वरूप सच्चिदानन्दघन ब्रह्मात्मतत्त्व में ही सन्निहित सिद्ध किया है।

प्रथम मन्त्र 'ईशा वास्यं' के भाष्य में उन्होंने यह भाव दर्शाया है कि सर्व शास्ता परमेश्वर सर्वप्राणियों का अन्तरात्मा है, वही सबका नियन्ता है। वह नियम्य से वाहर स्थित सामान्य राजा और कार्तवीर्यार्जुन तुल्य योगसिद्ध शासक सदृश तटस्थ नहीं है। वह सम्पूर्ण जगत् का विवर्ती उपादान है। मायाभूमि में प्रत्यक्षादि प्रमाणों से सिद्ध दृष्टादृष्ट नाम-रूप-क्रियात्मक जगत् मिथ्या है; अतः आत्मसत्य के अनुबोध से ज्ञातरस्सी से कल्पित सर्पादि के समान आच्छादनीय–बाधनीय है। आत्मा क्योंकि ब्रह्मस्वरूप ही है; अतः सर्वैषणा के त्याग से अध्यास का निराकरणरूप आत्मपालन ही कर्तव्य है, न कि मिथ्या धन की अभिलाषा।

'कुर्वन्नेवेह कर्माणि' इस **द्वितीय मन्त्र** की व्याख्या के सन्दर्भ में ग्रन्थकार के द्वारा यह दर्शाया गया है कि जीवन की इच्छा विधेय नहीं है; वह तो रागतः प्राप्त है। रागी कर्म का और विरागी ज्ञानका अधिकारी है। आत्मा नरत्वादि सकल संसारधर्मों से रहित है। सौ वर्षों तक जीवित रहने की इच्छा वाले अनात्मज्ञ के कल्याण का एकमात्र यही उपाय है कि वह पाप से अलिप्त रहने के लिए यावज्जीवन स्ववर्णाश्रमोचित अग्निहोत्रादि कर्मों को करता रहे।

'असुर्या नाम ते लोकाः' इस **तृतीय मन्त्र** की व्याख्या में यह दर्शाया गया है कि देहेन्द्रियादि अशोभन अनात्मप्रपञ्च में रमण करने वाले भले ही देवादि देहों को ही प्राप्त क्यों न हों, पर आत्मतिरस्कारकर्ता होने से वे आत्महत्यारे ही मान्य हैं। देवादिदेहरूप लोक भी आत्मरति, आत्मतृप्त, आत्मसंतुष्टों को प्राप्त स्वप्रकाश आत्मलोक की अपेक्षा 'आसुर' ही हैं।

'अनेजदेकं' इस **चतुर्थ मन्त्र** के भाष्य में यह दर्शाया गया है कि 'आत्मा' सदा एकरस अद्वितीयतत्त्व है। व्यापक और स्वप्रकाश आत्मा की महिमा से महिमान्वित होकर ही मन में सुदूर अवस्थित ब्रह्मादि

लोकों का स्फुरण होता है। सोपाधिक आत्मतत्त्व मन की गतिका भी अतिक्रमण करनेवाला है। स्वप्रकाश होने से आत्मा अधिदेव सहित इन्द्रियों का भी भास्य नहीं है। ज्ञान और कर्मका आधार, कार्य-करणात्मक स्थूल-सूक्ष्म देहद्वय का उद्दीपक और रक्षक, हिरण्यगर्भ और सूत्रात्मक 'वायुतत्त्व' निज उद्गम और विहरण-स्थान प्रकृति और अन्तरिक्ष सहित स्वतः सिद्ध आत्मा से ही सत्ता लाभ करने में समर्थ है।

'तदेजति' इस **पाँचवें मन्त्र** के भाष्यानुसार यह तथ्य प्राप्त है कि आत्मतत्त्व अचल, निर्विकार है। अज्ञों की दृष्टि में वह चलता-सा है। अज्ञों को पहुँच उस तक नहीं, अतः वह दूर-सा है। विज्ञों की दृष्टि में तो वह सर्वथा प्रत्यगात्मस्वरूप होकर स्फुरित होता है, अतः समीप ही है। इस नाम-रूप-क्रियात्मक जगत् में उसकी अनुगति है, वह इनका परमाश्रय (अधिष्ठान) होकर विद्यमान है, इसलिये भी समीप ही है। सम्पूर्ण जगत् के रूप में उसीकी स्फूर्ति है। जङ्गमरूप से चल और स्थावर-रूप से वह अचल है। नक्षत्रादिरूप से दूर और पृथ्वी आदि रूप से समीप है। अथवा ब्रह्मादि देवशिरोमणियों के रूप से वह चलता है—लीला से व्यवहार करता है और स्वरूप से अचल है। अन्तर्यामी और प्रत्यगात्मरूप से सबके अन्दर और विषयरूप से बाहर है।

'यस्तु सर्वाणि भूतानि' इस **छठे मन्त्र** के माध्यम से इस रहस्य को चित्रित किया गया है कि जो मुमुक्षु—संन्यासी ब्रह्म से अभिन्न आत्मा में अव्यक्त से लेकर स्थावरपर्यन्त (शास्त्रगम्य और प्रत्यक्ष) भूतों को अनुभव करता है—आत्मा से अतिरिक्त नहीं जानता तथा उन सर्वभूतों में कारणरूप से या आत्मरूप से स्वयं को अनुगत (अनुस्यूत-प्रोत) जानता है, वह तत्त्वदर्शी उस आत्मदर्शन के फलस्वरूप **'न विचिकित्सति'**—संशय नहीं करता, **'न विजुगुप्सते'**–घृणा नहीं करता।

'यस्मिन् सर्वाणि भूतानि' इस **सप्तम मन्त्र** में यह भाव अङ्कित किया गया है कि जिस कालविशेष अथवा आत्मा में ब्रह्मात्मतत्त्व की सर्वरूपता को जाननेवाले के लिये सर्वभूत अपने कल्पित-स्वरूप को

त्यागकर अकल्पित चिदानन्दस्वरूप आत्मा ही हो जाता है; उस काल अथवा आत्मा में असङ्ग अद्वितीय आत्मा के एकत्वदर्शी को कारण सहित संसारका निवारण हो जाने से शोक और मोह नहीं होता।

'स पर्यगात्' इस **अष्टम मन्त्र में** यह तथ्य दर्शाया गया है कि **'ब्रह्म'** चिदानन्दस्वरूप निर्गुण-निर्विशेष-कर्तृत्वशून्य-कर्तव्यविधायक-सर्वद्रष्टा-सर्वज्ञ-सर्वरूप-सर्वात्मा-सर्वशक्ति और सर्वव्यापक है। एकत्व-विज्ञान से उसकी उपलब्धि होती है। वह **स्वानुरूप दिव्यविग्रहयुक्त होने पर भी जीवोचित और भगवत्समसत्ताक स्थूल-सूक्ष्म-कारणदेह रहित है।**

'अन्धन्तमः प्रविशन्ति येऽसम्भूतिमुपासते' इस **नवम (काण्व०१२) मन्त्र** के भाष्य में इस रहस्य का प्रकाश किया गया है कि इसमें नैरात्म-वादी लोकायतिकों और विज्ञानवादियों के देह और विज्ञानरूप आत्मा का निराकरण किया गया है। अथवा **'असंभूति'**–अक्षर, अव्याकृत, कारणब्रह्मरूप अव्यक्त के उपासकों की निन्दा और उसकी अपेक्षा भी **'संभूति'**–व्यक्तोपासक की अधिक निन्दा दोनों की समुच्चित–उपासना के अभिप्राय से की गयी है।

'अन्यदेवाहुः संभवात्' इस **दशम (का० १३) मन्त्र में** इस तथ्य का प्रतिपादन किया गया है कि **'संभव'**–कार्यब्रह्म की उपासना का फल अणिमादि–ऐश्वर्योपलब्धिरूप अन्य ही है और **'असंभव'**–कारण-ब्रह्मरूप अव्याकृत की उपासना से प्राप्त होनेवाला प्रकृतिलयरूप फल अन्य ही है।

'सम्भूतिञ्च विनाशञ्च' इस **ग्यारहवें (का० १४) मन्त्र के** भाष्य में इस सिद्धान्त का निरूपण किया गया है कि सम्पूर्ण जगत् के **'संभव'** (अभिव्यक्ति) का जो परमकारण है, वह परब्रह्म है। वही विविध शरीरों में शरीरी (क्षेत्रज्ञ, क्षेत्री) रूप से विद्यमान है। विनाशशील शरीर **'विनाश'** है। योगी (आरुरुक्षु–योगारुढ होने की इच्छावाला) दोनों तादात्म्यापन्न को विभागपूर्वक जानता है, अर्थात् देहभिन्न होने पर भी कर्मवशात् स्वयं को देह में अवस्थित जानता है। जो योगी ज्ञानोत्पत्ति की भावना से कर्मासक्ति, फलासक्ति और अहङ्कृति को तनु (शिथिल) कर धृत्युत्साहपूर्वक भगवदर्थ कर्मों (निष्कामकर्मों) को करता है, वह शुद्धिसाधन के योग से **'विनाश'**

से—विनाशी शरीर से अन्त:करण की अशुद्धिरूप मृत्यु को तर जाता है और '**सम्भूति**' अर्थात् आत्मज्ञान से अमृत (मुक्ति) लाभ करता है। अथवा छान्दसवर्णलोप के योग से '**संभूति**'–'**असंभूति**' मान्य है। जिसका अर्थ है अव्याकृत (कारणब्रह्म) की उपासना। '**विनाश**' का अर्थ है, विनाशधर्मयुक्त कार्यब्रह्मोपासना। जो दोनों की सहोपासना करता है, वह कार्यब्रह्म (हिरण्यगर्भ) की उपासना से उपलब्ध ऐश्वर्य और धर्मादि के अमोघ प्रभाव से अनैश्वर्य–अधर्मादिरूप मृत्यु को पारकर कारणोपासना से प्रकृतिलयरूप अमृतफल को प्राप्त करता है।

'**अन्धन्तमः प्रविशन्ति येऽविद्यामुपासते**' इस **बारहवें** (काण्व० ९) **मन्त्र** के भाष्य में इस तथ्य का प्रकाश किया गया है कि '**कर्म**' वेद विहित होने से 'विद्या-सदृश' कहा जाता है। विद्या भिन्न-अन्य 'अविद्या' यहाँ 'कर्म' है। ब्राह्मण-अन्य क्षत्रियादि को अब्राह्मण कहने की प्रथा इस प्रसङ्ग में हृदयङ्गम करने योग्य है। 'विद्या' यहाँ देवोपासना है। वे अदर्शनात्मक तम में प्रविष्ट होते हैं, जो अविद्या पदवाच्य कर्म की उपासना करते हैं। वे उनसे भी अधिक अदर्शनात्मक तम में प्रविष्ट होते हैं, जो विद्या अर्थात् हिरण्यगर्भोपासना में निरत हैं।

यहाँ यह ध्यान रखना आवश्यक है कि '**न हि शास्त्रविहितं किञ्चिदकर्तव्यतामियात्**', '**फलवत्सन्निधावफलं तदङ्गम्**'='शास्त्र-विहित कुछ भी अकर्तव्य नहीं होता', 'फलसहित की सन्निधि में पठित—सन्निहित फलरहित उसका (फलयुक्त का) अङ्ग होता है।'; क्योंकि विद्या (देवोपासना) और अविद्या (कर्मानुष्ठान) दोनों शास्त्रसिद्ध हैं; अत: ये अकर्तव्य नहीं हो सकते, साथ ही विद्या और अविद्या के देव और पितृ-लोक की प्राप्तिरूप अवान्तर फलभेद दोनों के समुच्चय (सहानुष्ठान) में हेतु है, न कि अङ्गाङ्गिभाव की सिद्धि में। समुच्चय-प्रशंसा के अभिप्राय से दोनों की निन्दा की गयी है। महानुभावों ने कहा भी है—'**न हि निन्दा निन्द्यं निन्दितुं प्रवर्तते, अपि तु विधेयं स्तोतुम्**'='निन्दा निन्दनीय की निन्दा के लिये प्रवृत्त न होकर, विहित (विधित्सित, विधेय) की स्तुति के लिये होती है।'

ज्ञाननिष्ठा और कर्मनिष्ठा ये दो वेदोक्तमार्ग हैं। '**ईशा वास्यं**' और '**कुर्वन्नेवेहकर्माणि**' (ईशा० १,२) इन दो मन्त्रों में क्रमश: दोनों मार्गों के अधिकारियों का निरूपण किया गया है। सर्वैषणा (सम्पूर्ण-

कामना)—विमुक्तज्ञाननिष्ठों में कर्मसंन्यास की सहज प्रतिष्ठा होती है। **कर्मासक्ति-फलासक्ति-अहंकृति–नानात्वबुद्धि और अभिनिवेशशून्य तत्त्वज्ञों में कदाचित् कर्म प्रतिष्ठित भी हो तो भी मोक्ष के प्रति अन्यथासिद्ध उसी प्रकार होता है, जिस प्रकार अग्नि में अवस्थित पिङ्गलता दाह के प्रति।** ऐसे तत्त्वज्ञ वसिष्ठ, व्यासादि के कर्म **'लीलाकर्म'** या 'कर्माभास' ही मान्य हैं। **'नैव किञ्चित्करोमीति'** (भगवद्गीता ५.८,९) उनका यह निश्चय कि 'मैं कुछ नहीं करता' उनमें अन्यारोपित कर्म को अकर्म बनाये रखता है। 'करते हुए भी न करने की उनकी मान्यता' विक्षिप्त और अज्ञों-जैसी नहीं मानी जा सकती; क्योंकि **'युक्तो मन्येत तत्त्ववित्'** (गीता० ५.८) वे **'युक्त'** हैं, असमाहित या विक्षिप्त नहीं; **'तत्त्ववित्'** हैं, बालवत् अज्ञ नहीं।

जो ज्ञाननिष्ठा के अधिकार से अभी विभूषित नहीं, न उसके करीब (निकट) ही हैं; बल्कि जीवन और जीवनोपयोगी वस्तुओं में रागान्वित हैं, वे योग्यता विरहवशात् शुद्ध ब्रह्मात्मतत्त्व के एकत्वबोध के अभी अनुपयुक्त हैं। शास्त्रोक्त विधि-निषेधानुसार अनुष्ठित कर्म कालान्तर फलप्रद हैं। ज्ञान तत्काल फलप्रद है। अज्ञानावरणवारण-पूर्वक निरावरण ब्रह्मात्मभाव के अभिव्यञ्जनरूप फल को प्रदान करने के लिये ज्ञानको कर्मादि के योग की अपेक्षा नहीं। ऐसी स्थिति में मन्त्र में प्रयुक्त 'अविद्या' स्वर्गादि अभीष्टफलप्रद कर्म का और **'विद्या'** देवतोपासना का वाचक है। दोनों का विवक्षित योग ऐसा अर्थ स्वीकार करने पर ही संभव है। कर्म और विद्या का क्रमशः पितृलोक और देवलोकरूप पृथक् फल श्रुत होने पर भी कर्म की अपेक्षा न कर केवल देवताराधन, कर्माधिकारी द्वारा अविचलभाव से सध पाना कठिन है। साथ ही देवतोपासना से विमुख रहकर केवल कर्मानुष्ठान से अन्तर्यामी और अधिदैवमण्डल के प्रति महत्त्वबुद्धि की न्यूनता के कारण अभीष्टवस्तु की उपलब्धि में प्रतिबन्ध की द्रुतनिवृत्ति और निष्कामभाव से कर्मानुष्ठानपूर्वक मोक्ष के प्रति अभिरुचि तथा मनोवृत्ति असम्भव है। इसीलिये यहाँ केवल कर्म और केवल ज्ञानकी निन्दा दोनों के समुच्चय की भावना से प्रयुक्त है।

'अन्य देवाहुर्विद्याया' इस तेरहवें (का० १०) मन्त्र में सत्परम्प-राप्राप्त फलभेद का वर्णन किया गया है।

'विद्याञ्चाविद्याञ्च' इस **चौदहवें** (का० ११) **मन्त्र** के भाष्य में इस रहस्य का विवेचन किया गया है कि अविद्या शब्द से अग्निहोत्रादिकर्म कहे गये हैं। उनके अनुष्ठान से स्वाभाविक काम-कर्म और ज्ञान जो 'मृत्यु' शब्द के वाच्य हैं, उनको पार करके देवताज्ञान (उपासना) से देवभावरूप अमृत को प्राप्त हो जाता है। यह **'सम-समुच्चय'** की दृष्टि से अर्थ है। जब विद्या का अर्थ ब्रह्मात्मज्ञान मान्य हो तब **'सम-समुच्चय'** की दृष्टि से पहले कर्मानुष्ठान से अन्तःकरण की शुद्धि और फिर ब्रह्मात्मज्ञान से मोक्षोपलब्धि फल मान्य है।

'क्रम-समुच्चय' की दृष्टि से अविद्या का अर्थ 'कर्म' और विद्या का अर्थ 'आत्मज्ञान' मान्य है। कर्मयोग अन्तःकरण को संस्कृतकर आत्मा के अकर्तृत्व-अभोक्तृत्व के बोध की सहिष्णुता अभिव्यक्त करता है। जिससे स्वाभाविक काम (विषयेच्छा), कर्म (कर्तृत्वपूर्वक प्रवृत्ति) और ज्ञान–(साध्य-साधनानुसन्धानपूर्वक द्वैतस्फुरण) रूप मृत्यु का अतिक्रमण हो जाता है और ब्रह्मात्मज्ञान के अमोघ प्रभाव से कर्तृत्व भोक्तृत्वादि शून्य आत्मा ('त्वं' पद लक्ष्यार्थरूप शोधित अहमर्थ) की ब्रह्मरूपता के बोध से अमृत (ब्रह्मात्मरूप से अवस्थितिरूपा मुक्ति) की उपलब्धि होती है। साध्य-साधन की कामना मृत्यु है। इस मृत्यु से पार हुए व्यक्ति ब्रह्मविद्या का अधिकारी है। पहले नित्यकर्मरूप अविद्या का आलम्बन लेने से व्यक्ति का अन्तःकरण शुद्ध होता है। कामचार, कामवाद, कामभक्षण आदि स्वाभाविक प्रवृत्ति ही अशुद्धि है। भगवदर्थ निष्कामभाव से स्वकर्मानुष्ठान से अन्तःकरण संस्कृत होता है, फिर ब्रह्मविद्या की उपलब्धि से जीव का परमकल्याण होता है। यह क्रम-समुच्चय है। ज्ञानोत्तर कर्म अकर्म हो जाता है, अतः कर्मोत्तर ज्ञान का अधिकार प्राप्त है।

'सम-समुच्चय' की दृष्टि से विद्या (ज्ञान) का अर्थ देवतोपासना है और कर्म का अर्थ स्व-अधिकारानुसार प्राप्त अग्निहोत्रादिकर्म है। दोनों के सहानुष्ठान से अविद्यारूप कर्म द्वारा स्वाभाविक कर्म-ज्ञानरूप मृत्यु की निवृत्ति और विद्यारूप देवलोक से ब्रह्मलोकपर्यन्त दिव्यलोकों की प्राप्ति होती है। लोकलय से भूतलय तक दिव्यलोकों की प्राप्ति आपेक्षिक अमृतत्व है।

इस प्रकार उपनिषत् शब्द में प्रयुक्त सद्‌धातु का विशरण (हिंसन, निवारण) और गतिरूप अर्थद्वय उक्त क्रम-समुच्चय में अविद्या

की निवृत्ति और उससे उपलक्षित तत्त्वोपलब्धि के कारण चरितार्थ होता है। सम-समुच्चय में पुनः-पुनः जन्म-मृत्यु-जरा-व्याधिरूप क्लेश का अवसादन-अर्थ चरितार्थ हो जाता है।

इस सम्बन्ध में यह हृदयङ्गम करना आवश्यक है कि कर्मकाण्ड परक श्रुतियाँ मुक्त स्वर से आत्मा को कर्ता-भोक्ता मानती हैं। देह को अनित्य और आत्मा को नित्य मानकर ही ऐसा मानना सम्भव है। देहातिरिक्त नित्य आत्मा को न मानने पर अकृताभ्यागम और कृत विप्रणाशरूप दोषद्वय अनिवार्य है। इसके वारण के लिये आत्मा को नित्य मानना ही चाहिये। कर्ता-भोक्ता जीव का अनुवादकर उसकी अद्वितीय परब्रह्मरूपता के प्रतिपादन में सभी उपनिषदें चरितार्थ होती हैं। फिर भी पूर्वमीमांसा की रीति से **'आत्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति'** (बृ० उ० २.४.५) आत्मा की परं प्रेमास्पदता अनुभवसिद्ध है। श्रुति इस संसारी आत्मा का अनुवाद करती है, **'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः'** (बृ० उ० २.४.५)यह श्रुति उसी को द्रष्टव्य, श्रोतव्य, मन्तव्य और ध्यातव्य बताती है। **'य आत्माऽपहत पाप्मा'** (छा० ८.७.१) इन वाक्यों के द्वारा यद्यपि ऐसा ध्वनित होता है कि आत्मा अकर्ता, अभोक्ता, असंसारी है; पर वस्तुस्थिति यह है कि कर्ता-भोक्ता संसारी आत्मा की स्तुति ही इन वाक्यों से की गयी है, उसमें उपनिषदों का तात्पर्य कदापि नहीं, अतः आत्मज्ञान कर्तृसंस्कार के द्वारा क्रतु का ही अङ्ग है, स्वतन्त्र पुरुषार्थ नहीं। औपनिषद् आत्मज्ञानरूप संस्कार से संस्कृत कर्ता पारलौकिक कर्मोपभोग के योग्य होकर वैसे ही क्रतु का अङ्ग हो जाता है, जैसे प्रोक्षणरूप संस्कार से संस्कृत व्रीहि। परमाचार्य ने कहा भी है—**'द्रव्यसंस्कारकर्मसु परार्थत्वात्फलश्रुतिरर्थवादः'** (जै० सू० ४.३.१)=''पर्ण आदि द्रव्य, अञ्जनादिरूप संस्कार और प्रयाजादिरूप अङ्ग—कर्म—ये सभी परार्थ (याग के अंग) हैं, स्वतन्त्र फलाकाङ्क्षा से रहित हैं, अतः इनके फलों का निर्देश करनेवाले **'यस्य पर्णमयी जुहूर्भवति न स पापं श्लोकं शृणोति'** (तै० सं० ३.५.७.२), **'यदाङ्क्ते चक्षुरेव भ्रातृव्यस्य वृङ्क्ते'** (तै० सं० ६.१.१.५), **'वर्म वैतद् यज्ञस्य क्रियते यत्प्रयाजानुयाजा इज्यन्ते'** (तै० सं० २.६.१.५) वाक्य अर्थवादमात्र हैं।''

केवल उक्त वाक्य-प्रमाण के द्वारा ही नहीं, अपि तु **'यदेव विद्यया करोति श्रद्धयोपनिषदा-तदेव वीर्यवत्तरं भवति'** (छा० १.१.१०)

इस तृतीया श्रुति से भी आत्मज्ञान में क्रत्वङ्गत्व सिद्ध है। **'यत्', 'तत्'** रूप सर्वनाम और **'एव'** रूप अवधारण के द्वारा यह श्रुति उद्गीथ विद्या के अतिरिक्त अन्यत्र भी **'यदेव कर्म विद्यया सहितं करोति, तदेव कर्म वीर्यवत्तरं भवति'** ऐसी सामान्य व्याप्ति द्वारा **'य एव धूमवान् देशः, स एव वह्निमान् भवति'** इस न्याय से चरितार्थ है। **'तं विद्या-कर्मणी समन्वारभेते'** (बृ० उ० ४.४.२), **'सत्येन लभ्यस्तपसा ह्येष आत्मा सम्यग्ज्ञानेन ब्रह्मचर्येण नित्यम्'** (मुण्डक ३.१.४) आदि वचन भी ज्ञान और कर्म के **'सम-समुच्चय'** के प्रतिपादक हैं। यह भी नहीं कहा जा सकता कि अङ्ग और अङ्गीरूप से ये चरितार्थ हो लेंगे; क्योंकि **दर्श-पूर्णमासगत आग्नेयद्वय, उपांशु, अग्नीषोमीय और ऐन्द्रद्वय-रूप छः** कर्मों के समान ये **'सम-प्रधान'** भी हो सकते हैं। औपनिषद आत्मज्ञान इसलिये भी कर्माङ्ग हो सकता है, क्योंकि वेदार्थ ज्ञानवाले पुरुष के प्रति ही कर्म का विधान है और औपनिषद आत्मा भी वेदार्थ है। फिर **'कुर्वन्नेवेह कर्माणि'** (वा० सं० ४०.२) इस प्रकार कर्मानुष्ठान के नियम से भी आत्मज्ञान में कर्माङ्गत्व प्रतिष्ठित होता है।

उक्त कथन आपात रमणीय होने पर भी **सिद्धान्तसहिष्णु** नहीं है। शब्द प्रमाणका यह स्वभाव है कि अनधिगतार्थ का वह प्रतिपादन (विधान) करता है; अतः उपनिषत्प्रमाण से प्रतिपादित नित्य शुद्ध, असङ्गस्वरूप आत्मा का ज्ञान कर्मानुष्ठान का विरोधी होने के कारण कर्म से कोई सम्बन्ध ही नहीं रखता, फिर वह अव्यभिचरित क्रतु सम्बन्धी होकर क्रतु का अङ्ग क्यों होगा? **'योऽयं सर्पः सा रज्जुः'** की उक्ति जिस प्रकार रज्जु से सर्पभ्रमवारण के लिये है, उसी प्रकार **'य आत्माऽपहतपाप्मा'** (छा० ८.७.१) आदि उक्ति **'न वा अरे सर्वस्य कामाय सर्वं प्रियं भवत्यात्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति'** (बृ० उ० ४.५.६)आदि वचनों से निरूपित आत्मा के संसारित्व के वारण के लिये हैं, अनधिगत ब्रह्मत्व की ही प्रतिपादिका हैं। याज्ञवल्क्यादि के संन्यास का प्रतिपादन करनेवाली श्रुतियाँ आत्मविद्या को कर्माङ्ग नहीं सिद्ध करतीं। **'सत्येन'** आदि श्रुतियाँ अपक्व विद्या की स्थिति में ही कर्म की स्वीकृति देती हैं। **'कुर्वन्नेवेह कर्माणि'** आदि कर्माधिकारपरक वचन **'क्रम-समुच्चय'** विधा को या सकामी के लिये आत्मज्ञान के अधिकार को द्योतित करते हैं। **'यदेव विद्यया करोति'** (छा० १.१.१०) यह आदि प्रशंसा भी केवल प्रकृत उद्गीथ विद्या का उत्कर्ष सिद्ध करती है, जिस प्रकार

'सर्वे ब्राह्मणा भोज्यताम्' यह वचन केवल निमन्त्रित ब्राह्मणको ही विषय करता है। जनकादि तत्त्वज्ञों के जीवन में कर्मयोग कृतार्थता का हेतु न होकर अग्नि में पिङ्गलता की विद्यमानता दाह के प्रति अन्यथासिद्धतुल्य है। **'तं विद्याकर्मणी'** (बृ० ४.४.२) यह उत्क्रमण-श्रुति उत्क्रमण का प्रतिपादक होने के कारण ही 'विद्या' को निरङ्कुश-बोधरूप ब्रह्मविद्या नहीं सिद्ध होने देती।

'वायुरनिलममृतमथेदं' इस पन्द्रहवें (का० १७) मन्त्र के भाष्य में इस तथ्य को द्योतित किया गया है कि उपासना के योग से ही उपास्यस्मृति लब्धयोगी प्रार्थना करता है। देवतोपासना और कर्मानुष्ठान से संस्कृत वायु अर्थात् प्राणवायु से उपलक्षित कर्तृ-करणात्मक सूक्ष्मशरीररूप अध्यात्म अब सूत्र और हिरण्यगर्भरूप अधिदैव-सायुज्य को प्राप्त हो ! प्राणविरहित स्थूल शरीर अन्त्येष्टि संस्कार से सम्पन्न होकर भस्मरूपता को प्राप्त हो ! 'ॐ' यह ब्रह्म-नाम है। योगिवृन्द ब्रह्मबुद्धि से इसकी भावना करते हैं। हे ओम् ! हे संकल्पात्मक देव ! हमने ब्रह्मचर्यादि आश्रमों में आप ब्रह्मात्मक अग्नि की उपासना की है। आदरपूर्वक आपसे प्रार्थना करते हैं कि आप हमारी उपासना का स्मरण कर अपना सायुज्य प्रदान करें—हिरण्यगर्भ और वैश्वानररूप कार्यब्रह्म की प्राप्ति का बानक बना दें !

'अग्ने नय सुपथा राये' इस सोलहवें (काण्व० १८) मन्त्र की व्याख्या का अभिप्राय यह है—'हे अग्ने ! आप सम्पूर्ण कार्यात्मक जगत् को व्याप्त करनेवाले दिव्यदर्शी अभयप्रद हिरण्यगर्भस्वरूप देव हैं। देवयान मार्ग सुपथ है। हम मुक्तिरूप धन के इच्छुक हैं। हमें सुपथ से ले जाकर समुच्चयानुष्ठान से प्राप्य अभीष्ट मुक्तिरूप फल को आप प्राप्त करा दें ! दक्षिण पितृयानमार्ग से हम उपराम हो चुके हैं। हमें नहीं चाहिये पुनर्जन्म पर्यवसायी वह धूममार्ग। आप सम्पूर्ण ज्ञान (उपासना) और कर्मों को जाननेवाले हैं। कल्याणमार्ग के प्रतिबन्धक दुरितों को दूर कर दें ! जिसके फलस्वरूप हम अभीष्ट लोक को प्राप्त कर सकें। हम इस समय आपकी किसी अन्य रीति से सेवा नहीं कर सकते, केवल बार-बार नमस्कार ही निवेदित करते हैं।

'हिरण्मयेन पात्रेण' इस अन्तिम (माध्यन्दिनीय)-**सत्रहवें** (का० १५) मन्त्र की व्याख्या में, सर्वभूतहृदय स्वामिपादने यह रहस्य प्रकाशित किया है कि ज्योतिर्मयमण्डलरूप पात्रसे आदित्यान्तर्गत

अविनाशी पुरुषरूप सत्य का मुख—शरीर—स्वरूप आच्छादित है। वह प्राण और प्रज्ञाशक्ति से जगत् को व्याप्त कर शरीर में प्रतिष्ठित रहनेवाला और पुरुषाकार होने से 'पुरुष' कहा जाता है। अन्त में पूर्ववत् ध्यान करे कि 'ऐसा पुरुष मैं हूँ'। आकाशवत्—व्यापक ब्रह्म 'ॐ' है।

३. परिशिष्टप्रणयन —

"पयोव्रतं ब्राह्मणस्य यवागू राजन्यस्यामिक्षा वैश्यस्य", "ब्राह्मणो यजेत", "अष्टवर्षं ब्राह्मणमुपनयीत तमध्यापयीत, एकादशवर्षं राजन्यं द्वादशवर्षं वैश्यम्', 'वसन्ते ब्राह्मणोऽग्नीनादधीत' (तै०ब्रा० १.१.२.६) इत्यादि श्रुतियों के अनुसार जन्मनियन्त्रित वर्ण और वर्णनियन्त्रित आश्रम की शास्त्रीय प्रथा है। तदनुसार ही **'ईशा वास्यं'** इस प्रथम मन्त्र के **'तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः'** इस अंश की व्याख्या के सन्दर्भ में श्रीस्वामिपाद ने ब्राह्मण का ही सलिङ्ग संन्यास में अधिकार सिद्ध किया है। इस अंश को परिशिष्ट के प्रारम्भ में ग्रथित किया गया है। श्रीवार्तिककार सुरेश्वर के मत को त्रैवर्णिक सलिङ्ग-संन्यासपरक जो महानुभाव मानते हैं, उनके मत में छह दोषों की प्राप्ति होती है, जिनका दिग्दर्शन टिप्पणी ११८, पृ० १६३, १६४ में कराया गया है।

'परिशिष्ट' के अन्त में श्रीपूज्यचरणों द्वारा विरचित **'शाङ्कर सिद्धान्त पर किये गये आक्षेपों का समाधान'** नामक ग्रन्थ (श्रीसंवत् १६६४ वि०) से **'विद्याऽविद्यादि तत्त्वमीमांसा'** द्वितीय निबन्ध भी गुम्फित किया गया (द्रष्टव्य पृ० २२२–२३४), जोकि सहृदय और सत्यसहिष्णु प्रामाणिक विचारकों के लिये परमोपयोगी है।

'परिशिष्ट' के मध्यमें (१) **'पूषन्नेकर्षे यम !'** इस काण्वशाखीय अतिरिक्त सोलहवें मन्त्र का भाष्य श्रीभगवत्पाद शङ्कर, श्रीसायण और श्रीशङ्करानन्द के अनुसार चित्रित किया गया है (पृ० २०१-२०३)। **'मुक्तिकोपनिषत्'**के अनुसार**'ऋग्वेदादि विभाग से शांतिपाठ'**को यथाक्रम सङ्कलित किया गया है (पृ० २०४)। **'ईशा वास्योपनिषत्'** से सम्बन्धित शांतिमंत्र**'पूर्णमदः'** का भगवत्पाद आद्य शङ्कराचार्य के अनुसार (बृ० उ० ५.१.१) भाष्य भी सानुवाद सङ्कलित किया गया है (पृ० २०५-२१६)।

काण्वशाखीय सस्वर पाठ भी यथाक्रम दिया गया है (पृ० २१६-२२१)।

उद्‌धृत वचनों के अर्थ और स्थल तथा १२३ मार्मिक टिप्पणियों से समलङ्‌कृत सानुवाद यह **‘वेदार्थ पारिजात’** नामक **उपनिषद्‌भाष्य** जिज्ञासुओं, भगवद्‌भक्तों विरक्तों, धर्मशीलों, सन्तों, सद्‌गृहस्थों और तत्त्वदर्शियों तथा विद्वानों के लिये अनुशीलन करने योग्य है।

इस भाष्य में **ईशादि** मन्त्रों पर श्रीस्वामी दयानन्दजी के अर्थों का अद्‌भुत दक्षता और प्रामाणिकता से निराकरण किया गया है। बारहवें, तेरहवें और चौदहवें मन्त्रों पर स्वामी श्रीदयानन्द जी के अर्थों को १४ वें मन्त्र की व्याख्या के प्रसङ्ग में पृष्ठ ११३ और ११४ पर एक साथ उद्‌धृत कर उनकी निःसरता सिद्ध की गयी है।

४. अभिनन्दन —

पूज्य चरणों के हस्तलेख को समझने, समझकर उतारने, भाष्यगत भावों को हृदयङ्गम कर अनुवाद करने और स्थल-स्थल पर परमोपयोगी टिप्पणी गुम्फित करने, स्थलनिर्देश देने और पुनरीक्षणादि में अधिकृत महानुभावों ने पूर्ण सतर्कता का परिचय दिया है। फिर भी ज्ञात-अज्ञात में जो भी त्रुटि रह गयी है, उसका आरोप ग्रन्थकार-श्रीहरि-स्वामिपाद पर न करें, यह सहृदय विज्ञ पाठकों से अनुरोध है। श्रीहरि-गुरु-करुणा के अमोघ प्रभाव से ही इस प्रकार का दायित्वपूर्ण और दुरूहकार्य सम्पन्न हो सका है।

पूज्यचरण अनन्त श्रीविभूषित जगद्‌गुरु **शङ्कराचार्य स्वामी निरञ्जनदेव तीर्थ जी** महाराज (पुरी) ने अद्‌भुत आह्लाद के साथ अनुरोध के अनन्तर ही श्लोकबद्ध **‘भूमिका’** रच कर हमें प्रोत्साहित और प्रमुदित किया है। पूज्यवर विरक्तशिरोमणि विद्वद्वर्य परमहंस **स्वामी श्रीवामदेवजी** महाराज ने **‘भाष्यानुवाद’** सम्पन्न कर हमें आह्लादित किया है। श्रद्धेय **स्वामी श्रीचिन्मयानन्द सरस्वती जी** महाराज ने ‘परिशिष्ट’ के अन्तिम चरण की ‘प्रेस कापी’ सुघटित कर और ‘प्रूफ-रीडिंग’ में सोत्साह सहयोग समर्पित कर हमें स्निग्ध किया है। श्री पं० **सच्चिदानन्द द्विवेदी जी** ने मूल भाष्य की ‘प्रेस कापी’

प्रस्तुत कर हमें प्रसन्न किया है। **श्री डा० शशिधर शर्मा** सप्ताचार्य (चण्डीगढ़) ने 'भूमिका' का हिन्दी अनुवाद और 'श्रीकरपात्राष्टकम्' रचकर हमें प्रफुल्लित किया है। **श्री डा० नरेन्द्र शर्मा** (मुजफ्फर नगर) ने 'भूमिका' और 'श्रीकरपात्राष्टकम्' का 'आंग्ल-अनुवाद' प्रस्तुत कर हमें आह्लादित किया है। **श्रीगिरिराज जी** ने जिस धृत्युत्साह के साथ सुन्दर और यथा संभव शुद्ध मुद्रण प्रस्तुत किया है, वह सराहनीय है। **श्रीहनुमान्प्रसाद धानुका जी** इसी भगवत्प्रदत्त श्रद्धा और उदारता के साथ स्वामिपाद के साहित्य सदा प्रकाशित करते रहें, यह भावना है।

आनन्द वेदविद्याकेन्द्र वृन्दावन
होली, २०४३

निश्चलानन्द सरस्वती

श्रीहरिः

प्रकाशकीय

अनन्त श्रीविभूषित पूज्यपाद प्रातः स्मरणीय स्वामी श्री करपात्री जी महाराज द्वारा लिखित यजुर्वेद संहिता के प्रथम अध्याय का भाष्य त्रिजयदशमी को प्रकाशित हुआ था। उसके बाद अब चालीसवें अध्याय का भाष्य प्रकाशित हो रहा है। यह अन्तिम अध्याय वेदान्त होने से बहुत महत्त्वपूर्ण है। यह **'ईशा वास्योपनिषत्'** से प्रसिद्ध है। इसकी प्रसिद्धि के कारण ही इसे पहले प्रकाशित किया जा रहा है।

प्रथम अध्याय जिन-जिन सन्तों-विद्वानों तथा देश के उच्च शिक्षाविदों अधिकारियों के करकमलों में पहुँचा है, उनको अपार हर्ष हुआ है। इससे अत्यन्त प्रभावित होकर पूज्य श्रीस्वामी जी महाराज के अवशिष्ट भाष्य को शीघ्र प्रकाशित करने की सत्प्रेरणा प्राप्त होती रहती है। यह इतना महत्त्वपूर्ण कार्य है जो होना आवश्यक है, परन्तु साथ में यह इतना बड़ा काम है कि भगवान् और पूज्य श्रीस्वामी जी महाराज की कृपा से ही सम्भव है।

ईशावास्योपनिषत् भाष्य का हिन्दी अनुवाद विरक्त शिरोमणि विद्वद्वर्य पूज्य श्रीस्वामी वामदेवजी महाराज की अहैतुकी कृपा से सम्पन्न हुआ है। पूज्य श्रीस्वामी निश्चलानन्द सरस्वतीजी महाराज ने सभी तरह से बहुत तत्पर रहकर इस प्रकाशन कार्य को पूर्ण किया है।

इस भाष्य की भूमिका लेखक के रूप में, हिन्दी अनुवाद के रूप में, समय-समय पर उचित परामर्श दाता के रूप में, प्रूफ पुनरीक्षण कर्ता के रूप में, प्रेस कापी तैयार करने वाले के रूप में. अनुच्छेद साधक (पैरा ग्राफ निर्धारक) के रूप में और प्रकाशन सम्बन्धी सभी साज-सज्जाओं को तैयारकर इस अमूल्य ग्रन्थरत्न को सबके सम्मुख

प्रस्तुत करनेवाले के रूप में जिन-जिन महानुभावों ने अपनी अहैतुकी कृपा से इस कार्य को सम्पन्न किया है, वे सभी हमारे परम सम्माननीय पूज्य आचार्य विद्वन्मूर्धन्य आत्मीय हैं।

इन सभी के चरणों में धन्यवाद और अभिनन्दन के स्वरूप नत मस्तक होकर हम सदा ही कृपा की आशा रखते हैं। जिनके चरणों में धन्यवाद प्रस्तुत करते हैं वे हैं—

(१) अनन्त श्रीविभूषित श्रीमज्जगद्गुरु शङ्कराचार्य गोवर्धन पीठाधीश्वर श्रीस्वामी निरञ्जनदेवतीर्थ जी महाराज (पुरी)

(२) विरक्त शिरोमणि पूज्य परमहंस श्रीस्वामी वामदेव जी महाराज (वृन्दावन)

(३) श्रीस्वामी निश्चलानन्द सरस्वतीजी महाराज (वृन्दावन)

(४) श्री पं. राजवंशी द्विवेदी जी महाराज (वृन्दावन)

(५) श्री पं० मार्कण्डेय जी ब्रह्मचारी (वाराणसी)

(६) श्री पं० सच्चिदानन्द द्विवेदी जी (वृन्दावन)

(७) श्री डा० गिरीश शर्मा जी (वाराणसी)

श्री हरिनाम प्रेस के सुयोग्य विद्वान् प्रबन्धक तथा सहृदय कर्मचारियों के स्नेहपूर्ण सौजन्य भरे मुद्रणादि कार्य के सहयोग सम्पादन को स्मरण कर इन्हें बहुत-बहुत धन्यवाद देते हैं।

निवेदक —
हनुमानप्रसाद धानुका
अध्यक्ष
श्रीराधाकृष्ण धानुका प्रकाशन
संस्थान।

श्रीहरिः

वाजसनेयि-माध्यन्दिन-शुक्ल यजुर्वेदसंहिता
चत्वारिंशोऽध्यायः

ईशा वास्योपनिषत्

विषयानुक्रमणिका

❁ भूमिका............पूज्य जगद्गुरु शंकराचार्य अनन्त श्रीविभूषित श्रीस्वामी निरञ्जनदेव तीर्थ जी (पुरी)

❁ श्रीकरपात्राष्टकम्....महामहोपाध्याय डा० श्रीशशिधर शर्मा जी (चण्डीगढ़)

❁ दिग्दर्शन..........स्वामी श्रीनिश्चलानन्द सरस्वती जी

❁ प्रकाशकीय........श्रीहनुमान् प्रसाद धानुका जी

मन्त्र सं० मन्त्र प्रतीकानि	विषयाः	पृष्ठ सं०
१. ईशा वास्यमिदं सर्वं	आत्मज्ञाननिष्ठतया आत्मरक्षणोपदेशः	१-२१
२. कुर्वन्नेवेह कर्माणि	असंस्कृत चित्तं कर्मठं प्रति उपदेशः	२१-३३
३. असुर्या नाम ते लोकाः	कर्ममार्ग एव श्रेयः साधनमिति विपर्यासमतीनां निन्दा	३३-३६
४. अनेजदेकं मनसो जवीयः	आत्मतत्त्वं, यस्य हननादविदुषां	३७-४६
५. तदेजति तन्नेजति	बन्धनं विदुषाञ्च मुक्तिः	४६-५०
६. यस्तु सर्वाणि भूतान्या०	आत्मतत्त्वे रतिः कथं जायते ?	५०-५३
७. यस्मिन्सर्वाणि भूतान्या०	,, ,,	५४-५६
८. स पर्यगाच्छुक्रमकाय०	आत्मा स्वेन रूपेण किं लक्षणम् ?	५७-६७
९. अन्धन्तमः प्रविशन्ति येऽसं०	व्याकृताव्याकृतोपासनयोः पृथगुपासने निन्दा समुच्चिचीषया	६७-७२

१०. अन्यदेवाहुः संभवाद०	अनयोः उपासनयोः पृथगनुष्ठाने फलभेदः	७३-७४
११. सम्भूतिञ्च विनाशञ्च	अनयोः समुच्चयानुष्ठाने फलातिशयः	७४-८१
१२. अन्धन्तमः प्रविशन्ति येऽविद्या०	ज्ञानकर्मणोः पृथगनुष्ठानस्य निन्दा समुच्चिचीषया	८२-९१
१३. अन्यदेवाहुर्विद्यायाः	विद्याऽविद्ययोः पृथक् फल-प्रसक्तिप्रदर्शनम्	९२-९३
१४. विद्याञ्चाविद्याञ्च	तयोः विद्याऽविद्ययोः समुच्चयानुष्ठानम्	९३-११९
१५. वायुरनिलममृतमथेदं	उपासकस्य स्वभरणावस्था-प्रार्थनम्	११९-१२२
१६. अग्ने नय सुपथा राये	उपासकस्य पुनः मार्ग-प्रार्थनम्	१२२-१२४
१७. हिरण्मयेन पात्रेण	विद्याविद्यादिदेवताज्ञानकर्मणोः समुच्चयानुष्ठाने अमृतमार्ग प्राप्तिः	१२५-१२८

परिशिष्टानि

❀ संन्यासाश्रमः १२९-२०१

❀ पूषन्नेकर्षे यम ! (काण्व १६) उपास्य तेजः पुञ्जेन प्रतिहता अस्मदीया दृष्टिः, अतः तत्तेजसः अपनयने प्रार्थना २०१-२०३

❀ ऋग्वेदादि विभागेन शान्तिपाठः २०४

❀ पूर्णमदः पूर्ण मिदं २०५-२१६

❀ काण्वशाखानुसारमुपनिषन्मत्राणां पाठः २१६-२२१

❀ विद्याऽविद्यादितत्त्वमीमांसा २२२-२३४

ॐ

श्रीहरिः

वाजसनेय - माध्यन्दिन
शुक्ल-यजुर्वेद - संहिता
वेदार्थपारिजाताख्यभाष्य-विभूषिता
चत्वारिंशोऽध्यायः

ईशावास्योपनिषत्
करपात्र-भाष्यम्

इत्थं दर्शपौर्णमासादि प्रवर्ग्यान्तेषु विविधेषु कर्मसु विनियुक्ताः 'इषे त्वा' इत्यादयो 'द्यावापृथिवीभ्यां स्वाहे'त्यन्ता मन्त्राः कर्मकाण्ड-परत्वेन व्याख्याताः । यद्यपि तत्र तत्रानेके मन्त्रा ब्रह्मप्रतिपादका अपि सन्ति तथापि तत्तद्विनियोगवशात् तेषामन्यशेषत्वेन न ब्रह्मपरत्वम्, तत्प्रधानान्यतत्प्रधानेभ्यो बलीयांसीतिन्यायेन तेषामतत्प्रधानत्वेन द्वैतपराणां प्रत्यक्षानुमानागमानाम्बाधने सामर्थ्याभावात् । ईशा वास्य-मित्यादयस्तु मन्त्राः कर्मण्वविनियुक्ताः, श्रुतिलिङ्गादिविनियोजकप्रमा-

---

वाजसनेयसंहिता अध्याय ४०

विनियोजक प्रमाणानुसार दर्शपूर्णमास से लेकर प्रवर्ग्यान्त अनेक-विधकर्मों में विनियोगवाले "इषे त्वा" इत्यादि तथा "द्यावापृथिवीभ्यां स्वाहा" पर्यन्त मन्त्र कर्मकाण्ड के बोधकरूप से भाष्य के द्वारा व्याख्यात कर दिये हैं। यद्यपि उन-उन कर्मों के प्रकरण में भी अनेक मन्त्र ब्रह्म के प्रतिपादक हैं, तथापि उन-उन मन्त्रों के विनियोजक प्रमाण के बल से कर्म का अङ्ग होने से उन मन्त्रों को मुख्य (प्रधान)

णासत्त्वात्, यन्नैवं तन्नैवं यथा इषे त्वादयः। न च मन्त्रत्वादिषे त्वादिवत्तेषामपि कर्मशेषत्वमनुमातव्य[1]**मिति वाच्यम्, तत्र विनियोजकप्रमाणसत्त्वस्योपाधित्वात्। इषे त्वादौ "इषे त्वेति शाखां छिनत्ति" इति विनियोजकप्रमाणसत्त्वे साध्यव्यापकत्वम्, ईशा वास्यादौ**[2] **मन्त्रत्वे सत्यपि विनियोजक प्रमाणासत्त्वेनोपाधेः साधनाव्यापकत्वात्। ननु श्रौत**

रूप से ब्रह्मबोधकता नहीं। क्योंकि "तत्प्रधान प्रमाण, अतत्प्रधान प्रमाणों से बलवान होते हैं", इस न्याय के अनुसार कर्मप्रकरण में पठित ब्रह्मबोधकमन्त्रों को अतत्प्रधानता होने से द्वैतबोधक प्रत्यक्ष, अनुमान तथा आगम के बाध करने में सामर्थ्य नहीं है। **"ईशा वास्यं"** इत्यादिक मन्त्र तो कर्म में विनियुक्त हैं नहीं, क्योंकि उनका कर्म में विनियोग करनेवाला कोई प्रमाण ही नहीं। जो कर्म में विनियोजक प्रमाण से शून्य नहीं, वह कर्म में अविनियुक्त भी नहीं, जैसे **"इषे त्वा"** इत्यादि मन्त्र। मन्त्रत्वरूप हेतु से 'इषे त्वा' इत्यादिक मन्त्रों के समान ईशावास्यादि मन्त्रों में भी कर्मशेषता अनुमान कर लेनी चाहिये, यह कहना भी उचित नहीं, क्योंकि उक्त अनुमान में 'विनियोजक प्रमाण की विद्यमानता' उपाधि है। इस अनुमान में साध्य कर्मशेषत्व है, **'इषे त्वा'** इत्यादिक मन्त्रों में **'इषे त्वा शाखां छिनत्ति'** इस विनियोजक प्रमाण की विद्यमानता होने से उक्त उपाधि में साध्य-व्यापकता है तथा ईशावास्यादि मन्त्रों में मन्त्रत्व विद्यमान होने पर भी विनियोजक प्रमाण की अविद्यमानता होने से साधनाव्यापकत्व भी है।

---

१. ईशा वास्यमित्यादयो मन्त्राः कर्मशेषा मन्त्रत्वाविशेषादिषे त्वादिमन्त्रवत्।

२. इषे त्वेति शाखां छिनत्तीत्यादिवद्विनियोजकप्रमाणादर्शनात्प्रकरणान्तरत्वाच्चेत्यर्थः।

विनियोगाभावेऽपि 'वर्हिर्देवसदनं[3]दामी' त्यस्य (मै.सं.१.१.३)वर्हिर्लवन-प्रकाशनसामर्थ्यरूपेणलिङ्गेन बर्हिर्लवने विनियोगः तथा कर्मशेषात्म-प्रकाशनसामर्थ्येन कर्मस्वेषां विनियोग इति चेन्न,तेषामकर्मशेषस्यात्मनो-शुद्धबुद्धमुक्तैकत्वाकर्तृत्वादियाथात्म्यप्रतिपादकत्वेन तदसंभवात्। ननु एवं कर्मणः कर्तृभोक्तृसाकांक्षत्वेन तदपेक्षितात्मप्रतिपादनेन तेषामप्यस्तु कर्मशेषत्वमित्यपि न वाच्यम्, तेषां शुद्धत्वैकत्वापापविद्धत्वाशरीरत्वा-कर्तृत्वाभोक्तृत्वसर्वगतत्वादियाथात्म्यप्रतिपादकत्वेन कर्मविरुद्ध-त्वात्। यदि ह्याप्यः संस्कार्यः उत्पाद्यो विकार्यः कर्ताभोक्तोपासनोप-योगी प्रत्यग्भिन्नो देवतारूपोवात्मेह प्रतिपिपादयिषितः स्यात्तदाभवेदपि कर्मशेषता। न च तथेह, तस्मान्नकर्मशेषत्वमिति। न खलु नित्ये कूटस्थे नित्यप्राप्तेऽनाधेयातिशये स्वप्रकाशे चिदात्मनिकर्मकाण्डफलं चतुर्विधमुत्पत्तिविकारप्राप्तिसंस्कारलक्षणं सम्भवति।

शंका—'श्रौतविनियोग का अभाव होने पर भी जैसे बर्हिर्लवन प्रकाशन की सामर्थ्य रूप लिङ्ग से **'बर्हिर्देवसदनंदामि'** (मै. सं. १.१.३) इस मन्त्र का बर्हि (कुशा) छेदन में विनियोग है, उसी प्रकार कर्म का शेष (अङ्ग)—भूत आत्मा के स्वरूप के प्रकाशनसामर्थ्यरूप लिंगप्रमाण से ईशावास्यादि मन्त्रों का कर्म में विनियोग है,' यह कहना भी उचित नहीं; क्योंकि ईशावास्यादि मन्त्र कर्मों का अनङ्ग शुद्ध-आत्मा की शुद्धता-ज्ञानस्वरूपता-मुक्तता-एकता-अकर्तृत्वादि यथार्थ-स्वरूपता के प्रतिपादक हैं, अतः इनकी कर्मशेषता असंभव है। 'कर्म को कर्ता-भोक्ता आत्मा की अपेक्षा होने से कर्मसिद्धि के लिये अपेक्षित कर्ता-भोक्ता आत्मा का प्रतिपादन करने से ईशावास्यादिक मन्त्रों को भी कर्मशेषता हो', यह भी कहने योग्य नहीं; क्योंकि शुद्धता, एकता, पाप-पुण्यशून्यता, अशरीरता, अकर्तृता-अभोक्तृता, सर्वगततादिरूप आत्मा की यथार्थस्वरूपता का प्रतिपादन करने से ईशावास्यादि मन्त्रों का कर्म के साथ विरोध है। यदि प्राप्ति, संस्कार, उत्पत्ति तथा

---

३. वर्हिर्दर्भमुष्टिः। एकत्र संघीभूता मुष्टिपरिमिता अनेके दर्भा इति यावत्। दर्भाश्च कुशकाशादयो दशविधाः। न त्वन्ये तृणविशेषा उलपादयः ? सदनं स्थानम्। दामीत्यत्र दाप लवन इति धातुः। **लवनं छेदनम्। पुरोडाशस्थानभूतं बर्हिश्छिनद्मीत्यर्थः।**

ननु स्वाध्यायाध्ययन विधिगृहीतवेदराशेः कर्मपरत्वेनैव सार्थक्याज्ज्ञानकाण्डस्यैव बाधोयुक्तः, तदन्यथाऽनुपपत्या कर्तृभोक्तृनानात्मबोधनपरा एव इमे मन्त्रा इति चेन्न, अविद्याकृतमात्मनोऽनेकत्वकर्तृत्वभोक्तृत्वाशुद्धत्वपापविद्धत्वादीनि लोकसिद्धान्येवादायकर्मणां विधानसंभवे नान्यथोपपत्तेः ज्ञानकाण्डविरुद्धकर्तृत्वादिप्रतिपादने कर्मकाण्डबोधक वाक्यानामपि तात्पर्याभावात् । अत एव न सुन्दोपसुन्दन्यायेन परस्परव्याघातेनोभयाप्रामाण्यप्रसंगः, ब्रह्मात्मसाक्षात्कारात्प्राक्कर्मकाण्डस्य लब्धावकाशत्वेनोभयोः सामञ्जस्यात् । ब्रह्मात्मसाक्षात्कारात् प्राक्यो हि दृष्टेन ब्रह्मवर्चसादिनाऽदृष्टेन स्वर्गादिना कर्मफलेनार्थी सन्नहं द्विजाति कर्ताभोक्ताकर्माधिकारवानित्यात्मानं मन्यते तस्यैव कर्माधिकारान्न न हि अपेत ब्रह्मक्षत्रादिभेदस्य नभोवन्निष्क्रियस्य दुःखासंसर्गिणः परमानंदस्वभावस्य सुखं मे स्याद् दुःखं च माभूदित्यर्थित्वं संभवति ।

विकार के योग्य कर्ता-भोक्ता अथवा उपासना में उपयोगी प्रत्यक् आत्मा से भिन्न देवतारूप आत्मा इन मन्त्रों में प्रतिपादन करने को इष्ट होता तो मन्त्रों को कर्मशेषता भी हो जाती; परन्तु ईशावास्यादि मन्त्रों में तो आप्य, संस्कार्यादिरूप आत्मा का प्रतिपादन है नहीं, अतः कर्मशेषता भी नहीं । नित्य कूटस्थ, नित्यप्राप्त, अनाधेयातिशय, स्वप्रकाश चिदात्मा में उत्पत्ति-विकार-प्राप्ति तथा संस्काररूप चार प्रकार का कर्मकाण्ड का फल संभव नहीं है ।

शंका—'स्वाध्यायोऽध्येतव्यः' (श० ११.५.६.३) इस वेदाध्ययनविधि से गृहीतवेदसमुदाय का कर्म में तात्पर्य होने से ही उसकी सार्थकता होने से ज्ञानकाण्डका ही बाध उचित है, वेदसमुदायका कर्मबोधक रूप से सार्थक्य, और प्रकार से असिद्ध होने से ईशावास्यादिक मन्त्र कर्ता-भोक्ता नाना आत्मा के बोधन में ही तात्पर्यवाले हैं यह सिद्ध होता है; यह शंका भी उचित नहीं, अविद्याकृत आत्मा के अनेकत्व, कर्तृत्व-भोक्तृत्व, अशुद्धत्व, पापयुक्तत्व आदि धर्म, 'अहं कर्ताभोक्ता पापी' इत्यादि लौकिक अनुभव से सिद्ध हैं,इनलोकसिद्ध धर्मों को लेकर कर्मों का विधान संभव हो जाने से ज्ञानकाण्ड से विरुद्ध आत्मा में कर्तृत्वादि के प्रतिपादन करने में कर्मकाण्डबोधक वेदवाक्यों

नन्पनिषदां जपोपयोगित्वादन्यस्य प्रमाणस्य तादृशात्मन्यसत्त्वान्नास्त्येव नित्यशुद्धबुद्धमुक्तप्रत्यक्चैतन्याभिन्नाकर्त्रभोक्तृब्रह्मात्मतत्त्वमितिचेन्न, 'यत्परः शब्दः स शब्दार्थ' इतिमीमांसाप्रसिद्धन्यायविरोधेनोपनिषदां तात्पर्यनिर्णायकोपक्रमादिषड्विधलिंगैर्ब्रह्मात्मैक्ये तात्पर्यावधारणेन जपोपयोगित्वमात्रस्य वर्णयितुमशक्यत्वात्। तथाहि 'ईशावास्यमि'त्युपक्रम्य'स पर्यगाच्छुक्रमकायमि'त्युपसंहारात्,'अनेजदेकं', 'तदेजति तन्नैजति','तदन्तरस्य सर्वस्ये'त्यभ्यासदर्शनात् 'नैनद्देवाआप्नुवन् पूर्वमर्षत्' इत्यपूर्वता संकीर्तनात्, 'को मोहः कः शोक एकत्वमनु पश्यतः' इति फलवत्तासंकीर्तनात्, 'कुर्वन्नेवेहकर्माणि' इतिजिजीविषोर्भेददर्शिनः कर्मकरणानुवादेन 'असुर्या नाम ते लोका' इति निन्दयैकात्म्यदर्शनस्य संस्तुतत्वात्,'तस्मिन्नपो मातरिश्वा दधाती' तियुक्त्या सर्वद्रष्टुरधिष्ठानभूतस्य परमात्मनः प्रतिपादनादस्या उपनिषदस्ता-

---

का भी तात्पर्य नहीं है, क्योंकि वेद के बोधन बिना ही कर्ता-भोक्ता आत्मा लोक से ही सिद्ध है। वेद के किसी भाग का भी कर्ता-भोक्ता आत्मा के प्रतिपादन में तात्पर्य न होने से 'सुन्दोपसुन्दन्याय' से परस्पर विरोध होने से दोनों काण्डों के अप्रामाण्य की भी आपत्ति नहीं है; क्योंकि ब्रह्म से अभिन्न आत्मा के साक्षात्कार से पूर्व कर्मकाण्ड को अवकाश प्राप्त होने से दोनों ही काण्डों का सामञ्जस्य (अविरोध) है। ब्रह्मसाक्षात्कार से पूर्व जो पुरुष दृष्ट ब्रह्मवर्चसादि, अदृष्ट स्वर्गादि कर्मफल का इच्छुक हुआ 'मैं द्विजाति कर्ता-भोक्ता कर्म का अधिकार वाला हूँ,' ऐसा अपने को मानता है, उसी का कर्म में अधिकार होता है; अतः जिसका ब्राह्मणक्षत्रियादिक भेद समाप्त हो गया है, जो आकाश के समान निष्क्रिय परमानन्द स्वरूप है, उसको 'मुझे सुख हो, दुःख न हो' यह इच्छा ही संभव नहीं तो उसका कर्म में अधिकार कैसे ?

अन्य प्रमाण शुद्ध आत्मा में है नहीं, जप में उपयोगी होने से उपनिषदों को प्रमाण माना जा सकता नहीं, तब तो नित्य-शुद्ध-बुद्ध-मुक्त-प्रत्यक् चैतन्याभिन्न अकर्ता-अभोक्ता ब्रह्म आत्मतत्त्व ही नहीं, यदि ऐसा कहा जाय तो यह भी उचित नहीं, क्योंकि 'जिसमें शब्द का तात्पर्य होता है वही शब्द का अर्थ होता है' इस मीमांसाप्रसिद्धन्याय से उक्त कथन का विरोध है। तात्पर्य के निर्णायक उपक्रमादिषड्लिंगों

त्पर्येण प्रतिपादनं सिद्धमेव। एवमेवान्यासामप्युपनिषदामुपक्रमोपसंहारैकरूप्याभ्यासापूर्वताफलवत्तार्थवादयुक्त्युपपादनानि षट्तात्पर्यलिङ्गानि तत्र तत्र द्रष्टुं शक्यानि। तानिलिङ्गानि च

उपक्रमोपसंहारावभ्यासोऽपूर्वताफलम्।

अर्थवादोपपत्ती च लिङ्गं तात्पर्यनिर्णये। इति प्रसिद्धानि।

प्रत्ययान्तर[४]संवादोऽपि बलवत्वे[५]कारणंभवति, सर्वासामुपनिषदां गीतानां मोक्षधर्माणाञ्चैवं विधे ब्रह्मणि समन्वयादप्युपनिषदां बलवत्वेन स्वविरुद्धप्रत्यक्षानुमानागमानां बाधकत्वमेवोपचरितत्वं तु दूरोत्सारितम् प्रमाणान्तरानुपलम्भेऽपि नोपनिषदर्थः प्रत्याख्यातुं शक्यः,

---

के द्वारा उपनिषदों का ब्रह्मात्मा की एकता में तात्पर्य निर्णय हो जाने पर जपमात्र में उपयोग कैसे वर्णन किया जा सकता है ?

षड्लिङ्ग दिखाते हैं, **'ईशावास्यं'** इस से उपक्रम, **'स पर्यगात्'** इस वाक्य से उपसंहार, **'अनेजदेकं'** इत्यादि से अभ्यास, **नैनद्देवा आप्नुवन्'** इससे अपूर्वता, **'को मोहः कः शोकः'** इससे फलवत्ता, **'असुर्या नाम'** इत्यादि से भेददर्शीकी निन्दा से एकात्म्यदर्शन की स्तुतिरूप अर्थवाद **'तस्मिन्नपो मातरिश्वा'** इस वाक्य से युक्ति प्रदर्शन कर देने से एक अद्वितीय सर्वाधिष्ठान सर्वद्रष्टा परमात्मा का ही इस उपनिषद् ने तात्पर्य से प्रतिपादन किया है, यह सिद्ध हुआ। इसी प्रकार अन्य उपनिषदों के उपक्रम तथा उपसंहार की एकरूपता, अभ्यास, अपूर्वता, फलवत्ता, अर्थवाद तथा युक्ति का उपपादन रूप षट् तात्पर्य के निर्णायकलिङ्ग उन-उन स्थलों में देखे जा सकते हैं। वे लिङ्ग **'उपक्रमोपसंहारौ'** इस श्लोकवार्त्तिक में प्रसिद्ध हैं। प्रत्ययान्तरसंवाद भी बलवत्ता में कारण होता है। सर्व उपनिषद्, गीता तथा महाभारत के

---

४. प्रमाणतौल्यं तुल्यप्रमाणमिति यावत्

५. तत्र तावत्प्रत्ययो मन्त्राः कर्मशेषा इति, ममत्वशेषा इति, तत्र मदीयप्रत्ययस्य बलवत्त्वे इत्यर्थः।

इन्द्रियान्तरेणानुपलभ्यमानत्वेऽपि चक्षुषोपलभ्यमानस्य रूपस्य नापलापो यथा तथा प्रमाणान्तरैरनुपलभ्यमानत्वेऽपि वेदान्तैरुपलभ्यमान आत्मा नापलापमर्हति —

समं सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्तं परमेश्वरम् ।
विनश्यत्स्वविनश्यन्तं यः पश्यति स पश्यति ।।

(भगवद्गीता १३.२७)

एक[६] एव हि भूतात्मा भूतेभूते व्यवस्थितः ।
एकधा बहुधाचैव दृश्यते जलचन्द्रवत् ।।

इति गीतायां मोक्षधर्मे च वचनात् ।

किंच यथा 'न हिंस्यात्सर्वाभूतानि' (महा०शान्ति० २७८.५, वन० २१२।३२) इतिनिषेधशास्त्रार्थनिश्चयवतः श्येनादिविधेरप्रामाण्यमेव, यथा च तीव्रक्रोधाक्रान्तस्वान्तं प्रत्येव श्येनादिविधेः प्रामाण्यम्, तथैवौ-

---

मोक्षधर्म का भी एक अद्वितीय सर्वद्रष्टा सर्वाधिष्ठान ब्रह्म में समन्वय[७] है। अतः उपनिषदों को ही बलवान् प्रमाण होने से, अपने से विरुद्ध भेदप्रतिपादक (बोधक) प्रत्यक्ष, अनुमान तथा आगम को बाध करने का सामर्थ्य है। उपनिषदों का उपचरितत्व तो दूर से त्यक्त है। उपनिषदों से अतिरिक्त अद्वैत का बोधक प्रमाणान्तर न उपलब्ध होने पर भी उपनिषदों का यह अर्थ किसी प्रकार नहीं त्यागा जा सकता। जैसे चक्षु से अतिरिक्त इन्द्रिय से अप्रतीयमान भी चक्षुइन्द्रिय से प्रतीयमानरूप का अपलाप नहीं होता उसी प्रकार प्रमाणान्तरों से अप्रतीयमान होने पर भी वेदान्तों से प्रतीयमान आत्मा अपलाप के योग्य नहीं **'समं सर्वेषु'**– 'जो समस्त प्राणियों में समभाव से स्थित (व्याप्त) परमात्मा को

---

६. ब्रह्मविन्दूपनिषत् १२, त्रिपुरातापिन्युपनिषत् ५.१२, पञ्चदशी १५.७

७. उपक्रमोपसंहारादि षड्विधलिङ्गों के द्वारा केनादि उपनिषत्, भगवद्गीता, मोक्षधर्म और विष्णुपुराणादिका परमतात्पर्य सर्वाधिष्ठान परमतत्त्व में ही परिलक्षित होता है; अतः 'ईशादि' मंत्रों का जो तात्पर्य यहाँ व्यक्त किया गया है; वह परम पुष्ट है।

पनिषदात्मनिश्चयवत इष्यत एव कर्मकाण्डाप्रामाण्यम्, मिथ्यात्मदर्शनम्प्रत्येव तत्प्रामाण्यात् । न केवलं उपनिषद एव ब्रह्मणि पर्यवसिताः, सर्वेषामपि वेदानां कर्मोपासनाभिश्चित्तशुद्धिविक्षेपनिराकरणपारम्पर्येण ब्रह्मण्येव पर्यवसानात् 'सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति','वेदैश्च सर्वैरहमेववेद्य' (कठोपानिषद् १-२-१५, गीता १५-१५) इति श्रुतिस्मृतिभ्याम् ।

आत्मदेवत्यो अनुष्टुप्छन्दस्कोऽयमध्यायः दधीचाथर्वणेन दृष्टः ।

गर्भाधानादिभिः संस्कारैः संस्कृतमधीतवेदं समुत्पादितपुत्रं यथा शक्त्यनुष्ठितयज्ञं निष्पापं निःस्पृहं यमनियमोपेतं जन्मान्तरीयैः कर्मभिः सत्संस्कारैर्वा नित्यानित्यविवेकेनेहामुत्रफलभोगवैराग्यवन्तं शान्तं दान्तं

देखता है और सबभूतों का विनाश होते हुए भी परमेश्वर को अविनाशी देखता है, वही यथार्थ देखता है।' और 'एक एवहि भूतात्मा' —'एक ही सब प्राणियों की आत्मा प्रत्येक प्राणी में विद्यमान है, स्वरूप से एक होता हुआ भी, अनेक उपाधि के कारण प्रतिबिम्ब रूपसे अनेक प्रकार जल में प्रतिबिम्बित चन्द्रमा के समान देखने में आता है ' इस भगवद्गीता और मोक्षशास्त्र में प्राप्त वचन से भी अद्वैत ही सिद्ध होता है ।

"जैसे किसीभूत की हिंसा मत करो" इस निषेधशास्त्र के अर्थ के निश्चयवाले पुरुष के लिये श्येनादियाग की विधि का अप्रामाण्य और जैसे तीव्र क्रोध से व्याप्त अन्तःकरणपुरुष के प्रति ही श्येनादिविधि का प्रामाण्य है, उसी प्रकार औपनिषद् आत्मा के निश्चयवाले पुरुष के लिये कर्मकाण्ड का अप्रामाण्य स्वीकार किया ही जाता है, क्योंकि मिथ्यात्मा के दर्शनवाले के लिये ही उसका प्रामाण्य है । केवल उपनिषदें ही ब्रह्म में तात्पर्यवाली नहीं हैं, अपितु सम्पूर्ण वेदों का भी कर्म तथा उपासना से चित्तशुद्धि व विपेक्ष की निवृत्ति द्वारा ब्रह्म में ही तात्पर्य है । अतएव सर्ववेदों का वेद्य ही ब्रह्म को **'सर्वे वेदाः'** इस श्रुति तथा **'वेदैश्च सर्वैः'** इस स्मृति में कहा है ।

इस ४०वें अध्याय के आत्मा देवता, अनुष्टुप् छन्द तथा दधीच आथर्वण ऋषि हैं ।

उपरतंतितिक्षुं श्रद्धासमाधानवन्तं मुमुक्षुं साधनचतुष्टयसम्पन्नं पुत्रं-शिष्यं वा ऋषिरुपदिशन्नाह—

ईशा वास्यमिद ँ सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत् ।

तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्यस्विद्धनम् ॥१॥

सर्व शास्ता परमेश्वर सर्वप्राणियों का अन्तरात्मा है, वही सब का नियन्ता है। नियम्य से बाहर स्थित राजा के समान वह तटस्थ नहीं है। मायाभूमि-ब्रह्माण्डभूमि में प्रत्यक्षादि प्रमाणों से प्रतीयमान दृष्ट और अदृष्ट नाम-रूप-क्रियात्मक जगत् वस्तुतः मिथ्या ही है। सत्य आत्मस्वरूप परमात्मा से यह स्थावर-जङ्गमात्मक जगत् ज्ञातरस्सी से कल्पित सर्पादिवत् आच्छादनीय (बाधनीय) है। ईश्वर से अभिन्न आत्मा की भावनावाला तू सर्वैषणा के त्याग से आत्मा का पालनकर अर्थात् अध्यासका निराकरण कर। अपने तथा दूसरे के धन की अभिलाषा मत कर। भला यह धन किसका है ? किसीका नहीं, मिथ्या ही तो है।

'ईष्ट इति ईट्, ईश ऐश्वर्ये' ईशिता सर्वशास्ता परमेश्वरः। स हि सर्वप्राणिनामन्तरात्मा सन् सर्वमीष्टे न बहिरंगराजादिवत् तटस्थ ईश्वरः। तेन स्वात्मभूतेन सत्येनात्मनेशा परमात्मना इदं प्रत्यक्षादिभिर्दृश्यमानमनृतं दृष्टादृष्टं सर्वं नामरूपात्मकं जगद्वास्यमाच्छादनीयं ज्ञातया रज्ज्वा कल्पितं सर्पादिवद्बाधनीयम्। वस आच्छादने, 'ऋहलोर्ण्यत्' पा० ३।१।१२४ इति ण्यत् प्रत्ययः। न चात्रावारकेण

गर्भाधानादि संस्कारों से युक्त, कृतवेदाध्ययन, पुत्रवान, यज्ञों के अनुष्ठान से युक्त, निष्पाप, निःस्पृह यम-नियम से युक्त अथवा जन्मान्तरीय संस्कारों से नित्यानित्यवस्तु विवेक, इसलोक तथा परलोक के भोग से वैराग्ययुक्त, शम-दम-उपराम-तितिक्षा-श्रद्धा-समाधानादि साधनवान् मुमुक्षु अर्थात् साधन-चतुष्टय से सम्पन्न पुत्र अथवा शिष्य को उपदेश करता ऋषि कहता है—**'ईशावास्यमिद ँ सर्वं'**

वस्त्रादिना फलादिकमिवाच्छादनीयम् । दुःखात्मकस्य प्रपंचस्य सम्बरणमात्रेणानर्थनिवृत्या पुरुषार्थासिद्धेः । तस्मात् सर्वमिदंकारास्पदं दृश्यं मिथ्याभूतमनात्मजातं प्रत्यक्चैतन्याभिन्नेनाधिष्ठानभूतेन परमार्थसत्येन परमात्मना 'स्वात्मभूतपरमात्मैवेदं सर्वमिति' परमार्थदर्शनेनानात्मतिरस्करणमेवाच्छादनम् । इदम्पदनिर्दिष्टं किमित्यत आह-जगत्यां मायाभूमौ यत् किंच किञ्चित् जगत् जङ्गमादिकम् तत्सर्वमप्याच्छादनीयम् ।

यद्वा किञ्चेति भिन्नक्रमः । किञ्च यत् जगत्यां पृथिव्यां जगत् जङ्गमादि स्वस्वामिभावसम्बन्धोपलक्षितं तेन सर्वेण त्यक्तेन त्यक्तस्वस्वामिसम्बन्धेन भुञ्जीथाः भोगाननुभवेः । जगत्यां पृथिव्यां ब्रह्माण्ड-

---

ईष्ट इति ईट्, ईश ऐश्वर्ये ईशिता सर्व शास्ता परमेश्वर, वही सर्व प्राणियों का अन्तरात्मा हुआ सर्व का नियन्ता है। नियम्य से बाहर स्थित राजा के समान ईश्वर तटस्थ नहीं है। उस स्वात्मभूत सत्यस्वरूप ईश्वर=परमात्मा से, यह प्रत्यक्षादि प्रमाणों से प्रतीयमान, मिथ्या दृष्ट व अदृष्ट सर्व नाम-रूपात्मकजगत् आच्छादनीय(बाधयोग्य) है, जैसे ज्ञातरज्जु से कल्पित सर्पादिक बाधयोग्य होता है। आच्छादनार्थक वस धातु से ण्यत् प्रत्यय होकर 'वास्य' शब्द सिद्ध हुआ है। यहाँ आवरकवस्त्रादि से फलादि के समान जगत् आच्छादनीय नहीं है, क्योंकि दुःखात्मक प्रपञ्च के आच्छादनमात्र से अनर्थ की निवृत्ति से होनेवाली पुरुषार्थ की सिद्धि असंभव है। अतः इदंकारास्पद, मिथ्याभूत अनात्मसमुदायरूप सर्व दृश्य, प्रत्यक्चैतन्य से अभिन्न, अधिष्ठानभूत परमसत्य परमात्मा से आच्छादनीय अर्थात् बाधनीय है। यहाँ "आत्मभूत परमात्मा ही यह सर्व है" इस परमार्थ (वास्तविक) ज्ञान से अनात्मा का तिरस्कार ही आच्छादन (बाध) है। श्रुति में 'इदं' पंद से कहा हुआ कौन है ? इस आकांक्षा का श्रुति स्वयं उत्तर कहती है कि— **"जगत्यां"**=मायाभूमि में जो कुछ स्थावर-जंगम जगत् है, वह सर्व आच्छादनीय है।

अथवा 'किञ्च' से भिन्नक्रम है। पृथिवी में स्वस्वामिभावसम्बन्ध से उपलक्षित चराचर जगत् है, उस त्यक्तस्वस्वामिभाव सम्बन्धवाले सर्व चराचर जगत् से भोग कर। अथवा जगत्यां पृथिवी अर्थात्

कटाहभूमौ वा, जगत्यामित्युपलक्षणार्थत्वात् । सर्वत्र यत्रक्वापि नामरूपकर्माख्यं विकारजातं तत्सर्वमपि परमार्थसत्यात्मभावनया वास्यं त्यक्तव्यमेव । तत्त्वमसीत्यादि छन्दोग्योक्त्यापि सदहं न देहादिरित्येव प्रतिपत्तव्यम्,

"ब्रह्मैवसर्वमात्मैव सत्प्रकाशविशेषतः ।
हेयोपादेयभावोऽयं न सन् स्वप्नवदीर्यते ॥"

"न बन्धोऽस्ति न मोक्षोऽस्ति न विकल्पोऽस्ति तत्त्वतः ।
नित्य प्रकाश एवास्ति विश्वाकारो महेश्वरः ॥"

इत्युक्तेः । यद्वा बाह्यवासनया भावनया विजातीयप्रत्ययानन्तरित सजातीयप्रत्ययप्रवाहेण सर्वं तिरस्करणीयम् । औपदेशिकज्ञानमात्रेणानृतदृष्टिबाधाभावेऽपि यथा चन्दनागर्वादेरुदकतृणमृदादिसम्बन्धादार्द्रीभावादिना जातस्यौपाधिकदौर्गन्ध्यस्य तत्स्वरूपनिघर्षणाभिव्यक्तेन स्वाभाविकगन्धेन तिरस्करणं तद्वद्विचारादिना स्वाभाविकपरमार्थात्म-

---

ब्रह्माण्डकटाहभूमि में ऐसा अर्थ करना, क्योंकि यहाँ जगती शब्द सर्व ब्रह्माण्ड के उपलक्षण के लिये है । जहाँ कहीं भी सर्वत्र नाम-रूप-कर्मसंज्ञक विकार समुदाय है, वह सर्व भी परमार्थसत्आत्मा की भावना से त्याग के योग्य है । 'समस्तनामरूपात्मकविकारसमुदाय सच्चिदानन्दब्रह्म है, अतिरिक्त नहीं,' ऐसा निश्चय ही त्याग है । **'तत्त्वमसि'** इस छान्दोग्य के कथनसे भी यही जानने योग्य है कि 'मैं सत्य ब्रह्म हूँ, न कि देहादिक' । इस अर्थ के पोषक **'ब्रह्मैवसर्वं', 'न बन्धोस्ति'** इत्यादि अन्य प्रमाण भी हैं । अथवा ब्रह्मवासना–भावना से उत्पन्न विजातीय प्रत्ययों के व्यवधान से रहित सजातीयप्रत्यय के प्रवाह से सर्व जगत् तिरस्कार के योग्य है । 'सर्व परमात्मा ही है, उससे अतिरिक्त जगत् कुछ नहीं,' यही जगत् का तिरस्कार है । जैसे तृण, जल, मृत्तिका आदि के सम्बन्ध से चन्दन, अगरु आदि पदार्थों में गीलापन, मलिनता आदि से औपाधिक दुर्गन्ध हो जाती है, परन्तु चन्दनादि के घर्षणादि से अभिव्यक्त सुगन्ध से उस दुर्गन्ध का तिरस्कार हो जाता है, उसी प्रकार उपदेशप्राप्तपरोक्षज्ञानमात्र से मिथ्यादृष्टि के बाध न होने पर भी विचारादि से स्वाभाविक परमार्थ आत्मा के स्वरूप के आविर्भाव से औपाधिक सर्व मिथ्याप्रपंच का तिरस्कार हो जाता है । प्रपंच का तिरस्कार ही

सत्यात्मस्वरूपाविर्भावेनौपाधिकस्य सर्वस्यानृतस्य प्रपञ्चस्य तिरस्करणमेवाच्छादनम् । एवमीश्वरात्मभावनया युक्तस्य पुत्राद्येषणात्रयसंन्यास एवाधिकारो न कर्मस्विति तदाह तेन त्यक्तेनेति ।

तेन हेतुना त्यक्तेन त्यागेन भुञ्जीथा आत्मानं पालयेथाः, भावेनिष्ठा प्रत्ययः । न च कर्मण्येव कुतो न निष्ठा प्रत्यय इति वाच्यम् त्यक्तस्य मृतस्य पुत्रभृत्यादेरात्मसम्बन्धित्वाभावेन पालकत्वासंभवात् । न च भुजोऽनवने इत्यस्यानवन एवेदृशं रूपमिति कथं पालनमर्थं इति-वाच्यम्, पालनेऽपि छांदसप्रयोग संभवात् । न च भोगार्थत्वेऽपि का हानिरिति वाच्यम्, भोगस्य रागप्राप्तत्वेन विधानानर्हत्वात्, तत्त्वज्ञानेन भोक्तृभोग्यभोगादेर्निवर्तयितव्यत्वात् । पालनमपि अनात्मतादात्म्याभिमाननिराकरणमेव, तदपि चाधिष्ठानसत्ताऽतिरिक्तायाः कल्पित-

---

आच्छादन है । एवं ईश्वर से अभिन्न आत्मा की भावना से युक्त पुरुष-का पुत्र-वित्त तथा लोकैषणा के संन्यास में ही अधिकार है, कर्मों में नहीं, इसलिए यह कहा कि—**तेन त्यक्तेन**[८] ।

मन्त्र में त्यक्त शब्द त्याग का वाचक है, न कि त्यागे हुए का । त्यागा हुआ मृत पुत्र, सेवकादि का आत्मा के साथ सम्बन्ध न होने से पालकपना ही असंभव है । अतः एषणाओं से रहित पुरुषका संन्यास में ही अधिकार होने से त्याग से आत्मा का पालन कर । "भुजधातु अपालनार्थक है । उसका ही भुञ्जीथाः यह रूप है, अतः इस शब्द का पालन अर्थ कैसे संभव है ?" यह कहना उचित नहीं, इसका पालन अर्थ छांदस है । 'इस शब्द का भोग अर्थ स्वीकार करने में क्या हानि है ?' यह कहना भी उचित नहीं । क्योंकि भोग तो राग से ही प्राप्त है, उसके लिये विधान की आवश्यकता ही नहीं तथा तत्त्वज्ञान से भोक्ता-भोग्य-भोगादिरूप त्रिपुटी ही निवृत्त हो जाती है, तब तत्त्वज्ञ के लिये भोग का विधान कैसे सम्भव है ? देहादि अनात्मा का आत्मा के साथ तादात्म्य-अध्यास हो रहा है, उसका निराकरण ही पालन है । यह

---

८. परिशिष्ट में संन्याससम्बन्धी विवेचन का अवलोकन और अनुशीलन करें ।

सत्ताया अनङ्गीकारेणैव सुसंम्पादनम् । तथा च योऽयं नामरूपक्रियात्मकोऽध्यस्तः प्रपञ्चः स अधिष्ठानभूतस्य परमात्मनो याथात्म्यावगमेन मिथ्याभूतत्वेन त्यक्तव्यः । तेनानात्मप्रपञ्चविषयेण त्यागेन हे मुमुक्षो आत्मानं पालयेथाः सर्वैषणा त्यागेन संकल्पितात् संसारात् आत्मरक्षां कुरु ।

मा गृधः कस्यस्विद्धनम् । गृधु अभिकांक्षायाम् । कस्यस्वित् कस्यचित् स्वस्य परस्य वा धनं मा कांक्षीः । स्विदित्यनर्थको निपातः । आक्षेपार्थको वा किं शब्दः । मा गृधः, कस्मात् कस्यस्विद्धनमस्ति यद् गृध्येत न कस्यचिदित्यर्थः, आत्मैवेदं सर्वमित्यात्मभावनया सर्वस्य बाधितत्वेन त्यक्तत्वात् । आत्मन एवेदं सर्वमात्मैव च सर्वमतो मिथ्याविषयां गृद्धिं मा कार्षीः । जडस्य सर्वस्यात्मशेषत्वात् अस्ति चेदात्मन एवेति प्राप्तत्वादेवाकांक्षानुपपत्तिः । बाधितत्वाच्चाकांक्षा विषयस्यैवा-

---

अध्यास का निराकरणरूप पालन भी सम्पादन करना सुलभ है; क्योंकि अधिष्ठानभूत आत्मसत्ता से अतिरिक्त, कल्पितदेहादिक की सत्ता अङ्गीकार ही नहीं। जो यह नाम-रूपात्मक अध्यस्त प्रपंच है, वह अधिष्ठानभूतपरमात्मा के यथार्थबोध से मिथ्यात्वरूप से त्याग के योग्य है। अर्थात् अधिष्ठानभूत परमात्मा के यथार्थ अद्वैतबोध से मिथ्या जान लेना ही जगत् का त्याग है। हे मुमुक्षो ! अनात्मरूप प्रपञ्चविषयकत्याग से आत्मा की रक्षा कर, अर्थात् सर्वैषणा के त्याग से कल्पितसंसार से आत्मरक्षा कर।

किसी के अर्थात् अपने तथा दूसरे के धन की अभिलाषा मत कर; अथवा धन की अभिलाषा मत कर; क्योंकि धन किसका है; जो इसकी इच्छा की जाय अर्थात् किसी का भी नहीं। क्योंकि "यह सर्व जगत् आत्मा ही है" इस प्रकार की आत्मभावना (आत्मविषयक दृढ़ निश्चय) से सर्व जगत् को बाधित होने से त्याग दिया है। यह सर्व-जगत् आत्मा से ही उत्पन्न तथा आत्मा ही है, अतः मिथ्या की इच्छा मत कर। यदि यह जगत् है भी तब भी इस सर्व जड़-जगत् को आत्मा की शेषता (भोगसाधनता) होने से यह आत्मा का ही है। व्यापक आत्मा सदा प्राप्त है इससे भी इसकी आकांक्षा संभव नहीं। बाधित

भावादाकांक्षां मा कृथाः ।

अन्ये तु ईशा परमात्मना वास्यं वासनीयम् सर्वमिदं परमात्मन एवेति भावनीयम् । जगत्यां पृथिव्यां यज्जगत् जङ्गमादिकं स्वस्वामिसम्बन्धालिङ्गितं स्यात् । तेनानेन सर्वेण त्यक्तेन त्यक्तस्वस्वामिसम्बन्धेन भोगान् भुञ्जीथाः अनुभवेः । धनविषयामाकाङ्क्षां मा कृथाः । किं कारणम् ? कस्यस्विद्धनम् ? न कस्यचिदित्यर्थः । स्त्रियं पतिरन्यथा भुंक्ते पुत्रोऽन्यथा भुंक्ते प्राघूर्णिकोऽन्यथा । कटकाद्यलङ्करणान्यन्यञ्चान्यञ्चोपतिष्ठमानानि दृश्यन्ते । अतः सर्वार्थस्य यः स्वस्वामिसम्बन्धो ममेदमिति बुद्धिः सात्वविद्या तामपनीय योगे प्रवर्तितव्यमित्यर्थः । अस्मिन्पक्षेऽप्यविद्यात्यागो विवक्षितः ।

केचित्तु—'ईशा वास्यं' परमेश्वरे वसितं सर्वं सचराचरं जगत्,

(मिथ्या) होने से आकांक्षा का विषय ही नहीं, अतः आकांक्षा मत कर ।

अन्य तो यह अर्थ करते हैं कि—परमात्मा से वास्य=वासनीय है, अर्थात् 'यह सर्व जगत् परमात्मा का ही है' इस चिन्तन के योग्य है । पृथिवी में जो भी स्थावर-जङ्गम जगत् है, वह स्वस्वामिभाव-सम्बन्ध से युक्त है । भाव यह कि सर्वजगत् में जीव ने ऐसा सम्बन्ध स्थापित कर लिया है, "मेरा यह भोगसाधन है, मैं इसका स्वामी हूँ" इस सम्बन्ध को दूर करने के लिये "यह सर्व जगत् परमात्मा का है", ऐसा चिन्तन करना चाहिये । पूर्वोक्त सम्बन्ध से रहित इस सर्व जगत् से भोगों को अनुभव कर । धनविषयक आकांक्षा मत कर । क्योंकि धन किस का है, न किसी का । एक स्त्रीको पति, पुत्र तथा आघूर्णक (घूरने वाला) भिन्न-भिन्न प्रकार से भोगते हैं । अतः वह किसी की नहीं । यदि किसी की होती तो एक प्रकार से ही भोगी जाती । कटक, कुण्डलादि भूषण भी अन्य-अन्य मनुष्यों को प्राप्त होते देखे जाते हैं । अतः पदार्थ किसी एक का नहीं । एक का न होने से सर्व का है, जो सर्व का है उसमें "यह मेरा है" ऐसी बुद्धि करना ही अविद्या है । इस अविद्या को निवृत्त कर योग में प्रवृत्त होना चाहिये । इस पक्ष में भी अविद्या का त्याग ही विवक्षित (तात्पर्य का विषय) है ।

संव्याप्तम् । संव्याप्तिश्च मृदेव घटस्य कार्यस्यकारणेनैव सम्भवति । कार्यञ्च कारणानतिरिक्तमेव । तस्मात् सर्वंजगद् ब्रह्मकार्यत्वाद् ब्रह्मव्याप्यत्वाद् ब्रह्मात्मकमेवेति 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म तज्जलानिति' (छान्दोग्यो० ३.१४.१) श्रुतेः । यथा तज्जत्वात् तल्लत्वात् तदनत्वात् तरङ्गफेनबुदबुदादयः समुद्रात्मका एव तथैवाभिन्ननिमित्तोपादानकत्वेन सर्वस्य जगतस्तज्जत्वादिना ब्रह्मात्मकत्वमेव । यस्मात् ब्रह्मात्मकं सर्वं तस्मात्त्यक्तेनात्मानं पालयेथाः ।

यद्वा 'ईशावास्यं सर्वमिदमी'श्वर एवेति बुद्धिसम्पादनमेव जगतः परमेश्वरेण वासनमाच्छादनं वा ।

यद्वा सर्वमिदमीशावास्यं वासयोग्यं । वस निवासे इत्यस्मात् बाहुलकात् अधिकरणे ण्यत् परमेश्वरस्य वासार्हम् ।

कोई ऐसा अर्थ करते हैं—यह समस्त जगत् परमेश्वर में वसित अर्थात् संव्याप्त है। और संव्याप्ति तो मिट्टी से घट की तरह, कारण से कार्य की ही संभव है। कार्य कारण से अतिरिक्त होता नहीं। इसलिए सर्वजगत् ब्रह्म का कार्य तथा व्याप्य होने से ब्रह्मात्मक (ब्रह्मरूप) ही है। क्योंकि **'सर्वं खल्विदं ब्रह्म'** (छा०३.१४.१) यह श्रुति जगत् को ब्रह्मरूप ही कह रही है। जैसे समुद्र से उत्पन्न उसी में लीन तथा उसी से जीवन को प्राप्त तरङ्ग, फेन, बुदबुदादिक समुद्र ही हैं; उसी प्रकार ब्रह्म ही सर्व जगत् का अभिन्न निमित्तोपादान होने से ब्रह्म से उत्पन्न, ब्रह्म में ही लीन होनेवाला तथा ब्रह्म से ही जीवन प्राप्त जगत् ब्रह्म ही है। क्योंकि सर्व जगत् ब्रह्मात्मक है, अतः त्याग से आत्मा की रक्षा कर।

अथवा 'यह सर्व जगत् ईश्वर ही है' इस प्रकार की बुद्धि की प्राप्ति करना ही जगत् का परमेश्वर से वासन तथा आच्छादन है। अथवा यह सर्व जगत् ईश्वर के वासयोग्य है।

अथवा 'सर्वमीशावास्यं'='यह सर्वजगत् कारणभूत ज्ञात परमात्मा से परमात्मा में ही निवास के योग्य है। अर्थात् परमात्मा का अपरोक्षज्ञान होने पर परमात्मा से अतिरिक्त जगत् अन्यत्र नहीं, अपि तु परमात्मा में ही परमात्मारूप से स्थित है' ऐसा जानने योग्य है।

यद्वा सर्वमीशावास्यं सर्वमिदं जगत् ईशा कारणेन परमात्मना विज्ञातेन तस्मिन्नेव निवास्यम् ।

यद्वा परमेश्वरेण वासितमुत्पादितं स्थापितं नियमितञ्च 'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते येन जातानि जीवन्ति यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति' **(तैत्ति० ३.१) इति श्रुतेः । न केवलं प्रत्यक्षगम्यमीशा वास्यमपि तु सावरणं ब्रह्माण्डमित्याह**-यदिति । **यत् किञ्चित् श्रुतिप्रमाणसिद्धं स्थापितं** जगत्यां जगत् **स्थावरजङ्गमात्मकं शेषं विश्वमीशेनोत्पादितं नियमितञ्चेत्यर्थः । (यत्किञ्च श्रुत्यादि प्रतिपाद्यं दिव्यमलौकिकं देवादिस्वर्गादि च ब्रह्मलोकपर्यन्तमनन्तकोटि ब्रह्माण्डव्याप्तं सर्वमेवेश्वरेणाच्छादनीयम् ।) कारणस्यैवानुगतरूपेणकार्येषूपलभ्यमानत्वेन च निवासार्हता पटेषु तन्तूनां कटकमुकुटादिषु सुवर्णस्येव प्रपंचे परमात्मनः उपलभ्यमानत्वात्** सर्वभूतेषु चात्मानमिति **वक्ष्यमाणत्वात् । तेन त्यक्तेन भूतजातेन न ममेति त्यक्तस्वीयसम्बन्धेन संन्यासेन नामरूपत्यागेन भुञ्जीथाः पूर्वोक्तमात्मानमनुभवेः । भोगस्यानुभवानतिरिक्तत्वात् यदृच्छाप्राप्तभोगान्वाऽनुभवेः ।**

अथवा परमेश्वर से वासित=उत्पन्न किया, स्थापित तथा नियमित यह जगत् है, क्योंकि **'यतो वा इमानि भूतानि'** (तै०३.१) यह श्रुति जगत् को ब्रह्म से उत्पन्न, स्थित तथा नियमित कह रही है। केवल प्रत्यक्ष से गम्य जगत् ही ईश्वर से आच्छादनीय नहीं, अपि तु जो कुछ श्रुति आदि से गम्य स्वर्गादि भी ब्रह्म से आच्छादनीय है। कार्यों में कारण की अनुगत प्रतीति होती है, अतः कार्यों में कारण की ही निवासयोग्यता है। जैसे कार्यभूत पट, कटक-मुकुट आदिकों में कारणभूत तन्तु तथा सुवर्ण की निवासयोग्यता है। प्रपंच में परमात्मा की अस्ति-भाति-प्रियरूप से प्रतीति होने से निवासयोग्यता है। भूतों में आत्मा (परमात्मा) का निवास आगे **'सर्वभूतेषु चात्मानं'** यह श्रुति भी कह रही है। 'यह मेरा नहीं है' इस प्रकार, जिससे अपनेपने का सम्बन्ध त्याग दिया है ऐसे भूतसमुदाय से अर्थात् नाम-रूप के त्यागात्मक संन्यास से पूर्वोक्त आत्मा को अनुभव कर। भोग अनुभव से अतिरिक्त नहीं होता, अतः 'भोग कर' के स्थान में 'अनुभव कर' यह अर्थ भी विरुद्ध नहीं है। अथवा 'अदृष्ट (प्रारब्ध) से प्राप्त भोगों का अनुभव कर' यह भी अर्थ है।

यद्वा सर्वं जगत् परमेश्वरेण वास्यमुत्पादितं स्थापितं नियमितमतः कारणात् तेनेशा परमेश्वरेण त्यक्तेन विसृष्टेन दत्तेन स्वादृष्टानुसारिणा विषयेण भुञ्जीथाः भोगाननुभवेः। इतोऽधिकं मा गृधः, परमेश्वराधीनत्वेन त्वदिच्छाया व्याहतत्वात्। यद्यपीदमपि व्यावहारिक दृष्ट्या न विरुद्धम्, तथापि साधारणं तत् कर्मप्रकरणेष्वपि तथैव ज्ञातत्वात् परमेश्वरस्यैव कर्मफलदातृत्वाङ्गीकारेण परमेश्वरेण दत्तेनैव सर्वोऽपि भोगान् भुंक्ते। अत्र तु ज्ञानकाण्डे ज्ञाननिष्ठाङ्गतया पुत्राद्येषणात्रयत्याग विधित्सयैव "तेन त्यक्तेन भुञ्जीथाः" इत्युक्तिः समञ्जसा। भोगा अपि लोकत एव प्राप्ताः। सर्वैषणात्यागेनात्मपालनमेव तु ज्ञानकाण्डोपयोगि, तत एव शङ्करभगवत्पादैस्तथैव व्याख्यातम्।

'ईश ऐश्वर्ये' इत्यस्य धातोः कर्तरिक्विब् विधानात् क्विपि लुप्ते कृदन्तरूपमीट् इति निष्पद्यते तस्य तृतीयैकवचनमीशेति। ननु

अथवा 'यह सर्वजगत् परमेश्वर से उत्पन्न, स्थापित तथा नियमित है, इसलिये उस परमात्मा से त्यक्त (प्रदत्त) अपने अदृष्टानुसारि-विषय से भोग का अनुभव कर। इससे अधिक की इच्छा मत कर। क्योंकि परमेश्वर के अधीन होने से आपकी इच्छा का व्याघात संभव है।' यद्यपि यह अर्थ भी व्यावहारिक दृष्टि से विरुद्ध नहीं, तथापि यह अर्थ कर्मप्रकरण साधारण है, क्योंकि कर्मप्रकरण में भी ऐसा ही जाना जाता है कि परमेश्वर को ही कर्मफलदाता स्वीकार करने से परमेश्वर के द्वारा दिये पदार्थ से ही सर्व प्राणी-समुदाय भोगों को भोगता है। यहाँ ज्ञानकाण्ड में तो ज्ञाननिष्ठा के साधनरूप से पुत्रादि तीनों एषणाओं के त्याग का विधान करने के तात्पर्य से ही "त्याग से पालन कर" यह कथन उचित है। भोग भी लोक (राग) से प्राप्त हैं; अतः उनका विधान आवश्यक भी नहीं। सर्व एषणाओं के त्याग से आत्मा का पालन ही ज्ञानकाण्डोपयोगी है। अत एव भगवत्पादशंकराचार्यजी ने ऐसा ही व्याख्यान किया है।

नियमनकर्ता का वाचक 'ईट्' शब्द है। आत्मा को षट्-भाव-विकारों से रहित तथा कूटस्थ होने से 'ईट्' शब्द की वाच्यता कैसे ? क्योंकि 'नियमन करना तो विकार है।' यह शंका भी उचित नहीं; क्योंकि मायारूप उपाधि के बल से परमेश्वर का ईशन(नियमन)कर्तृत्व

कर्त्तरि क्विब्विधानात्; परमात्मनश्च षड्भावविकारवर्जितत्वेन कूटस्थत्वेन च कथं क्विबन्तेट्शब्दवाच्यतेति चेत् न, मायोपाधिवशात् परमेश्वरस्येशनकर्तृत्वोपपत्या क्विबन्तपदवाच्यत्वे विरोधाभावात् । न चैवमीशित्रीशितव्यभावेन भेदः प्रसज्येतेतिवाच्यम्, अधिष्ठानारोप्य-भावे कल्पितभेदेन तदुपपत्त्या पारमार्थिक कल्पनाऽनुपपत्तेः । यथादर्शादिषु प्रतिबिम्बानामात्मा सन् बिम्बभूतो देवदत्त ईशिता भवति तद्वदेव सर्वभूतानामात्मा सन् परमेश्वरः सर्वं नियच्छति । वस्तु-तस्तु तदधीनस्थितिप्रवृत्तिमत्त्वमेव तन्नियम्यत्वन्तच्चाधिष्ठानारो-प्ययोः बिम्बप्रतिबिम्बयोः जलतरङ्गादिष्वेवोपपद्यते । अधिष्ठानसत्ता-स्फूर्तिभ्यामेवारोप्यसत्तास्फूर्तिमत्त्वं भवति अधिष्ठानसत्तास्फूर्त्यतिरिक्त-योरारोप्यसत्तास्फूर्त्योरनङ्गीकारात् । बिम्बस्थितिगतिभ्यामेव प्रति-बिम्बानां स्थितिगतयः प्रत्यक्षमनुभूयन्ते । तदनुविधानदर्शनात् तेषां जलाधीनैव तरङ्गाणां स्थित्यादयः, जलाभावे तेषां

संभव हो जाने से क्विबन्त पदवाच्यता में कोई विरोध नहीं । 'नियम्य-नियामकभाव से तो भेद प्राप्त हो जायगा' यह कहना भी उचित नहीं, क्योंकि अधिष्ठान तथा आरोप्यपने में कल्पितभेद रहने से नियम्य-नियामकभाव की सिद्धि संभव है, अत: पारमार्थिकभेद की कल्पना संभव नहीं । जैसे दर्पणादिगत प्रतिविम्बों का आत्मा (स्वरूप) हुआ बिम्बभूत देवदत्त नियन्ता होता है, वैसे ही सर्वभूतों का आत्मभूत हुआ परमेश्वर सर्व का नियमन करता है । वस्तुत: नियन्ता के अधीन स्थिति तथा प्रवृत्ति वाला ही नियम्य होता है। ऐसा नियम्य-नियामक-भाव, विम्ब-प्रतिबिम्ब, अधिष्ठान-आरोप्य तथा जलतरङ्गादिकों में ही बन सकता है। अधिष्ठान की सत्ता-स्फूर्ति से ही आरोप्य (अध्यस्त) की सत्ता-स्फूर्ति होती है। क्योंकि अधिष्ठान की सत्ता-स्फूर्ति से अतिरिक्त अध्यस्त की सत्ता-स्फूर्ति का अङ्गीकार ही नहीं। बिम्ब की गति–स्थिति आदि से ही प्रतिविम्ब की गति-स्थिति प्रत्यक्ष देखी जाती हैं। तरंगों में जल का अनुसरण देखा जाने से जल के अधीन ही तरङ्गों की स्थिति आदिक होती हैं। क्योंकि जल के अभाव में तरङ्गों के स्वरूप की ही सिद्धि नहीं होती। तटस्थ शासक के सिपाही, न्यायालयादि से सीमित ही शासन होता है। क्योंकि नियन्ता की आँखों में धूल डालकर अपराधियों की भी अपराध से मुक्ति देखी

स्वरूपानुपलम्भात् । तटस्थस्यशास्तुस्त्वरक्षिन्यायालयादिभिः सीमितमेवशासनम्, नियन्तृनेत्रधूलिप्रक्षेपादिभिरपराधिनामपि मोक्षदर्शनात् । तदुक्तम्—

गुरुरात्मवतां शास्ता राजा शास्ता दुरात्मनाम् ।
इह प्रच्छन्नपापानां शास्ता वैवस्वतो यमः ॥

(नारदीय मनुस्मृतिः १८.१०८, महा० उद्योग० ३५.७१)

यद्यपि योगसिद्धः कश्चित्तटस्थोऽपिशासकः सर्वज्ञसर्वशक्तिकल्पः सन् प्रच्छन्नपापानपिदण्डयित्वाऽन्तः शरीरेष्वपि शासको भवति, यथोक्तं कविना कालिदासेन कार्तवीर्यार्जुनस्यलोकोत्तरं प्रभावं वर्णयता—

अकार्यचिन्तासमकालमेव प्रादुर्भवंश्चापधरः पुरस्तात् ।
अन्तः शरीरेष्वपि यः प्रजानां प्रत्यादिदेशाविनयं विजेता ॥

(रघु० स० ६ श्लो० ३९)

तथापि तदधीनगतिस्थितिसत्त्वं तटस्थे शासने सर्वथैव न

जाती है। ऐसा "गुरुरात्मवतां"[९] (महा० उ० ३५.७१) इस श्लोक से कहा भी है।

यद्यपि योगसिद्ध सर्वज्ञसर्वशक्तिमान् के सदृश हुआ तटस्थ शासक, छिपे पाप करनेवालों को भी दण्ड देकर मनुष्यों के अन्तःकरणों का भी शासक होता है, जैसाकि कार्तवीर्य अर्जुन के अलौकिक प्रभाव का वर्णनकर्ता कविकालिदास ने "अकार्यचिन्ता"[१०] (रघु० ६.३९) इस श्लोक से कहा है।

---

९. संयमशाली पुरुषों का शासक गुरु, दुष्टात्माओं का शासक राजा तथा छिपकर पापकर्ताओं का शासक सूर्यपुत्र यमराज होता है।

१०. शासक कार्तवीर्यार्जुन पाप के विचार समकाल ही धनुष-बाण धारण किये पाप के विचारकों के सामने प्रकट हो, प्रजा के मानस अपराधों को भी निवृत्तकर देता था।

संभवति। तस्मादारोप्यस्याधिष्ठानमिव प्रतिबिम्बानां बिम्बमिव तरङ्गाणां जलमिव सर्वेषां चेतनाचेतनानामात्मा सन्नेव परमेश्वरो नियच्छति। 'यः पृथिव्यां तिष्ठन् पृथिव्या अन्तरः पृथिवी यं न वेद पृथिवी यस्य शरीरम्, एष त आत्मा अन्तर्याम्यमृत' (बृहदा० ३-७-३) इत्यादिश्रुतिस्मृतिपुराणवचनसहस्रेभ्यः।

दयानन्दः—"हे मनुष्य ? त्वं यदिदं प्रकृत्यादि पृथिव्यन्तं सर्वं जगत्यां गम्यमानायां सृष्टौ जगत् यद्गच्छति तत् ईशा ईश्वरेण सकलैश्वर्यसम्पन्नेन सर्वशक्तिमता परमात्मना वास्यमाच्छादयितुं योग्यं सर्वतोऽभिव्याप्यमस्ति। तेन त्यक्तेन वर्जितेन तच्चित्तरहितेन भुञ्जीथाः भोगाननुभवेः। किञ्च कस्यस्वित् कस्यापि स्विदिति प्रश्ने वा, धनं वस्तुमात्रं मा गृधः माभिकांक्षीः" इति तदपि यत्किञ्चित्,

---

तथापि शासक के अधीनगति-स्थितिरूपशासन तटस्थ शासक में सर्वथा संभव नहीं। इसलिये यथा आरोप्य का अधिष्ठान, प्रतिबिम्बों का बिम्ब तथा तरङ्गों का जल नियमन करता है, वैसे ही चेतन-अचेतन सर्व पदार्थों का आत्मा हुआ ही परमेश्वर नियमन करता है। ऐसा ही **"यः पृथिव्यां"** (बृ० ३.७.३) इत्यादि श्रुति-स्मृति तथा पुराणों के हजारों वचनों से सिद्ध है।

दयानन्दभाष्य– हे मनुष्य ! तुम इस ज्ञायमानसृष्टि में जो यह परिवर्तनशीलजगत् है, वह सकल ऐश्वर्यसम्पन्न सर्वशक्तिमान् परमात्मा से आच्छादन करने योग्य अर्थात् सर्व ओर से व्याप्य है। उस त्यागे हुए जगत् अर्थात् संसार में संलग्नचित्त से रहित जगत् से भोगों को अनुभव कर। किसी के भी धन(वस्तुमात्र)की अभिलाषा मत कर। अथवा स्वित् शब्द प्रश्नार्थक है। भाव यह है कि धन किसका है ? यह पूर्वोक्त स्वामिदयानन्दकृत अर्थ उचित नहीं। क्योंकि व्याप्तिमात्र से आच्छादन संभव नहीं, आकाश की व्यापकता (व्याप्ति) होने पर भी आकाश से घटादि का आच्छादन नहीं देखा जाता। आच्छादनशब्द आवरणार्थक है। मंत्र में 'तेन' यह पद पूर्वका परामर्शक है। इससे पूर्वमें जगत्का त्याग प्रकरणमें प्राप्त है नहीं, अतः तेन शब्दका जगत् का त्याग अर्थ नहीं किया जा सकता तथा त्यागे जगत् से भोगों का अनुभव संभव भी नहीं, क्योंकि त्यागी वस्तु का आत्मा

व्याप्तिमात्रेणाच्छादनानुपपत्तेः। आकाशस्य व्यापकत्वेऽपि तेन घटाद्याच्छादनादर्शनात्, आच्छादनस्य प्रावरणार्थकत्वात्। तेनेति पूर्वपरामर्शिपदं न च पूर्वं जगत्त्यागः प्रकृतः। कथं च त्यक्तेन जगता भोगानुभवः संभवति त्यक्तस्यात्मसम्बन्धित्वाभावेन भोगसाधनत्वानुपपत्तेः। किञ्च संस्कृतहिन्दीव्याख्यानयोर्विरोधः, त्यक्तेन वर्जितेन तच्चित्तरहितेनेति कस्य शब्दस्यार्थः ? न च चित्तपदं वर्जितत्वविशिष्टवृत्तिपरम्, लोके वेदेऽपि तादृशव्यवहारादर्शनात् ॥१॥

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतꣳ समाः।

एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे ॥२॥

इस लोक में जो सौ वर्ष जीने की इच्छा करे, वह अग्निहोत्रादि कर्मों को करते हुए ही जीने की इच्छा करे; मनुष्यत्वादि सकल संसारधर्मों से हीन अद्वितीय आत्मतत्त्व है। उसे न जाननेवाले नरत्वाभिमानी तुझ मनुष्य के लिये इससे अतिरिक्त और कोई प्रकार नहीं है, जिससे तुझमें पाप का स्पर्श (लेप) न हो ॥२॥

पूर्वोक्तार्थग्रहणेऽशक्तस्यासंस्कृतचित्तस्येदमुपदिशति। कर्माणि अग्निहोत्रादीनि निष्कामानि मुक्तिहेतूनि कुर्वन्नेव निर्वर्तयन्नेवेहलोके शतं समाः शतसंख्याकान् वत्सरान्, एतावदेव मनुष्याणां विधात्रा

से सम्बन्ध न होने से उसमें भोग साधनता ही असंभव है। यह दोष और भी है कि इनके हिन्दी तथा संस्कृत के व्याख्यानों में विरोध है। यदि कहा जाय 'त्यक्तपद का अर्थ वर्जित अर्थात् तच्चित्तरहित है' तो यह प्रश्न होगा कि ऐसा अर्थ किस मूल के शब्द का है ? 'चित्तपद वर्जितत्व विशिष्टवृत्ति का बोधक है,' यह भी उचित नहीं, क्योंकि लोक तथा वेद में कहीं भी तादृश अर्थ में चित्तपद का प्रयोग नहीं देखा गया है ॥१॥

पूर्वोक्त मन्त्र के अर्थग्रहण में असमर्थ अनिर्मल चित्त पुरुष के

औचित्येन कल्पितमायुः, तावत्पर्यन्तं जिजीविषेत् जीवितुमिच्छेत्।[११] पुरुषव्यत्ययेन जीवितुमिच्छेः[१२] पथ्यहितमित भक्षणेन। शतं समा इत्युपलक्षणम् यावदायुः पर्यवसानमित्यर्थः। नात्र जिजीविषा विधेया तस्या रागप्राप्तत्वादप्राप्ते शास्त्रमर्थवदिति न्यायात्, किन्तु यथा प्राप्तानुवादेन यच्छतं वर्षाणि जीवितुमिच्छेः तत्कर्माणि कुर्वन्नेव जिजीविषेरित्यर्थः। एवमनेन प्रकारेण जिजीविषति नरे नरमात्राभिमानिनि मनुष्यत्वादिसकलसंसारधर्महीनमद्वयमात्मतत्त्वमजानाने त्वयि इतः एतस्मात् अग्निहोत्रादिनिर्वर्तनात् अन्यथा प्रकारान्तरं नास्ति येन प्रकारान्तरेण कर्म पापं न लिप्यते पापस्पर्शः त्वयि न भवेत्, तत्प्रकारान्तरं नास्तीत्यर्थः। यस्मादेवं तस्मात् शास्त्रविहितानि अग्निहोत्रादीनि कर्माणि, सदा कुर्वन्नेव जिजीविषेः। यथा स्वर्गप्राप्तौ नाना

लिये आगे कहे मन्त्र का उपदेश दिया जाता है। निष्काम, मुक्ति के कारण अग्निहोत्रादि कर्मोंको कर्ता हुआ ही इस लोक में सौ वर्षपर्यन्त जीवन की इच्छा करे। "शतं समाः" यह वाक्य यावज्जीवन (आयु की समाप्ति) का उपलक्षण है। यहाँ जीवन की इच्छा का विधान नहीं है, क्योंकि जीवन की इच्छा तो राग से ही प्राप्त है। अन्य से अप्राप्त अर्थ का बोधक शास्त्र अर्थवाला होता है। किन्तु यथा प्राप्त (राग से प्राप्त) का अनुवाद होने से, जो सौ वर्ष जीने की इच्छा करे वह कर्मकर्ता हुआ ही जीने की इच्छा करे। मनुष्यत्वादि सकल संसार के धर्मों से हीन अद्वितीय आत्मतत्त्व को न जाननेवाले जीने के इच्छुक

---

११. मन्त्र में **"जिजीविषेत्"** यह प्रथम पुरुष का प्रयोग है। भाष्य में 'जीवितुमिच्छेः' यह मध्यम पुरुष के रूप में जो अर्थ किया है वह प्रथम पुरुष के स्थान में मध्यम पुरुष का परिवर्तन कर किया है। क्योंकि शंकराचार्यादि भाष्यकारों ने भी इसी प्रकार से अर्थ किया है।

१२. पथ्य, हित, मित भक्षणपूर्वक जीवन की इच्छा कर। आयुर्वेद के अनुसार पथ्य, धर्मशास्त्र के अनुसार हित तथा योगशास्त्र के अनुसार मित भोजन कर शतवर्ष जीवन की इच्छा करे। इस औचित्य से ही यहाँ शतवर्ष जीवन कहा गया है।

प्रकाराः सन्ति, तथा कर्मालेपाय नाना प्रकाराः न भवन्ति। स्वधर्मानुष्ठानलक्षण एक एव प्रकारोऽस्ति येन कर्मलेपो न भवति। उव्वटाचार्यरीत्या तु यथा स्वर्गप्राप्तौ नानाभूताः प्रकाराः सन्ति न तथा मुक्तिप्राप्तौ।

ननुकर्मणां फलेन भवितव्यम्, अथ कथं मुक्तिप्राप्तिरित्याशंक्याह —'न कर्म लिप्यते नरे' नहि मुक्त्यर्थं क्रियमाणं कर्म नरे मनुष्ये लिप्यते सम्बध्यते, मुक्तिप्रदानेनोपक्षीणशक्तिकत्वात्, तथा च बृहदारण्यकम्– 'तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन तपसानाशकेन' (बृहदा० उ० ४.४.२२)इति। विविदिषन्ति वेदितुमिच्छन्ति इति। अनेन एतद्दर्शयति यावदिच्छाप्रवृत्तिस्तावत्कर्मष्वधिकार इति। यद्यप्युव्वटाचार्यस्येदं भाष्यं सिद्धान्तविरुद्धमिव प्रतीयते, कर्मणां मुक्तिहेतुत्ववर्णनात्, यावज्जीवनकर्मानुष्ठानवर्णनेन संन्यासबाधनादिति, तथापि

पुरुषत्व के अभिमानी तुझ मनुष्य के लिये इस अग्निहोत्रादिकर्म के अनुष्ठान से अतिरिक्त और कोई प्रकार नहीं है, जिस प्रकारान्तर से तुममें पाप का स्पर्श न हो, वह प्रकारान्तर नहीं है। प्रकारान्तर नहीं है, अत एव शास्त्र से विहित अग्निहोत्रादिककर्मों को सदा करता हुआ ही जीने की इच्छा कर। जैसे स्वर्ग की प्राप्ति में अग्निहोत्रादिक अनेक प्रकार हैं, उसप्रकार कर्म से असम्बन्ध के लिये नाना प्रकार नहीं हैं। किन्तु स्वधर्म का अनुष्ठानरूप एक ही प्रकार है, जिससे कि कर्म का लेप नहीं होता। उव्वटाचार्य की रीति से तो जैसे स्वर्ग की प्राप्ति में नाना प्रकार है, उस प्रकार मुक्ति की प्राप्ति में अनेक प्रकार नहीं, यह अर्थ है।

कर्म का तो कोई फल होना चाहिये, कर्म से मुक्तिप्राप्ति कैसी ? ऐसी आशंका कर श्रुति कहती है **"न कर्म लिप्यते नरे"** मुक्ति के लिये किया कर्म मनुष्य को नहीं लगता अर्थात् स्वर्गादिफल नहीं देता। क्योंकि मुक्ति प्रदान कर देने से फल देने की शक्ति क्षीण हो जाती है। इसी अर्थ का बोधक **"तमेतं"** यह बृहदारण्यकवाक्य है। इस वाक्य से यह बोधन होता है कि जब तक फल की इच्छा से प्रवृत्ति होती है, तब तक ही पुरुष का कर्मों में अधिकार है। यद्यपि उव्वटाचार्य का यह भाष्य सिद्धान्त से विरुद्ध जैसा प्रतीत होता है; क्योंकि इसमें कर्मों को

यावदिच्छाप्रवृत्तिस्तावत्कर्मस्वधिकार इत्युक्त्या यावद्रागस्तावत्कर्मस्वधिकार इति सिद्धान्तं प्रतिपादयति। यद्यपि "तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय" (श्वेताश्वतरोपनिषद् ३.८) इति श्रुत्या ज्ञानैकसाध्यत्वं मोक्षस्योक्तम्, ज्ञानातिरिक्तस्य मोक्षसाधनत्वं प्रतिषिद्धमेव, तथापि चित्तशुद्धिद्वारा कर्मणाम्पारम्पर्येण सिद्धान्तेऽपि मुक्तिहेतुत्वाङ्गीकारेणाविरोध एव। 'मुक्तिप्रदानेनोपक्षीणशक्तिकत्वादि'त्यस्य मुक्तिहेतुतत्त्वज्ञानोपयोग्यन्तःकरणशुद्धयापादनेनोपक्षीणशक्तिकत्वादित्यर्थो बोद्धव्यः।

ननु पूर्वमन्त्रेण ब्रह्मात्मज्ञानप्रतिपादनं कुर्वन्नेवेहेति मन्त्रेण कर्मप्रतिपादनमिति समुच्चितयोरेव ज्ञानकर्मणोर्मुक्तिसाधनत्वप्रतीतौ सत्यामधिकारव्यवस्थाऽनुपपन्नेति चेन्न, ज्ञानकर्मणोर्विरोधात्।

मुक्ति का कारण कहा है तथा जीवनपर्यन्त कर्मों के अनुष्ठान का वर्णन होने से शास्त्रसिद्धसंन्यास का बाध भी होता है। तथापि 'जबतक राग है, तब तक कर्मों में अधिकार है' यह उव्वटभाष्य का वर्णन सिद्धान्त को ही प्रतिपादन करता है, अतः सिद्धान्तविरुद्ध नहीं। यद्यपि **"तमेव विदित्वा"** इस श्रुति के द्वारा मोक्ष को ज्ञान से साध्य कहा है। ज्ञान से अतिरिक्त मोक्ष के साधन का निषेध भी किया है। तथापि चित्तशुद्धि द्वारा कर्मों का परम्परा से मुक्तिहेतुत्व सिद्धान्त में भी मान्य होने से अविरोध ही है। 'मुक्ति प्रदान से उपक्षीणशक्तिक होने से' इसका तात्पर्य 'मुक्तिहेतु जो तत्त्वज्ञान है, उसके उपयोगी अन्तःकरणशुद्धिसम्पादन से उपक्षीणशक्तिक होने से' ऐसा समझने योग्य है।

"ईशावास्य" इस पूर्व मन्त्र ने ब्रह्मज्ञान का प्रतिपादन किया है, **"कुर्वन्नेवेह"** इस मन्त्र ने कर्म का प्रतिपादन किया है, अतः यह सिद्ध होता है कि समुच्चय को प्राप्त (मिले हुए ही) ज्ञान तथा कर्म मुक्ति के साधन हैं। ऐसी प्रतीति होने पर अधिकार-व्यवस्था अनुपपन्न (असिद्ध) है" ऐसा कहना उचित नहीं; क्योंकि ज्ञान तथा कर्म का विरोध है। विरोध इस प्रकार है कि कर्म आत्मा में कर्तृत्व-भोक्तृत्व-नानात्वादिक धर्मों की अपेक्षा करके प्रवृत्त होते हैं। अर्थात् 'मैं कर्ता-भोक्ता तथा नाना हूँ' ऐसा अभिमान होने पर ही कर्म में प्रवृत्ति होती है। ज्ञान तो कर्तृत्व-भोक्तृत्व-नानात्व से शून्य (रहित) अद्वितीय,

तथाहि कर्माणि तावदात्मनः कर्तृत्वभोक्तृत्वनानात्वादिकमपेक्ष्य प्रवर्तन्ते ज्ञानं तु कर्तृत्वभोक्तृत्वनानात्वशून्यमद्वयमपेतब्रह्मक्षत्रादिभेदं ब्रह्माणं प्रकाशयति। तेन त्यक्तेनेत्यादिना कर्तृत्वभोक्तृत्वनानात्वप्रमुखस्यत्यागानुवादेन सच्चिदानन्दात्मकमद्वितीयब्रह्मात्मज्ञाननिष्ठादार्ढ्येनात्मनः पालनीयत्वमुपदिश्यते। तादृशं ज्ञानं न कर्मणा समुच्चयार्हम्, कर्तृत्वादिप्रविलापनेन तन्निरोधात्।

ननु ज्ञानकर्मणोर्वेदविहितत्वेन शुद्धिसाम्याद् विरोधोऽसिद्ध इति तदप्यसत्, ऋतुगमनत्रिदण्डिधर्मयोरप्यविरोधप्रसंगात्। तदुभयं नैकस्य विहितमितिचेत्, प्रकृतेऽपि तत्तुल्यत्वात्। न च तत्रप्रतिषेधात् नैककर्तृत्वमितिवाच्यम्, "न कर्मणा न प्रजया न धनेन त्यागेनैकेऽमृतत्वमानशुः, (तै०आ० १०.१०, नारायणो० १२.३),"नानुध्यादबहूञ्छब्दान्" (बृहदा० ४.४.२१) इत्यादि प्रतिषेधस्य प्रकृतेऽपि तुल्यत्वात्।

ब्राह्मण-क्षत्रियादिक भेद से रहित, ब्रह्मस्वरूप आत्मा को जनाता है। "तेनेत्यक्तेन" इत्यादिमन्त्रभाग से कर्तृत्व-भोक्तृत्व-नानात्व जिसमें प्रमुख हैं, उस सारे ही संसारके त्यागपूर्वक सच्चिदानन्दस्वरूप अद्वितीय ब्रह्म से अभिन्न आत्मा के ज्ञान की दृढ़ निष्ठा से आत्मा की रक्षा का उपदेश किया गया है। अतः सिद्ध होता है कि कर्तृत्व-भोक्तृत्व से शून्य ब्रह्मात्मा का ज्ञान, कर्तृत्व-भोक्तृत्व की अपेक्षा रखनेवाले कर्म के साथ समुच्चय (मेल) के योग्य नहीं है। समुच्चय तो तभी संभव है, जब ज्ञान के समय कर्म रहे; परन्तु ज्ञान के समय तो कर्तृत्व-भोक्तृत्व के विलय होने से कर्म का ही बाध हो जाता है।

'ज्ञान तथा कर्म दोनों को ही वेद से विहित होने के कारण शुद्धि (प्रामाणिकता) समान होने से विरोध सिद्ध नहीं होता', यह शंका भी अर्थहीन है। क्योंकि इस तरह तो स्त्री का ऋतुकाल में गमन तथा त्रिदण्डिसंन्यासी के धर्म (स्त्री का अस्पर्श) का भी विरोध न रहेगा। यदि कहा जाय कि 'वह दोनों धर्म एक के लिये विहित नहीं। ऋतुगमन गृहस्थ के लिये तथा स्त्री का अस्पर्श त्रिदण्डि-संन्यासी के लिये है।', यह तो प्रकृत में भी समान है। यदि कहा जाय कि 'त्रिदण्डसंन्यास में स्त्री प्रसंग का निषेध है, अतः उन

न च 'न कर्मणेति' निषेधस्य केवलकर्मविषयत्वेन चरितार्थत्वेन न समुच्चयविषयत्वं, केवलपदव्यवच्छेद्यस्य समुच्चयस्याद्याप्यसिद्धत्वात्। ज्ञानाज्ञानाद्यवस्थाभेदेन ज्ञानकर्मणोः क्रमेणैकपुरुषानुष्ठेयत्वे ज्ञानोत्तरसमुच्चयानुपपत्तेः। वशिष्ठरामकृष्णादीनान्तु कर्मानुष्ठानानि न कर्माणि, तत्रकर्तृत्वादि[१३]बुद्ध्यभावात्, किन्तु कर्माभासानि लोकसंग्रहैकप्रयोजनानि, मुक्तिं प्रति तेषामहेतुत्वात्। यथा दाहादव्यवहितपूर्वक्षणवर्तित्वेऽपि नाग्नेः पिङ्गलताया दाहहेतुत्वमन्यथासिद्धत्वात् तथा कर्मणामप्रयोजकत्वान्न मोक्षहेतुत्वम्, 'नान्यः पन्था विद्यतेऽय-

---

दोनों का एक कर्ता नहीं हो सकता' यह कहना भी उचित नहीं; क्योंकि **'न कर्मणा'** इत्यादि श्रुतियों से कर्म से मोक्ष का प्रतिषेध समान ही है।

"न कर्मणा" इस श्रुति में किये निषेध को केवल कर्मविषयक होने से गतार्थता है, वह निषेध कर्मसमुच्चय का नहीं है। अर्थात् श्रुति में किये निषेध का अभिप्राय यह है कि केवल कर्म मुक्ति का हेतु नहीं, वह निषेध कर्मसमुच्चय का नहीं है," यह कहना उचित नहीं, क्योंकि यदि समुच्चय सिद्ध हो जाता तब तो 'केवल' पद उसकी व्यावृत्ति करता, किन्तु समुच्चय तो अभी तक सिद्ध ही नहीं हुआ, अतः केवल कर्म का निषेध नहीं कहा जा सकता। ज्ञान तथा अज्ञान अवस्था के भेद से एक पुरुष के द्वारा ज्ञान तथा कर्म का क्रम से अनुष्ठान सिद्ध हो जाने पर ज्ञान के पश्चात् समुच्चय के सिद्ध न होने से केवल कर्म का निषेध नहीं। ज्ञान समकाल किया वसिष्ठ-राम-कृष्णादि का कर्मानुष्ठान कर्म नहीं है, क्योंकि उनमें कर्तृत्व-भोक्तृत्वाभिमान का अभाव है। अतः उनका कर्मानुष्ठान कर्माभास ही है। उनके कर्माभास का प्रयोजन लोक-संग्रहमात्र है; क्योंकि कर्मों को मुक्ति के प्रति कारणता है ही नहीं। जैसे दाह से पूर्वक्षणवृत्ति, अग्नि की पिङ्गलता दाह के प्रति हेतु नहीं, क्योंकि अन्यथा सिद्ध है, इसी प्रकार कर्म मोक्ष के प्रति हेतु नहीं, क्योंकि मोक्ष के प्रति अप्रयोजक (असाधक) है। **'नान्यः पन्था'** यह श्रुति भी ज्ञान से अतिरिक्त

---

१३ कर्तृत्व-भोक्तृत्व-अहङ्कार-ममत्वबुद्धि और अभिनिवेश।

नाय' (शुक्ल० ३१.१८, श्वेता० ६.१५, त्रिपाद विभूति० ४) इति निषेधात् । अज्ञानतत्कार्यनिवृत्तौ ज्ञानहेतुत्वस्य क्लृप्तत्वात् । कर्तृत्वाद्यध्यासाश्रयं कर्म शुद्धत्वाकर्तृत्वादिज्ञानेनोपमृद्यत एव । मन्त्रलिङ्गादपि तयोर्भिन्नाधिकारित्वमेव प्रतीयते । जिजीविषो रागिणः कर्मविहितम् । सर्वमीश्वर एवेति ज्ञानवतस्त्याग एव विहितः ।

किञ्च धनसम्पन्नस्य कर्माधिकारः सिद्ध्यति । प्रथम मन्त्रार्थाधिकारिणस्तु धनाकांक्षानिषेधेन कर्माधिकारनिषेधस्यार्थसिद्धत्वात् । जिजीविषाऽपि कर्माधिकारिण एव न ज्ञानाधिकारिणः, तस्य 'न जीविते मरणे वा गृद्धिं कुर्वीत' (तैत्तिरीयशाखीय नारायणो०) इति जिजीविषा निषेधात् । 'अरण्यमियात्' (नारायणो०) इति च पदं ततो न पुनरियादित्यर्थपरम् । जीविताकांक्षायाः पूर्वमेवनिषेधात्, तस्य स्त्रीजनासंकीर्णाश्रमविधानाच्च । न दम्पत्योः सहाधिकार प्रयुक्तानि कर्माणि तस्य सम्भवन्ति, प्रत्यावृत्तिनिषेधात् । 'तत्र को मोहः कः

कर्मादि का मोक्ष के प्रति निषेध करती है । अज्ञान तथा उसके कार्य की निवृत्ति में ज्ञान हेतु है, यह रज्जुसर्पादि स्थल में प्रसिद्ध भी है । कर्तृत्वादि अध्यास के अधीन होने वाला कर्म आत्मा के शुद्धत्वाकर्तृत्वादि के ज्ञान से बाधित हो ही जाता है । मन्त्र में अर्थ प्रकाशन सामर्थ्यरूपलिंग से भी ज्ञान तथा कर्म के भिन्न अधिकारी हैं, यही प्रतीत होता है । जीवन की इच्छावाले रागी पुरुष के लिये कर्म विहित है तथा 'सर्व ईश्वर है' इस प्रकार के ज्ञानवाले पुरुष को तो त्याग ही विहित है । भाव यह है कि रागी कर्म का अधिकारी है । विरागी ज्ञान का अधिकारी है । 'सर्व परमेश्वर है' इस प्रकार ज्ञानवाले पुरुष के लिये त्याग ही विहित है ।

धन सम्पन्न पुरुष का ही कर्म में अधिकार सिद्ध होता है । प्रथम मन्त्र के अधिकारी के लिये धन की आकांक्षा का निषेध होने से कर्म में अधिकार का निषेध अर्थ से ही सिद्ध हो जाता है । जीवन की इच्छा भी कर्माधिकारी के लिये ही है, न कि ज्ञानाधिकारी के लिये । क्योंकि ज्ञानाधिकारी के लिये तो श्रुति ने जीवन तथा मरण की इच्छा का निषेध किया है । श्रुति के "अरण्यमियात्" इस पद का भी 'संन्यास से लौटकर न आवे' इसी में तात्पर्य

शोक एकत्वमनुपश्यत' (ईशा० ७) इति सनिदानानर्थप्रहाणं ज्ञाननिष्ठाफलम् । देशान्तरस्वर्गादिगमनं हिरण्यगर्भपदप्राप्त्यादिलक्षणं तु कर्मफलम् । 'अग्ने नय सुपथा राये'(ईशा० १६) इति मार्गयाचनं, ज्ञाने तु 'न तस्य प्राणा उत्क्रामन्तीहैव समवनीयन्ते' (बृहदा० ४.४.६) इति तदनपेक्षमेव स्वात्मनावस्थानलक्षणं फलम् । 'इमौ द्वावेव पन्थानावनुनिष्क्रान्ततरौ भवतः क्रियापथश्चपुरस्तात् संन्यासश्चोत्तरेण तयोः संन्यासपथ एवातिरेचयति' (तैत्ति०नारायणो०) इति श्रुत्यापि भिन्नाधिकारित्वं तयोः प्रतिपाद्यते ।

पुरस्तात् सृष्टिकाले अनुनिष्क्रान्ततरौ भूतसृष्टिमनुप्रवृत्तौ भिन्नाधिकारित्वादुभयोः संन्यास एवातिरिक्तः श्रेष्ठोभवति । परमपुरुषार्थाव्यवधानात् । तैत्तिरीयकेऽपि—"कर्माणि प्रयुतानि वा एता-

---

है । क्योंकि जीवन की इच्छा का तो पहिले ही निषेध कर दिया है । ज्ञान के अधिकारी को स्त्री से असम्बन्धित आश्रम का विधान है । अतः पति-पत्नी दोनों के साथ अधिकार से होने वाले कर्म ज्ञानाधिकारी संन्यासी को सम्भव नहीं है । संन्यासाश्रम से लौटने का तो निषेध है ही । **"तत्र को मोहः"** इस श्रुति से कारण के सहित सर्व अनर्थ की निवृत्ति ज्ञाननिष्ठा का फल है । देशान्तरस्वर्गादिगमन तथा हिरण्यगर्भ पद की प्राप्ति आदि कर्म का फल है । **"अग्ने नय"** इस श्रुति के अनुसार कर्म तथा उपासना का अधिकारी श्रेष्ठमार्ग से गमन की याचना करता है । **"न तस्य प्राणाः"** इस श्रुति के अनुसार ज्ञान होने पर तो मार्ग की अपेक्षा के बिना अपने स्वरूप से स्थिति ही फल है । **"इमौ द्वावेव"** इस श्रुति से भी ज्ञान तथा कर्म के अधिकारी भिन्न ही प्रतिपादन किये गये हैं ।

भिन्नाधिकारी वाले होने से ज्ञान-कर्म दोनों में संन्यास श्रेष्ठ है । भाव यह है कि यदि समुच्चयवादी के अनुसार ज्ञान-कर्म का एक ही अधिकारी होता तथा दोनों मिलकर मोक्ष प्रदान करते तो दोनों की समता होने से किसी को श्रेष्ठ नहीं कहा जा सकता था । भिन्न अधिकारी होने से तथा मोक्ष का साक्षात् साधन होने से ही संन्यास श्रेष्ठ कहा गया है । तैत्तिरीयक ब्राह्मण में भी कहा है, 'कर्मों का विप्रकृष्ट फल है । अर्थात् सातिशय फल है । ज्ञानमार्ग का अतिशय (सर्वश्रेष्ठ)

न्यवराणि संन्यास एवातिरेचयति'' इति कर्मणां विप्रकृष्टफलत्वम्, ज्ञानमार्गस्यातिशयितफलत्वञ्चाम्नातम् । भगवता व्यासेनापि तथैव स्मृतम् —'द्वाविमावथ पन्थानौ यत्र वेदाः प्रतिष्ठिताः । प्रवृत्तिलक्षणो धर्मः निवृत्तिश्च विभावितः' (महा० शान्ति० २४१.६) इति ।

उव्वटाचार्यास्तु त्वयीति तवेति व्यत्ययेन मुक्तिरिति शेषमभ्युपगच्छन्ति । एवं कर्मानुष्ठानात्तव मुक्तिरस्ति अन्यथा इतः प्रकाराद-न्यथा मुक्तिर्नास्तीति, तदपि पूर्वोक्तरीत्या समाधेयम् ।

ननु कर्मानुष्ठानेन 'कर्म न लिप्यते' इति विपरीतमेतत्, तत्त्वज्ञानेनात्मनोऽसंगत्वज्ञानेन कर्मालेपवादस्यैव संगतत्वात् । 'यथा पुष्कर-पलाश आपो न श्लिष्यते । एवं विदि कर्म न श्लिष्यते' (छान्दो० ४.१४.३) इति श्रुत्यभिप्रायात् । 'असंगो न हि सज्जते' (बृह० ४.२.४) इति श्रुत्यनुसारेण यद्यप्यात्मा नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभावः कर्तृत्वादि विकार-हीन एव तथापि जपाकुसुमसान्निध्येन लौहित्यमिव स्फटिके देहेन्द्रियादि-

---

फल है ।', भगवान् व्यासजी ने भी कहा है कि—'जिनमें सम्पूर्ण वेद प्रतिष्ठित हैं वे दो ही मार्ग हैं । एक प्रवृत्तिरूप धर्म (कर्ममार्ग), दूसरा निवृत्तिरूप धर्म अर्थात् संन्यासपूर्वक ज्ञाननिष्ठा ।'

उव्वटाचार्य तो कहते हैं—'कर्मानुष्ठान से तेरी मुक्ति होगी । इससे और प्रकार से मुक्ति नहीं है ।' इसका समाधान भी यह है कि अन्तःकरण की शुद्धि तथा ज्ञान द्वारा ही कर्म मुक्ति का साधन है ।

शङ्का—"कर्म के अनुष्ठान से कर्मलेप नहीं होता, यह तो विपरीत कथन है । क्योंकि तत्त्वज्ञान से आत्मा की असङ्गता का निश्चय हो जाने से कर्म के लेप न होने का कथन (प्रवाद) ही संगत है । यथा **'पुष्करपलाश'** इस श्रुति का भी यही अभिप्राय है कि ज्ञानी में ही कर्मलेप नहीं होता । "असंग आत्मा किसी से लिप्त (सम्बन्धि) नहीं होता" इस श्रुति के अनुसार यद्यपि आत्मा नित्य शुद्ध-बुद्ध-मुक्त-स्वभाव कर्तृत्वादि विकारहीन ही है, तथापि जपाकुसुम की समीपता से स्फटिक में लालिमा के समान देहेन्द्रियादि के सान्निध्य (तादात्म्याध्यास) से असंग आत्मामें व्यापार भासता है । भले ही लालिमा की प्रतीतिकाल में भी स्फटिक स्वच्छ ही है । उसी प्रकार देहेन्द्रियादि की समीपता से आत्मा में प्रतीयमान व्यापार

सान्निध्यवशात् असंगेऽप्यात्मनि मिथ्याव्यापारवत्त्वं भासते। लौहित्य-भानदशायामपि यद्यपि स्फटिकः स्वच्छ एव, तथैव व्यापारवद्देहादिसान्निध्यवशादवभासमानमपि व्यापारवत्त्वमात्मनि मिथ्यैव। तच्च यद्यपि स्वरूपतो ज्ञानाज्ञानवत्सु साधारणमेव तथापि ज्ञानी ज्ञानवशान्निर्लेपत्वमात्मनः प्रत्येति, तदितरस्त्वज्ञानाल्लिप्यते। तस्मात् कर्मानुष्ठानात्कर्मनिर्लेपत्वमसंभवमेवेतिचेन्न, तत्र कर्मपदेन पापकर्मण एव विवक्षितत्वात्। कंटकेन कंटकोद्धारो यथा भवति तथा वैदिकैः कर्मभिः पाशविकानि कर्माणि विरुद्धयन्ते,'अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा' (ईशा० ११) इति श्रुतेः। कर्माकरणेन विपरीतकरणप्रसक्तेन 'अकुर्वन् विहितं कर्म' (मनु० ११:४४) इति विहिताकरणेन विपरीतकरणप्रसक्तेः 'नहि कश्चित् क्षणमपि जातुतिष्ठत्यकर्मकृत्' (गीता० ३.५) इति गीतोक्तेः।

मिथ्या ही है। यद्यपि व्यापार ज्ञानी तथा अज्ञानी सर्व में प्रतीत होता है, तथापि ज्ञानी ज्ञान के बल से आत्मा की निर्लेपता ही अनुभव करता है। ज्ञानी से अतिरिक्त अज्ञानी पुरुष तो अज्ञान की महिमा से असंग आत्मा को कर्मादि से लिप्त अनुभव करता है। इसलिये अज्ञानी पुरुष को कर्मानुष्ठान से कर्मलेप का अभाव असंभव है," यदि ऐसा कहा जाय तो वह भी उचित नहीं। क्योंकि श्रुति में कर्मपद से पापकर्म ही कहा गया है, अतः शास्त्रीय पुण्यकर्म से पाप का लेप न होना(निवृत्ति)स्वाभाविक है। जैसे कंटकसे कंटक का उद्धार हो जाता है, उसी प्रकार वैदिक कर्मों से पाशविक (पाप)कर्मविरुद्ध हैं ही अर्थात् निवृत्त हो जाते हैं। वैदिक कर्मों से पापरूप मृत्यु से पार होना स्वयं श्रुति भी कह ही रही है। अज्ञानी पुरुष के लिये कर्म न करने से भी अलेप संभव नहीं है। विहित कर्म न करनेसे विपरीत कर्मकी प्राप्ति हो जाती है। क्योंकि स्वयं गीता का कथन है कि कोई भी अज्ञ पुरुष एक क्षण भी कर्म करने से अछूता नहीं रहता। कर्तृत्वाभिमान बना ही रहता है। ऐसी दशा में कर्म न करने से भी कर्मका अलेप संभव नहीं।

और जो यह कहा कि "भगवदर्पण बुद्धि से किये जानेवाले कर्म से कर्मलेप नहीं होता है, क्योंकि ऐसा स्वयं 'यज्ञार्थात्' यह गीता-वाक्य कह रहा है," यह कथन भी बुद्धि की शुद्धि द्वारा तत्त्वज्ञान की उत्पत्ति से ही संभव है, अर्थात् भगवदर्पण बुद्धि से किये कर्मसे बुद्धि-

यत्तु भगवदर्पणबुद्धयानुष्ठीयमानकर्मणा कर्मलेपो न भवतीति 'यज्ञार्थात् कर्मणोऽन्यत्रलोकोऽयं कर्मबन्धनः' (गीता ३.९) इत्युक्ते-रिति तदपि बुद्धिशुद्धिद्वारा तत्त्वज्ञानोत्पादनद्वारेणैवोपपद्यते, असंगा-त्मानुभवमन्तराऽहंकर्ता मयाऽनुष्ठितानि कर्माणीतिभ्रमानिवृत्तेः । तस्माद् वैदिककर्मानुष्ठानेन पापं कर्म न लिप्यत इत्येवार्थः ।

निःस्पृहस्यापि ज्ञाननिमित्ते कर्मण्यधिकार इति उव्वटाचार्यः । अन्येषां रीत्या तु मा गृधः कस्यस्विद्धनमितिरीत्या येषां धनाकांक्षा-त्यागपूर्वके ज्ञाननिष्ठामये संन्यासेऽधिकारो नास्ति तेषामेव कर्मस्वधि-कारः । निःस्पृहस्यापि भगवदाराधनबुद्धया क्रियमाणे कर्मण्यधिक्रिय-माणेऽपि न सिद्धान्तहानिः । तादृशैः कर्मभिर्वैराग्यतत्तद्दाढर्योत्पत्ति-सम्भवाच्च । अत एव तादृशैषणात्रयतद्धेतुवैराग्यसाधनविवक्षया भगवदाराधननिष्कामभावेन कर्मणां विधानं युक्तम्—

"आरुरुक्षोर्मुनेर्योगं कर्म कारणमुच्यते ।
योगारूढस्य तस्यैव शमः कारणमुच्यते ।।"

(गी० ६.३) इति गीतोक्तेः ।

शुद्धि, उससे तत्त्वज्ञान, तत्त्वज्ञान से कर्मों का अलेप होता है, यह अभिप्राय है । क्योंकि असङ्ग आत्मा के अनुभव के बिना "मैं कर्ता हूँ", "मेरे द्वारा कर्म किये गये हैं" यह भ्रम निवृत्त नहीं होता । इसलिये 'वैदिक कर्मानुष्ठान से पापकर्म लेप नहीं करता', यही श्रुति का अर्थ है ।

'निःस्पृह पुरुष का भी ज्ञान के निमित्त कर्म में अधिकार है,' ऐसा उव्वटाचार्य का अभिप्राय है । अन्याचार्यों की रीति से जिनका धन की आकांक्षा के त्यागपूर्वक ज्ञाननिष्ठामय संन्यास में अधिकार नहीं है, उनका ही कर्म में अधिकार है । निःस्पृहपुरुष का भगवदा-राधन बुद्धि से किये जाने वाले कर्म में अधिकार मानने पर भी सिद्धान्त की हानि नहीं है; क्योंकि फल की इच्छा से रहित भगवदा-राधन बुद्धि से किये कर्मों से वैराग्यादिक उन-उन साधनों की दृढ़ता की उत्पत्ति भी संभव है । इसलिये ही तीनों एषणा तथा उसके साधन स्त्री आदिकों से वैराग्य के साधनों को कहने के तात्पर्य से भगवद-

न च फलाकांक्षाभावे कर्मणि प्रवृत्त्यनुपपत्तिरितिवाच्यम्, 'तस्मादसक्तः सततं कार्यं कर्म समाचर' (गी० ३.१९) इति गीतोक्त्या भगवदाज्ञावशंवदस्य कर्मणि प्रवृत्त्युपपत्तेः, कर्माकरणे प्रत्यवायभयेन च कर्मणि प्रवृत्त्युपपत्तेः । न च 'कर्मणा बद्धचते जन्तुः' (शान्तिपर्व २४१.७, संन्यासो० ९८) इति बन्धनत्वं स्यात् कर्मणाम् 'असक्तो ह्याचरन् कर्म परमाप्नोतिपूरुषः' (गीता ३.१९) इति निष्कामकर्मणां परमात्मप्राप्तिहेतुत्वोक्तेः,

"ब्रह्मण्याधाय कर्माणि संगं त्यक्त्वा करोति यः ।
लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवांभसा ॥"

(गी० ५.१०) इति भगवदुक्तेः ।

दयानन्दः "मनुष्य इह संसारे कर्माणि धर्म्याणि वेदोक्तानि निष्कामकृत्यानि कुर्वन्नेव शतं समाः जिजीविषेत् । एवं धर्म्ये कर्मणि प्रवर्तमाने त्वयि नरे न कर्मलिप्यते, इतोऽन्यथा नास्ति लेपाभाव" इति ।

तदप्यसत्, जिजीविषाया राग प्राप्तत्वेन विधानानर्हत्वात्, वैदिकानि कानि कर्माणीत्यद्याप्यनुक्तेः । न चाग्निहोत्रदर्शपूर्णमासचातुर्मास्यज्योतिष्टोमराजसूयवाजपेयाश्वमेधाख्यानि कर्माणि सत्राणि

आराधनपूर्वक निष्कामकर्मों का विधान उचित ही है। क्योंकि "आरुरुक्षोः" यह गीतावाक्य भी इसी अर्थ को कह रहा है।

'फल की आकांक्षा न होने पर कर्म में प्रवृत्ति ही असंभव है,' ऐसा कहना उचित नहीं, क्योंकि–'तस्मादसक्तः' इस गीता के कथन से भगवान् की आज्ञा में रहनेवाले की निष्कामकर्म में प्रवृत्ति संभव है। फल की आकांक्षा से रहित पुरुष की कर्म न करने पर पाप के भय से भी कर्म में प्रवृत्ति बन सकती है। यदि कहा जाय कि "कर्मणा" इस शास्त्र के वाक्यानुसार तो निष्कामकर्म भी बन्धनरूप ही होगा, तो यह कहना भी उचित नहीं; क्योंकि "असक्तो ह्याचरन्" और "ब्रह्मण्याधाय कर्माणि' यह भगवद्वचन निष्कामकर्मयोग को परमात्मप्राप्ति में और पाप से अलिप्त रहने में हेतु बता रहा है, अतः निष्कामकर्म बन्धनरूप नहीं।

वा त्वयाभिप्रेयन्ते,. तत्पराणामन्यथाऽन्यथा त्वया व्याख्यातत्वात् । ब्राह्मणानि त्वद्रीत्या व्याख्यानमात्राणीति न तानि स्वातन्त्र्येण कर्मबोधकानि । सूत्राणि तु न स्पृश्यन्ते त्वया ।।२।।

असुर्या नाम ते लोका अन्धेन तमसावृताः ।

तांस्ते प्रेत्याभिगच्छन्ति ये के चात्महनो जनाः ।।

(४०.३)

अद्वितीय परमानन्द—परमात्मतत्त्व के अनभिज्ञ, अनात्मप्रपञ्च —बाह्य जगत् और देहेन्द्रियादि में रमण करनेवाले उस ब्रह्मात्मतत्त्व की अपेक्षा निश्चय ही 'असुर' कहे जाते हैं । भोगायतनरूप देवादिदेह इस दृष्टि से 'असुर-सम्बन्धी-लोक' हैं । ये अज्ञानान्धकार से आच्छादित हैं । परमानन्दस्वरूप अजर-अमर ब्रह्मात्मतत्त्व को देहेन्द्रियादि के अनुरूप जानकर जगत् में रमण करनेवाले आत्मतिरस्कार के कारण आत्महत्यारे हैं । ऐसे बहिर्मुख पुण्य-पाप के अर्जन में ही रमे रहते हैं । देहत्याग के बाद कर्मानुरूप देव, मनुष्यादि लोकों को प्राप्त होते हैं ।।३।।

स्वामी दयानन्द कहते हैं कि—'मनुष्य इस संसार में धर्म से प्राप्त वेदोक्त निष्कामकर्मों को करता हुआ ही सौ वर्ष जीने की इच्छा करे । इस प्रकार धर्मयुक्त कर्म में प्रवृत्त होनेवाले पुरुष में कर्मलेप नहीं होता । इससे अन्य किसी प्रकार से कर्मलेपाभाव नहीं हो सकता ।'

यह उनका कहना असत् (अनुचित) है; क्योंकि जीने की इच्छा तो राग से प्राप्त है, उसका विधान संभव नहीं-विधान के योग्य नहीं । जिन वैदिककर्मों के अनुष्ठान से लेपाभाव कहा,उन वैदिककर्मों का अब तक अपने भाष्य में वर्णन ही नहीं किया कि वे वैदिककर्म हैं कौन ? यदि कहें कि अग्निहोत्र-दर्श-पूर्णमास-चातुर्मास्य-ज्योतिष्टोम-राजसूय-वाजपेय-अश्वमेध नामवाले ही वे कर्म हैं तथा अन्य सत्ररूप वे कर्म हैं तो आपने

ब्रह्मात्मज्ञानप्रशंसार्थमविद्वन्निदाऽनेनमन्त्रेणोच्यते । असुर्याः— अद्वयं परमात्मभावमपेक्ष्य देवादयोऽप्यसुराः, अशोभनेऽनात्मप्रपञ्चे रमणात् । असुषु प्राणोपलक्षितेषु देहेन्द्रियमनोबुद्धिप्रभृतिषु जगत्सु रमणाद्वा असुराः । तेषां स्वभूता लोका असुर्याः । नाम शब्दः प्रसिद्धौ । ते ये यत्तदोर्व्यत्ययः । लोक्यन्ते दृश्यन्ते भुज्यन्तेविषया एषु इतिलोकाः देवादि जन्मानि । एवम्विधाः प्रसिद्धाः असुर्याः लोकाः । ये च अन्धेन ब्रह्मात्मतत्त्वादर्शनात्मकेन तमसा अज्ञानेनावृता आच्छादिताः । तान् तादृशान् लोकान् ते मूढाःप्रेत्य वर्तमानदेहं त्यक्त्वा अभिगच्छन्ति प्राप्नुवन्ति स्वस्वपुण्यापुण्यपरिपाकवशात् देवमनुष्यादिरूपां विविधां योनिं प्रपद्यन्त इत्यर्थः । के ते इति तानाह 'ये के चात्महनो जनाः' आत्मानं घ्नन्ति ये ते आत्महनो जनाः ।

यजुर्वेद-संहिता में उन कर्मों को स्वीकार ही नहीं किया । रही ब्राह्मण-ग्रन्थों की बात, सो आपकी रीति के अनुसार वे तो वेदों के व्याख्यान-मात्र हैं, वे स्वतन्त्ररूप से कर्म के बोधक आपके मत में हैं ही नहीं । सूत्रों को तो आपने छूआ तक नहीं ।।२।।

ब्रह्मात्मज्ञान की प्रशंसा के लिये अविद्वान् (अज्ञानी) की निन्दा इस तृतीय मंत्र से कही जा रही है । अद्वितीय परमात्मरूपता की अपेक्षा से देवादि भी असुर हैं । क्योंकि देवादि भी तुच्छ प्रपञ्च में रमण करते (आनन्दमनाते) हैं । अथवा 'असु' अर्थात् प्राण से उपलक्षित देहेन्द्रिय-मन-बुद्धि आदिक जगत् के पदार्थों में रमण करने से देवादि भी असुर कहे जाते हैं । उनके भोगसाधनरूप लोक, असुर्य अर्थात् असुरसम्बन्धी लोक कहे जाते हैं । मंत्र में नामशब्द प्रसिद्धि का वाचक है । जिन स्थानों में शब्द-स्पर्शादि विषयों का अनुभव किया जाता है, उनको लोक कहते हैं । वे लोक कौन हैं ? वे हैं—देवादि के शरीर, क्योंकि शरीर में स्थित होकर ही सर्व जीव विषयों का अनुभव करते हैं । ऐसे प्रसिद्ध जो देवादिक शरीर हैं, वे ही असुर सम्बन्धी लोक हैं । ये लोक अर्थात् ये शरीर ब्रह्माभिन्न आत्मतत्त्व के अज्ञानरूप अन्धकारसे आवृत (आच्छादित) हैं । अज्ञानरूप अंधकार से आच्छादित इन लोकों को मूढ़ (अज्ञानी)पुरुष वर्तमानदेह को त्यागकर प्राप्त होते हैं । अर्थात् अपने पुण्य-पाप के कारण देव-मनुष्यादिरूप अनेक योनियों को प्राप्त

नन्वात्मनो नित्यत्वात् कथमात्महननं संभवति इतिचेन्न, आत्मतिरस्कारस्य बधापेक्षयापि भयंकरत्वात्। 'सम्भावितस्य चाकीर्तिर्मरणादतिरिच्यते' (गीता २.३४) इत्युक्तेः। अपास्ताशेषानर्थव्राते निरतिशयानन्दस्वप्रकाशचिदात्मके आत्मतत्त्वे कर्तृत्वभोक्तृत्वादिसकलानर्थपरिप्लुतत्वस्यारोप एव तद्धननम्। ये के च जनाः आत्मयाथात्म्याज्ञानेन देहाद्यनात्मतादात्म्याभिमानेन कर्माणि कुर्वाणा आत्मत्वेनाभिमतान् देहादीनुत्पादयन्ति नाशयन्ति च ते आत्मानं घ्नन्ति तानसुर्यान् लोकान् प्राप्नुवन्ति। अजरामरस्याप्यात्मनोऽविद्यादोषेण तिरस्करणात् तेषामात्महन्तृत्वम्। विद्यमानस्याप्यात्मनो यत्कार्यं फलमजरामरत्वादिसंवेदनं तद्धतस्यैव तिरोभूतं भवतीति प्राकृताविद्वांसोऽपि जना आत्महन उच्यन्ते। यथा कस्यचिच्छुद्धस्य मिथ्याभिशापोऽशस्त्रवध उच्यते, तद्वदात्मनि स्वभावशुद्धे कर्तृत्वभोक्तृत्वाशुद्धत्वाद्यध्यासोऽपि हिंसैव भवति। तेन ह्यात्महननदोषेण ते संसरन्ति।

होते हैं। कौन हैं वे ? जो आत्मा का हनन करते हैं वे ही मूढ़ हैं।

'आत्मा नित्य है, उसका तो हनन ही संभव नहीं,' यह कहना उचित नहीं। क्योंकि आत्माका न जानना ही आत्मा का तिरस्कार है, हनन की अपेक्षा तिरस्कार अधिक कष्टप्रद होता है; अतः आत्मा का तिरस्कार ही यहाँ हनन है। अतएव स्वयं भगवान् ने भी गीता में कहा है कि—'प्रतिष्ठित पुरुष का तिरस्कार मरण से भी अधिक कष्टप्रद होता है।', सर्व अनर्थसमुदाय से रहित निरतिशय आनन्दस्वरूप स्वप्रकाश चेतन आत्मतत्त्व में कर्तृत्व-भोक्तृत्वादिक सकल अनर्थ का आरोप ही आत्मा का हनन है। जो मनुष्य आत्मा के यथार्थस्वरूप के अज्ञान से देहादिक अनात्मपदार्थों में तादात्म्य अभिमान ('मैं मनुष्य हूँ', 'ब्राह्मण हूँ' इस अहङ्कार) से कर्म करते हैं, वे देहादिकों को उत्पन्न तथा नाश करते हैं; क्योंकि अहङ्कार से किये कर्मों से ही देहादिकों की उत्पत्ति तथा विनाश होता है। वे ही मनुष्य आत्मा का नाश करते हैं। वे ही पूर्वोक्त असुरसम्बन्धी लोकों को प्राप्त होते हैं। वे ही पुरुष अजर-अमर-आत्मा का अविद्यादोष से तिरस्कार करने से आत्मघाती हैं। विद्यमान अजर-अमर आत्मा की अमरतादि का ज्ञान मुख्य फल है। परन्तु नष्ट हुए में जैसे अमरतादि का ज्ञान

अन्ये तु—'मा गृधः' इत्यादेः व्याख्यानमनेन मन्त्रेण क्रियते। धनाभिलाषवतां कष्टसंसारप्राप्तिवर्णनात्। ये श्वसूकरादिदेहाः कर्मफलरूपा अन्धेन तमसा क्लेशचतुष्टयानुविद्धेन पञ्चमेनान्धतामिस्रेणाहंममाभिनिवेशरूपेणावृताः। धनाभिलाषेणेश्वरज्ञानशून्याः आत्महनः पूर्वोक्ता एव प्रेत्य तानभिगच्छन्तीति ।।३।।

नहीं होता, उसी प्रकार विद्यमान भी अजर-अमर आत्मा की अमरतादिका ज्ञान तिरोभूत रहता है, अत एव अद्वैतवेदान्त के श्रवणादि से शून्य, लौकिकज्ञान से सम्पन्न भी पुरुष (मनुष्य) आत्मघाती कहे जाते हैं। जैसे अत्यन्त शुद्ध पुरुष को मिथ्या दोष का लग जाना, बिना शस्त्र के बध कहा जाता है, उसी प्रकार स्वभाव से शुद्ध आत्मा में कर्तृत्व-भोक्तृत्वादि अशुद्धि का आरोप भी आत्मा की हिंसा (बध) ही है। इस आत्मा की हिंसारूप दोष से ही अज्ञानी जन जन्म-मरणरूप संसार को प्राप्त होते रहते हैं।

अन्य कोई विद्वान् तो ऐसा कहते हैं कि—**"मा गृधः"** इत्यादि मन्त्र का व्याख्यान ही इस तृतीय मन्त्र से किया जा रहा है। क्योंकि इस तृतीय मन्त्र में धनादि अनात्मपदार्थों की अभिलाषावालों के लिये कष्टदायी संसार की प्राप्ति का वर्णन है। जो श्व-सूकरादिक कर्म के फलस्वरूप देह हैं, वे अविद्या-अस्मिता-राग तथा द्वेष इन चार क्लेशोंसे युक्त पंचम अहंता-ममता में अभिनिवेश रूप जो अन्ध(गाढ़)तम 'अन्धतामिस्र' है, उससे आवृत हैं। धन की अभिलाषा के कारण ईश्वर के ज्ञान से शून्य पूर्वोक्त आत्मघाती पुरुष इस देह को त्यागकर उन देहों को ही प्राप्त होते हैं ।।३।।

अनेजदेकं मनसो जवीयो नैन-

द्देवा आप्नुवन् पूर्वमर्शत् ।

तद्धावतोऽन्यानत्येति तिष्ठत्त-

स्मिन्नपो मातरिश्वा दधाति ॥४०.४॥

जो अपने स्वरूप से च्युत (चलायमान) नहीं होता, सदा एक-रस–अद्वितीय रहता है, जो व्यापक और स्वप्रकाश होने से संकल्प-विकल्पात्मक मनकी गतिका भी अतिक्रमण करनेवाला है—सुदूर अवस्थित ब्रह्मलोकादि का जिसकी विद्यमानता के बिना मन में स्फुरण होना असंभव है, मन की अपेक्षा भी अपने सोपाधिक रूप से अधिक वेगवाला मान्य होने के कारण और अनादि–अनन्त–सर्वाधिष्ठान सर्वसाक्षी होने के कारण जिसे रूपादि विषयों के प्रकाशन में समर्थ इन्द्रियाँ और उनके अनुग्राहक देवगण भी ग्रहण करनेमें –प्रकाश्य बनाने में असमर्थ ही हैं। महत्तत्त्व, प्राण और वायुरूप से प्रकृति और अन्तरिक्ष में विचरण करनेवाला 'हिरण्यगर्भ' और 'सूत्रात्मा' कहलानेवाला वायुतत्त्व प्राणियों के कार्य–कारणात्मक स्थूल-सूक्ष्म शरीर का उद्दीपक और रक्षक है, ज्ञान-क्रिया उसके अधीन है। वह सर्वकर्मों की प्रतिष्ठा है। पर, कर्म सहित स्वयं की और अपने आश्रय अन्तरिक्ष तथा प्रकृति की सत्ताको जिससे अधिष्ठित होकर ही लाभ करने में समर्थ है; वही है वह सर्वभेदशून्य आत्मतत्त्व, जिसकी आराधना के बिना देवगण भी आसुरभाव से मुक्त नहीं हो सकते ॥४॥

ईशावास्यमितिमन्त्रस्थस्य ईट् शब्दस्यैव विवरणमेभिर्मन्त्रैः क्रियते। यद्वा किं तदात्मतत्त्वं यस्यहननादविद्वांस आसुरीं योनिमापद्यन्ते तद्विपर्ययेण विद्वांसो मुच्यन्ते इति तदाह—अनेजदेकम्। त्रिष्टुप्। म

एजत् अनेजत्। एजृकम्पने स्वावस्थाप्रच्युतिः कम्पनम्, तद्वर्जितं सदैकरूपम्। तच्चैकमद्वितीयं सर्वभूतेषु "एको देवः सर्वभूतेषु गूढः" (श्वेताश्वतर उप. ६।११) इति श्रुतेः। मनसः संकल्पविकल्पलक्षणाज्जवीयः वेगवत्तरम्। जवोऽस्यास्तीति जववत्, अतिशयितं तज्जवीयः। ईयसुनि कृते "विन्मतोर्लुक्" (पा० ५।३।६५) इति मतुपो लुक्।

ननु विरुद्धमिदमनेजत् मनसो जवीय इति चेत् नैष दोषः, निरुपाध्युपाधिमत्त्वेन तदुपपत्तेः। तत्र निरुपाधिकेन स्वेनरूपेणोच्यतेऽनेजदेकम्। संकल्पविकल्पलक्षणस्य मनसोऽन्तःकरणस्यानुवर्तनमपेक्ष्य च मनसो जवीय उच्यते। यद्यपि मनसो बहिरस्वातन्त्र्याच्चक्षुराद्यन्तरा मनसो बहिर्गमनं न भवत्येव तथापि ब्रह्मलोकादिदूरस्थसंकल्पनं

"ईशावास्यम्" इस मन्त्र में स्थित ईट् (ईश) शब्द का ही विवरण आगे के मन्त्रों से किया जाता है। अथवा यह जिज्ञासा होती है कि वह आत्मतत्त्व कौन है, जिसके हनन करने से अज्ञानी देवता भी आसुरी योनि को प्राप्त होते हैं, इसके विपरीत ज्ञानी जन जिसका आत्मनिष्ठा के द्वारा पालन करने से मुक्त हो जाते हैं ? अतः उस आत्मतत्त्व का मन्त्र वर्णन करता है। जो चलता नहीं, चलना यहाँ पर अपने स्वरूप से प्रच्युति है, अर्थात् अपने स्वरूप से जो कभी चलायमान नहीं होता, सदा एकरूप ही रहता है, ऐसा वह आत्मतत्त्व सर्वभूतों में एक-अद्वितीयरूप से स्थित है। क्योंकि ऐसा "एको-देवः" यह श्वेताश्वतर श्रुति भी कहती है। संकल्प-विकल्परूप मन से भी जो अधिक वेगवाला है। वेगवाले को ""जववत्" कहते हैं तथा जो अत्यन्त वेगवाला होता है, उसे "जवीय" कहते हैं।

"यह कथन तो अत्यन्त विरुद्ध है कि चलता नहीं तथा मन से अधिक वेगवाला भी है, क्योंकि जो चलता ही नहीं वह वेगवाला कैसे हो सकता है ?", परन्तु आत्मतत्त्व में यह विरुद्धता का कोई दोष नहीं। क्योंकि आत्मा स्वरूप से निरुपाधिक होते हुए सोपाधिक भी है, अतः न चलना तथा अधिकवेग होना दोनों ही बन सकते हैं। वह आत्मतत्त्व निरुपाधिक अवस्था में अपने स्वरूप से न चलता हुआ एक कहा जाता है। संकल्प-विकल्परूप मन (अन्तःकरण) के अनुसरण की

क्षणमात्रेण करोतीति मनसो जविष्ठत्वं लोके प्रसिद्धम् । तस्मिन् मनसि द्रुतं ब्रह्मलोकादीन् गच्छति सति प्रथमप्राप्त इवाऽऽत्मचैतन्यावभासो गृह्यतेऽतो मनसो जवीयः ।

ननु जवीयस्त्वेनाश्वादिवत् कुतो न चक्षुरादिग्राह्यत्वं स्यादात्मन इति चेत्तत्राह "नैनद्देवा आप्नुवन्", एतत् एतदात्मतत्त्वं देवाः द्योतनशीलाः चक्षुरादीन्द्रियाणि नाप्नुवन् न प्राप्नुवन्तः न प्राप्तवन्तः —न प्राप्नुवन्ति । तेभ्यो देवेभ्यो जवीयो मनः ततोऽप्यात्मतत्त्वस्य जवीयस्त्वात् । चक्षुरादिप्रवृत्तेर्मनो व्यापारपूर्वकत्वात्तदविषयत्वे चक्षुरादिविषयत्वमप्यात्मनो न सम्भवत्येव ।

ननु मनोऽविषयत्वमेव कुत इति चेत्तत्राह— पूर्वमर्शत्—यस्मात् जविष्ठान्मनसोऽपि पूर्वमर्शत् पूर्वमेव गतम् । ऋश गतौ । यथा मनसः परिमाणं मनसो न विषयो भवति, अत्यन्ताव्यवधानात्, तथाऽऽत्माप्यत्यन्ताव्यवधानान्मनसो विषयो न भवति, व्योमवद् व्यापित्वात् ।

अपेक्षा से मन से वेगवान् कहा जाता है । यद्यपि मन की बाह्यपदार्थों तक गमन करने में स्वतन्त्रता नहीं; अतः चक्षुरादि इन्द्रियों के विना मन का वहिर्गमन नहीं होता, तथापि अत्यन्त दूर में स्थित ब्रह्मलोकादि का संकल्प क्षणमात्र में करलेता है, अत एव मन की अत्यन्त वेगशालिता लोक में प्रसिद्ध है । ब्रह्मलोकादि के प्रति शीघ्र ही मन के चले जाने पर भी वहाँ पहिले से ही प्राप्त (विद्यमान) के समान चैतन्यात्मतत्त्व का प्रकाश अनुभव किया जाता है; अतः मन से भी अधिक वेगवाला आत्मतत्त्व है । यदि मन से पूर्व चैतन्य आत्मतत्त्व का स्वरूपभूत अवभास (प्रकाश) न होता तो 'मन ब्रह्मलोक को गया', इसका अनुभव कैसे होता ? अतः सिद्ध है कि मन से पूर्व ही वहाँ आत्मतत्त्व विद्यमान है, जहाँ मन जाता है । 'यदि आत्मतत्त्व वेगवान है तो अश्व आदि के समान चक्षुरादि इन्द्रियों से ग्राह्य भी होना चाहिए', ऐसी शंका होने पर मन्त्र कहता है कि "नैनाद्देवा आप्नुवन्" इस आत्मतत्त्व को प्रकाश करने के स्वभाववाले देव (चक्षु आदिक इन्द्रियाँ) प्राप्त नहीं होते, अर्थात् वह इन्द्रियों से ग्राह्य नहीं, क्योंकि इन्द्रियों से वेगवान् मन है, मन से भी वेगवान् आत्मतत्त्व है । चक्षु आदि इन्द्रियों की प्रवृत्ति मन के व्यापाराधीन है, अतः जब मन

रूपादिहीनत्वाच्च चक्षुराद्यविषयत्वं प्रत्येतव्यम् । यथा प्रकाश्येन रूपादिनाऽऽलोकादिना च प्रकाशकं चक्षुराद्यतीन्द्रियं न प्रकाश्यते, तथैव चक्षुरादिना तत्प्रकाशकं मनो न प्रकाश्यते, तद्वदेव सर्वप्रकाशकमात्मतत्त्वमपि स्वप्रकाश्यैः मनोबुद्ध्यादिभिरिन्द्रियैश्च न प्रकाश्यते ।

"रूपं दृश्यं लोचनं दृक् तद्दृश्यं दृक्च मानसम् ।
दृश्या धी वृत्तयः साक्षी दृगेव न तु दृश्यते ॥"

(वाक्यसुधा १) इत्युक्तेः ।

यद्वा देवा अपि नैनत् प्राप्तुं शक्ताः, सूक्ष्मत्वात् । पूर्वमर्शत् अविनश्यदास्ते, अनादिनिधनमित्यर्थः । 'रिश हिंसायाम्', रिशति नश्यति इति रिशत् न रिशदरिशत् अर्शत्'। धातोरिकारलोपश्छान्दसः । सर्वसंसार धर्मवर्जितमात्मतत्त्वं स्वेन निरुपाधिकेन रूपेणाविक्रियमेव सदुपाधिकृताः सर्वाः संसारविक्रिया अनुभवतीवाविवेकिनाम्मूढानामनेकमिव च प्रतिदेहं प्रत्यवभासते । तद्धावतः तदः स्थाने यदो वृत्तिरुद्देश्यत्वात् । यदात्मतत्त्वं धावतो द्रुतं गच्छतोऽन्यानात्मविलक्षणवागिन्द्रियप्रभृतीन् अत्येति अतीत्यगच्छतीव ।

उसको विषय नहीं कर पाता, तब चक्षु आदि इन्द्रियाँ आत्मतत्त्व को कैसे विषय कर सकती हैं ?

शंका—'आत्मा मन का विषय क्यों नहीं ?' उत्तर–"पूर्वमर्शत्" क्योंकि अत्यन्त वेगशाली मन से भी वह पूर्व ही प्राप्त है । जैसे मन का परिमाण मन का विषय नहीं; क्योंकि मन के अत्यन्त समीप है, उसी प्रकार मन का भी स्वरूप होने से आत्मा मन के अत्यन्त समीप है, अतः मन का विषय नहीं । आकाश के समान व्यापक होने से तथा रूपादिहीन होने से भी आत्मतत्त्व, चक्षु आदि इन्द्रियों का विषय नहीं, ऐसा जानलेना चाहिये । जैसे प्रकाश्य (प्रकाश के विषय) रूपादि तथा आलोकादि से प्रकाशक चक्षु आदिक अतीन्द्रिय पदार्थ प्रकाशित नहीं होते,उसी प्रकार चक्षु आदि से उनका प्रकाशक मन भी प्रकाशित होता नहीं । उसी प्रकार सर्वका प्रकाशक आत्मतत्त्व भी अपने प्रकाश्य मन, बुद्धि तथा इन्द्रियादि से प्रकाशित होता नहीं । इसी अर्थ का

ननु मूलमन्त्र इव शब्दो नास्तीति कथमत्येतीवेत्युच्यत इतिचेन्न, तिष्ठत् गतिमकुर्वत्, अविक्रियमेव सत्, इतीवार्थस्य श्रुत्यैव दर्शितत्वात्।

तस्मिन् अत्रापि तदः स्थाने यदोवृत्तिः, यस्मिन् तथाविधे नित्यचैतन्यस्वभावे स्वात्मचैतन्ये, मातरिश्वा मातर्यन्तरिक्षेऽव्याकृते वा

बोधक 'रूपं दृश्यं'[१४] यह अभियुक्तवचन भी है।

अथवा सर्वज्ञदेवता भी इसको प्राप्त नहीं कर सकते। क्योंकि आत्मतत्त्व अति सूक्ष्म है। **'पूर्वमर्शत्'** इस वाक्य का अनादिनिधन भी अर्थ है। यद्यपि सर्व संसारधर्मों से रहित आत्मतत्त्व, अपने निरुपाधिकरूप से अविक्रिय एक ही है, तथापि आत्मा के यथार्थ स्वरूप को न जाननेवाले मूढ़ पुरुषों को आत्मतत्त्व अपनी उपाधि से की गईं सर्व संसार की विक्रियाओं (विकारों) को अनुभव करनेवाला–जैसा तथा प्रत्येक शरीर में भिन्न अत एव अनेक–जैसा प्रतीत होता है। वह आत्मतत्त्व शीघ्रगतिशील वाग् आदिक सर्व पदार्थों का अतिक्रमण करता–जैसा है अर्थात् इनमें से किसी का भी विषय नहीं।

'मूलमन्त्र में इव (जैसा) अर्थवाला शब्द है ही नहीं, तब आपने अतिक्रमण करता–जैसा है, यह अर्थ कैसे कर दिया', यदि ऐसा कहा जाय तो इसका उत्तर यह है कि–श्रुति कहती है कि **"तिष्ठत्"** गति न करता हुआ ही, अतिक्रमण करता है; परन्तु जिसमें गति नहीं वह मुख्य अतिक्रमण कैसे करेगा ? अतः इन दोनों पदों के अर्थ पर विचार करने पर यही सिद्ध होता है कि गत्यभाव उसमें मुख्य तथा अतिक्रमण मुख्य नहीं, अतिक्रमण–जैसा है। क्योंकि अतिक्रमण औपाधिक है।

जिस नित्यचैतन्य स्वभाव आत्मचैतन्य के रहते ही मातरि

---

१४. नील-पीतादिक रूप दृश्य हैं(रूप यहाँ इतर विषयों का तथा नेत्र इतर इन्द्रियों का उपलक्षण है),उसका द्रष्टा नेत्र है। नेत्र चरम-द्रष्टा न होने से दृश्य है,उसका द्रष्टा अन्तःकरणरूप मन अर्थात् बुद्धि सहित मन है। बुद्धिवृत्ति भी चरम द्रष्टा नहीं है, दृश्य ही है। बुद्धि का द्रष्टा-साक्षी 'द्रष्टा' ही है, न कि दृष्टिगोचर होनेवाला दृश्य।

श्वयति श्वसिति गच्छति वर्धते सत्तां प्राप्नोति वा मातरिश्वा वायुः सर्वप्राणभृत् बुद्धिक्रियात्मको यदाश्रयाणि कार्यकरणजातानि यस्मिन्नोतानि प्रोतानि च स बुद्धिप्रधानत्वात् हिरण्यगर्भः प्राणप्रधानत्वात् सूत्रात्मा, अपः **कर्माणि प्राणिनां चेष्टालक्षणानि, अग्न्यादित्यपर्जन्यादीनाञ्च ज्वलनदहनप्रकाशनाभिवर्षणादीनि** दधाति **विदधाति विभजति धारयति वा,** "वायुर्वै गौतम तत्सूत्रं वायुना वै गौतम सूत्रेणायं च लोकः परश्च लोकः सर्वाणि च भूतानि सन्दृब्धानि भवन्ति[१५]" **(बृ० उ० ३.७.२) इति श्रुतेः हिरण्यगर्भसृष्टं सकलं जगत्**

अर्थात् अन्तरिक्ष अथवा प्रकृति में जो गमन करता अर्थात् वृद्धि को प्राप्त होता है, अथवा सत्ता को प्राप्त होता है, उसे कहते हैं मातरिश्वा (वायु) जो सर्वप्राणियों की पोषक है, ज्ञान तथा क्रियात्मक है। जिसके आश्रित प्राणियों के कार्य (शरीर) और करण (इन्द्रिय) का समुदाय है। जिसमें सर्वकरणसमुदाय ओतप्रोत है। वह (मातरिश्वा ही) बुद्धि की प्रधानता से हिरण्यगर्भ, प्राण (क्रिया) की प्रधानता से सूत्रात्मा कहलाता है। वही सर्वप्राणियों की चेष्टारूप तथा अग्नि, आदित्य, पर्जन्य आदिकों के ज्वलन-दहन, प्रकाशन तथा वर्षा आदि सर्वकर्मों का विभाग तथा धारण करता है। इसी विषय को **"वायुर्वा गौतम"** यह बृहदारण्यक श्रुति (३.७.२) भी कहती है। हिरण्यगर्भ से रचित सर्वजगत् सर्वाधिष्ठान सर्वाधिकरणभूत उस आत्मतत्त्व के रहते ही जाना जाता है। अन्यथा चैतन्य के अभाव में जड़ जगत् का प्रकाश ही असम्भव हो जायगा। अग्न्यादि पदार्थों के धर्म तथा क्रिया नियत हैं, नियतधर्म तथा क्रिया विना नियामक के असंभव है। नियमन से नियन्ता परमेश्वर की सिद्धि होती है। इस अनुमान तथा अर्थापत्ति से ही नियन्ता परमेश्वर की सिद्धि नहीं, अपितु **"भीषाऽस्मात्"** इस तैत्तिरीय-आरण्यकश्रुति से भी उसकी सिद्धि है। कार्य के पूर्व कारण होता है, कारण से ही कार्य उत्पन्न होता है, हिरण्यगर्भ से लेकर चींटीपर्यन्त

---

१५. हे गौतम ! जिस सूत्र से यह लोक, परलोक तथा सम्पूर्णभूत जुड़े हुए (ग्रथित) हैं, वह वायु है। अर्थात् सूत्रात्मा हिरण्यगर्भ है।

सर्वाधिष्ठाने तस्मिन्नात्मतत्त्वेऽधिकरणभूते सत्येव प्रजायते, नियमनस्य नियन्तृपूर्वकत्वात् "भीषाऽस्माद्वातः पवते, भीषोदेति सूर्यः"[१६] (तै० आ० ८.८, तै० उ० २.८.१) इति श्रुतेश्च। कार्यस्य कारणपूर्वकत्वादध्यस्तस्याधिष्ठानपूर्वकत्वाच्च, ईश्वरस्यापि हिरण्यगर्भस्य नियतप्रवृत्त्यन्यथानुपपत्त्यापि परमेश्वरोऽधिष्ठाता संभाव्यते। मातरिश्वाग्रहणमुपलक्षणम्, सर्वा हि कार्यकारणादिविक्रियाः नित्यचैतन्यात्मस्वरूपे सर्वास्पदभूते सत्येव भवन्तीत्यर्थः।

यद्वा—यस्मिन् मातरिश्वा अपः कर्माणि दधाति, आप्यायन्ते प्राप्यन्ते सुखदुःखानि याभिः ता आपः कर्माणि, 'आप्नोतेर्ह्रस्वश्च' (उणादि—२.५९) इति क्विप् धातोर्ह्रस्वश्च श्रौतानि कर्माणि सोमाज्यपयः प्रभृतिभिरद्भिस्सम्पाद्यन्त इति सम्बन्धाल्लाक्षणिको वा

सर्व संसाररूप कार्यके कारणरूप से भी सर्वकारण परमेश्वर की सिद्धि होती है। अध्यस्त अधिष्ठानपूर्वक होता है, अतः अध्यस्त सर्वजगत् के अधिष्ठान के रूप में भी परमेश्वर की सिद्धि होती है। 'कार्यब्रह्मरूप हिरण्यगर्भ की नियतप्रवृत्ति, अन्य प्रकार से अनुपपन्न (असिद्ध) होती हुई हिरण्यगर्भ के नियन्ता परमेश्वर का निश्चय कराती है,' इस अर्थापत्ति से भी परमेश्वररूप अधिष्ठाता निश्चित किया जाता है। **"मातरिश्वा"** शब्द यहाँ सर्वकार्य-कारणभूत विकारों का उपलक्षण है, अतः सर्वाधिष्ठान चैतन्यात्मस्वरूप के रहते ही सर्वकार्य-कारणभूत विकार होते हैं, यह वाक्यार्थ निष्पन्न होता है।

अथवा—जिसके द्वारा सुख-दुःख प्राप्त किये जाते हैं उसे 'आप' कहते हैं। इस व्युत्पत्ति के अनुसार सुख-दुःख को प्राप्त करानेवाले कर्म ही 'अप्' शब्द के वाच्य हैं। श्रुति से प्रतिपादित अग्निहोत्रादि कर्मों का सोम, आज्य (घृत), दुग्धादि जलबहुलपदार्थों से सम्पादन

---

१६. इस ब्रह्म से हुए भय से वायु पवित्र करता है, सूर्य उदय होता है। अर्थात् वायु, सूर्य आदि सर्वदेवता अपना-अपना कार्य करते हैं। भाव यह है कि वायु आदि का नियमन परमात्मारूप नियन्तापूर्वक ही है।

कर्मस्वप्शब्दप्रयोगः। [१७]प्राणचेष्टायाश्चाप् निमित्तत्वाद्वा कारण-वाचकः शब्दः कार्ये लक्षणया प्रयुक्तः। सर्वाणि कर्माणि यज्ञदानहोमादीनि समिष्टयजूंषि वायौ स्थाप्यन्ते।'स्वाहा वाते धाः'[१८](यजुर्वेद अ० २. म० २१।अ० ८ म० २१) इति वायोः प्रतिष्ठात्वाभिधानात्। समष्टि-व्यष्टिरूपो ह्यसाविति वायुरपि यस्मिन् कर्माणि स्थापयति। याग-होमादीनां परमं निधानमित्यर्थः। तदात्मतत्त्वमित्यर्थः। यागहोमादि-कर्मणाम्परमास्पदत्वस्यापि ब्रह्मलक्षणत्वात्।

अनेजदित्यनेनाचलं सर्वविक्रियावर्जितं नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभावं

होता है। अतः निमित्त-नैमित्तिकभाव सम्बन्ध से जलवाचक 'अप्' शब्द का कर्मों में लक्षणा से प्रयोग हुआ है। प्राणचेष्टारूपकर्म का कारण अप् (जल) है, अतः कर्म के कारण जल के वाचक अप् शब्द का लक्षणा से कर्मों में प्रयोग हुआ है। सम्पूर्ण यज्ञ, दान, होमादिक कर्म तथा 'समिष्टयजुः' नाम के होम वायु में स्थापन किये जाते हैं। क्योंकि **"स्वाहा वातेधाः"**—इस मन्त्र में वायु को सर्वकर्मों की प्रतिष्ठा कहा गया है। समष्टि तथा व्यष्टिरूप वायु भी सर्वकर्मों को जिसमें स्थापित करता है, ऐसा याग, होमादि सर्वकर्मों का परम निधान वह आत्म-तत्त्व है। याग, होमादि सर्वकर्मों का परम आस्पद (अधिष्ठान) होना भी परब्रह्म का लक्षण है।

"अनेजत्" इस पद से अचल सर्वविकार से शून्य नित्य, शुद्ध, बुद्ध मुक्त स्वभाव, निर्विकार सत्य–ज्ञान–आनन्द स्वरूपब्रह्म विवक्षित

---

१७. पाठा०–'प्राणिचेष्टायाः'। 'आपोमयः प्राणः' (छा० ६.६.५) इति श्रुतेः प्राणस्यापोमयत्वात् प्राणचेष्टाया आपोमयत्वसिद्धेः प्राण-चेष्टाप्रयुक्तप्राणिचेष्टायां अपि अब्निमित्तकत्वं सिद्धम्।

१८. 'हे मनस्पते! हे देव! इस यज्ञको मैं आपके हाथ में देता हूँ। आप वायु में स्थापित कर दीजिये।' इस मन्त्र के अनुसार यज्ञादिककर्मों की प्रतिष्ठा वायु है। उपर्युक्त अ० ४०–४ इस मन्त्र के अनुसार वायु सर्वकर्मों को परमात्मतत्त्व में धारण करता है, अतः परमात्मतत्त्व सर्वकर्मों का अधिष्ठान है।

निर्विकारं सत्यज्ञानानंदलक्षणं ब्रह्म विवक्षितं भवति। तच्चैकं सजातीयविजातीयस्वगतभेदशून्यं सर्वकारणं चक्षुरादीन्द्रियैर्मनसा चाप्रकाश्यं तत्प्रकाशकत्वादधिष्ठानत्वाच्च प्रत्यक्चैतन्याभिन्नब्रह्मस्वरूपम् ।

दयानन्दः–"हे विद्वांसः, यदेकमनेजन्मनसो जवीयः पूर्वमर्शत् ब्रह्मास्ति, एनद्देवा नाप्नुवन् तत् स्वयंतिष्ठत् स्वानन्तव्याप्त्या धावतोऽन्यानत्येति तस्मिन् सिद्धे स्थिरे सर्वत्राभिव्याप्ते मातरिश्वा वायुरिवजीवोऽपो दधातीति विजानीतेति ।"

तदपि यत्किंचित्; वायुरिवेत्यस्य निर्मूलत्वात् । स्थिरस्य कथमन्यान् धावतोऽतिक्रम्योल्लंघनमित्यस्यासमाहितत्वात् । न च

है। वह आत्मतत्त्व एक है, अर्थात् सजातीय-विजातीय-स्वगतभेद से शून्य सर्वका कारण चक्षु आदि इन्द्रियों तथा मनसे अप्रकाश्य (अज्ञेय) है; क्योंकि वह इन्द्रिय तथा मन आदिकों का भी प्रकाशक है। जैसे सूर्य से प्रकाश्य घट सूर्य का प्रकाशक नहीं, क्योंकि सूर्य घट का प्रकाशक है, उसी प्रकार आत्मतत्त्व अपनेसे प्रकाश्य मन, इन्द्रियादिकों का प्रकाश्य नहीं; क्योंकि वह इनका प्रकाशक है तथा सर्व का अधिष्ठान होने से प्रत्यक् चैतन्य से अभिन्न ब्रह्मस्वरूप है।

श्रीस्वामी दयानन्द कहते हैं—"हे विद्वानो ! जो एक अचल मन से भी वेगशील सर्व से पूर्व प्राप्त ब्रह्म है, इसको देवता प्राप्त नहीं होते, वह आत्मतत्त्व स्वयं स्थित रहता हुआ ही अपनी अनन्तव्याप्ति से वेग से धावन करने (दौड़ने) वालों अन्य सभी का अतिक्रमण करता है। उस स्थिर सर्वव्यापक परमेश्वर के रहते ही वायु के समान जीव कर्मों का धारण करता है—ऐसा जानो।"

यह उनका कहना कुछ नहीं, क्योंकि जो "वायु के समान" ऐसा अपने भाष्य में कहा है, उसका कोई मूल नहीं, अर्थात् मूलमन्त्र में समान अर्थ का वाचक कोई शब्द नहीं। उनके भाष्य में स्थिर परमेश्वर का अन्य दौड़नेवालों का अतिक्रम करना कैसे संभव है ? इस शङ्का का कोई समाधान भी नहीं। यदि कहा जाय कि 'व्यापक होने से वेगवान् भी मन आदिकों का परमेश्वर अतिक्रमण करता है,' तो यह कहना उचित नहीं, क्योंकि व्यापक होने से तो आकाशादिकों

व्याप्तिमात्रेणेन्द्रियबुद्ध्युल्लंघ्यातिक्रमणं संभवति, तथात्वे महदाकाशादीनामपि तथात्वापातात् ।।४।।

तदेजति तन्नैजति तद्दूरे तद्वन्तिके ।
तदन्तरस्यसर्वस्य तदुसर्वस्यास्य बाह्यतः ।।५।।

.... वह आत्मतत्त्व अचल, निर्विकार है। अज्ञों की दृष्टि में वह चलता-सा है। अज्ञों की पहुँच उस तक नहीं, अतः वह दूर-सा है। विज्ञों की दृष्टि में तो वह सर्वथा प्रत्यगात्मस्वरूप होकर स्फुरित होता है, अतः समीप ही है। इस नाम–रूप–क्रियात्मक जगत् में उसकी अनुगति है, वह इनका परमाश्रय (अधिष्ठान) होकर विद्यमान है, इसलिये भी समीप ही है। सम्पूर्ण जगत् के रूप में उसी की स्फूर्ति है। जङ्गमरूप से चल और स्थावर रूप से वह अचल है। नक्षत्रादिरूप से दूर और पृथ्वी आदि रूप से समीप है। अथवा ब्रह्मादि देवशिरोमणियों के रूप से वह चलता है—लीला से व्यवहार करता है और स्वरूप से अचल है। अन्तर्यामी और प्रत्यगात्मरूप से सबके अन्दर और विषयरूप से बाहर है ।।५।।

को भी मन आदिकों का, अतिक्रमण करने वाला कहा जा सकता है। यदि कहा जाय कि 'व्यापक आकाश भी ऐसा है ही' तो यह कहना भी उचित नहीं, क्योंकि यहाँ धावनकर्ताओं का अतिक्रमण परमेश्वर की ही विशेषता के रूप में कहा गया है। यदि उस विशेषता को आकाश में स्वीकार किया जायगा तो वह परमात्मामात्र की विशेषता न रहेगी परमात्मा से भिन्न सर्व जगत् मूर्त तथा अमूर्त इन दो भागों में विभक्त है। जिनमें से कुछ पदार्थ चल हैं, कुछ अचल हैं। उन सर्व की व्यावृत्ति 'न चल है न अचल' इनें विशेषणों से करके सर्व शीघ्रगतिशीलपदार्थों का अतिक्रमणमात्र परमात्मा की विशेषता कही गयी है ।।४।।

न मन्त्राणां जामिताऽस्तीति सकृदुक्तं रहस्यं न चित्तमधिरोहतीति पूर्वोक्तमेवार्थं पुनर्वदति । मातापितृशतादपि हितैषिणी श्रुतिः । तत् प्रकृतात्मतत्त्वमेजति चलति, तदेव च न एजति स्वतो नैव चलति, स्वरूपे सर्वदा कूटस्थमचलं स देवो मूढदृष्टया चलतीवेत्यर्थः । तद्दूरे–देशतः कालतश्च विप्रकृष्टदेशे वर्तते, वर्षकोटया कालेन महाप्रस्थानेन च अविद्वद्भिर्मनागपि प्राप्तुमशक्यत्वात् तत् उ तदेव अन्तिके समीपे, विदुषां प्रत्यगभिन्नत्वेन भासमानत्वात् । तथा अस्य सर्वस्य जगतः नामरूपक्रियात्मकस्य अन्तः—अन्तरेवात्मतत्त्वं, 'आत्मा सर्वान्तर[१९]' (बृहदारण्यकोपनिषत् ३–४–१) इति श्रुतेः । सर्वभूताभ्यन्तरभूतः । तदु तदेव अस्य सर्वस्य जगतः बाह्यतः बहिर्भूतमपि बाह्याभ्यन्तरसकलवस्तूनामधिष्ठानत्वेनाकाशवत्सर्वव्यापित्वात् ।

मन्त्रों में आलस्य नहीं है, एक बार उपदेश किया रहस्यभूत (दुर्विज्ञेय)—वस्तु चित्त में नहीं स्थिर होती, अतः पूर्वोक्त अर्थ को ही यह मन्त्र पुनः कथन करता है । क्योंकि श्रुति(वेद) सैकड़ों माता-पिता से भी अधिक हितैषिणी है । वह प्रकरणप्राप्त आत्मतत्त्व चलता है तथा वही आत्मतत्त्व स्वयं नहीं चलता; क्योंकि वह अपने स्वरूप में सदा निर्विकार तथा अचल है । वह देव मूढ़पुरुषों की दृष्टि से चलते के समान है, यह अर्थ है । वह आत्मतत्त्व दूर है अर्थात् देश-काल से व्यवहित देश में वर्तमान है; क्योंकि करोड़ों वर्ष तथा महाप्रस्थान से भी अविद्वानों (अज्ञानियों) द्वारा प्राप्त नहीं किया जा सकता । वही आत्मदेव समीप भी है; क्योंकि वह विद्वानों को अपने अन्तरात्मा से अभिन्न प्रतीत होता है तथा इस नाम–रूप–क्रियात्मक सर्वजगत् के अन्तः (अन्दर) वह आत्मतत्त्व है । क्योंकि बृहदारण्यक उपनिषद् उसे सर्वान्तर कहती है । सर्वान्तरभूत वह देव ही इस सर्व जगत् के बाहर भी है । (क्योंकि) सर्वबाह्याभ्यन्तर वस्तुओं का अधिष्ठान होने से वह आकाश के समान व्यापक है । व्यापक होने से ही वह सर्व के बाहर भी है ।

---

१९. आत्मा सर्व के अन्तर है, अर्थात् सर्वभूतों के अतिशय (अत्यन्त) अन्दर है ।

यद्वा—कारणरूपं कार्यकारणातीतं वाऽऽत्मतत्त्वमुक्तम् अथेदानीं कार्यरूपेणोच्यते। तिस्रोऽनुष्टुभः। तदेव सर्वप्राणिरूपेणावस्थितं सत् एजति चलति सक्रियं भवति तन्नैजति तदेव च न चलति, स्थावर-रूपेणावस्थितमचलम्। तदेव दूरे नक्षत्रादिरूपेण दूरेऽवस्थितम्। तदु तदेव च उः समुच्चये, अन्तिक पृथिव्यादिरूपेणात्यन्तं सन्निकृष्टम्, "सर्वं खल्विदं ब्रह्म"[२०] (छान्दो० उप० ३-१४-१) इति श्रुतेः। तदेवास्य सर्वस्य प्राणिजातस्य प्रत्यगात्मरूपेणान्तर्यामिरूपेण चान्तर्मध्यत आस्ते। तदु सर्वस्यास्य बाह्यतः—सर्वं प्राणिजातस्य विषयादिरूपेणावस्थितं चेतनाचेतनरूपमनन्तं सर्वगं ब्रह्मेत्यर्थः।

—अनयोपासनया फलप्राप्त्यर्थमर्चिरादिचिंतनमपि नोपयुज्यते—'न

अथवा—कारणरूप अथवा कार्य-कारण से अतीत ब्रह्मात्मतत्त्व का वर्णन पूर्वमंत्र में कर दिया, इसके अनन्तर इस मंत्र में कार्यरूप ब्रह्म का वर्णन किया जाता है। सर्वप्राणियों के रूप में स्थित हुआ वह ब्रह्म (आत्मतत्त्व) चलता है अर्थात् सक्रिय है। स्थावरवस्तु के रूप में स्थित अचल है। वही नक्षत्रादिरूप से दूर स्थित है और वही पृथिवी आदि के रूप में स्थित हुआ अत्यन्त समीप है। क्योंकि "सर्वं" यह श्रुति इस सम्पूर्ण जगत् को ब्रह्म ही कह रही है। वह आत्मतत्त्व (ब्रह्म) ही इस सर्वप्राणिसमुदाय के अन्तः (मध्य) में प्रत्यक् (अन्तर)-आत्मा तथा अन्तर्यामीरूप से स्थित है। वही इस सर्वप्राणिसमुदाय के विषय (भोग्यवस्तु) आदि के रूप से स्थित है। भाव यह है कि वह चेतन-अचेतन जगत्रूप, अनन्त सर्वव्यापक ब्रह्म है।

'सर्वचेतन-अचेतन ब्रह्म ही है' इस उपासना से फल की प्राप्ति के लिये अर्चिरादिमार्ग का चिन्तन भी उपयोगी नहीं है। क्योंकि श्रुति ऐसे उपासक के प्राणों का अन्यत्र-गमन-निषेध तथा यहाँ ही विलय कहती है।

---

२०. यह सर्व जगत् ब्रह्म ही है।

तस्य प्राणा उत्क्रामन्त्यत्रैव समवनीयन्ते ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येति'[२१] (बृह० उप० ४।४।६) इति श्रुतेः ।

यद्वा—तदेव ब्रह्म शिवविष्ण्वादिरूपेण एजति चलति व्यवहरति, तदपि मायया लीलया वा व्यवहरति स्वरूपेण तु कूटस्थं निर्विकारत्वान्नचलति ।

दयानन्दः—"हे मनुष्याः तद्ब्रह्मैजति तन्नैजति तद्दूरे तद्वन्तिके तदस्य सर्वस्य बाह्यतो वर्तत इति निश्चिनुत" इति ।

तदप्यसत् । वस्तुतः कारणत्वेनाभिमतस्य निष्क्रियत्वानुपपत्तेः,

अथवा—वही ब्रह्म, शिव, विष्णु आदिरूप से चलता अर्थात् माया अथवा लीलासे व्यवहार करता है। स्वरूप से कूटस्थ है; अतः निर्विकार होने से चलता नहीं, अर्थात् सर्वविकाररहित है ।

दयानन्दभाष्य—"हे मनुष्यो ! वह ब्रह्म चलता है तथा नहीं भी चलता है। वही दूर तथा वही समीप भी है। वह इस सारे संसार के वाहर भी विद्यमान है, ऐसा निश्चय करो।"

यह भाष्य उचित नहीं, क्योंकि दयानन्दजी को परमेश्वर संसार का कारणरूप से अभिमत है। जैसे घट का कारण कुम्भकार होता है, वैसे ही संसार का निमित्तकारण वे परमेश्वर को मानते हैं; परन्तु जैसे कुलाल निष्क्रिय नहीं है, उसी प्रकार संसार का निमित्तकारणरूप परमेश्वर भी निष्क्रिय नहीं हो सकता। ऐसी दशा में 'वह परमेश्वर नहीं चलता अर्थात् निष्क्रिय है' यह कथन कैसे संभव हो सकता है ? अतः यह भाष्य अनुचित है। यदि कहा जाय कि—सिद्धान्त में परमेश्वर चेष्टा से रहित निष्क्रिय है,, तब उसके द्वारा संसार की

---

२१. आप्तकाम, पूर्णकाम उस ब्रह्मवेत्ता के प्राण इस देह से दूसरे देह की प्राप्ति के लिये ऊर्ध्वगमन नहीं करते, अपितु यहाँ ही लीन हो जाते हैं। ब्रह्मवेत्तापुरुष ब्रह्मरूप हुआ ही ब्रह्म को प्राप्त करता है।

अनीहादविक्रियात् कार्यानुत्पत्तेः। सिद्धान्ते विवर्तवादाश्रयणान्न दोषः। जगदाकारेण परिणममानाया मायाया अधिष्ठानत्वेनैव ब्रह्मणो कर्तृत्वाभ्युपगमात् ॥५॥

यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्नेवानुपश्यति ।

सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न विचिकित्सति ॥६॥

—जो मुमुक्षु-संन्यासी ब्रह्म से अभिन्न आत्मा में अव्यक्त से लेकर स्थावर पर्यन्त (शास्त्रगम्य और प्रत्यक्ष) भूतों को अनुभव करता है —आत्मा से अतिरिक्त नहीं जानता तथा उन सर्वभूतों में कारणरूप से या आत्मरूप से स्वयं को अनुगत (अनुस्यूत—प्रोत) जानता है, वह तत्त्वदर्शी उस आत्मदर्शन के फलस्वरूप **'न विचिकित्सति'**—संशय नहीं करता, **'न विजुगुप्सते'**—घृणा नहीं करता ॥६॥

ननु तथाभूत आत्मतत्त्वे सकलविषयत्यागेन कथं सुदृढा स्थितिः स्यादिति तत्राह—यस्तु ब्रह्मक्षत्रलक्षणः मुमुक्षुः परिव्राट् सर्वाणिभूतानि अव्यक्तादीनिभूतानि, आत्मन् आत्मनि, सप्तम्या अलुक्, स्वरूप एवानुपश्यति आत्मव्यतिरिक्ततया न जानाति, तेषु चात्मानं कारणत्वेनात्मत्वेन वा अनुस्यूतं पश्यति, यथा अस्य कार्यकारणसंघातस्या-

---

सृष्टिरूप कार्य कैसे होता है? हमारे सिद्धान्त में तो विवर्तवाद स्वीकार होने से कोई दोष नहीं; क्योंकि परमेश्वर से अधिष्ठित माया जगत् के आकार में परिणत होती है। उसका अधिष्ठान होने से ही परमात्मा को कारण (कर्ता) कहा जाता है ॥५॥

पूर्वोक्तपरमात्मा से अभिन्न आत्मतत्त्व में सकलविषय त्याग से दृढ़स्थिति किस प्रकार हो, ऐसी आशंका होने पर मन्त्र कहता है 'जो ब्राह्मण-क्षत्रियरूप मुमुक्षु संन्यासी अव्यक्त से लेकर सर्वभूतों को अपने स्वरूप में ही अनुभव करता है, आत्मा से अतिरिक्त नहीं जानता है

त्माहं सर्वप्रत्ययसाक्षिभूतश्चेता (चेतयिता) केवलो निर्गुणोऽनेनैव स्वरूपेणाव्यक्तादीनां स्थावरान्तानामहमेवात्मेति सर्वभूतेषु चात्मानं निर्विशेषं यस्त्वनुपश्यति स आत्मवित् ततः तस्मादेवात्मदर्शनान्न विचिकित्सति न संशेते, 'कित रोगापनयने संशये च' इति—धातोः 'गुप्तिज्किद्भ्यः सन्' (पा० ३.१.५) इति स्वार्थे सन् प्रत्ययः। सर्वः संदेहोऽन्यदात्मनः पश्यतो भवत्यात्मानमेवात्यन्तं शुद्धं निरन्तरं पश्यतो न संदेहावकाशः। उभय कोटिक ज्ञानरूपः संशयो द्वैतं पश्यतो भवति न त्वात्मैक्यज्ञस्य।

'न विजुगुप्सत' इति शाखान्तरीयः पाठः तत्रायमर्थः—जुगुप्सां घृणां न प्राप्नोति। आत्मानमेवत्वत्यन्तविशुद्धं सांसारिकदोषविनिर्मुक्तं निरतिशयानन्दरूपमद्वयं पश्यतः किं निमित्ता घृणा जायेत। तस्मादात्मनः सार्वात्म्यानुसंदधानस्य जुगुप्सा न जायते इति युक्ततरम् 'घृणा दया जुगुप्सा वा जायते भेददर्शिनः।'

तथा उन सर्वभूतों में कारणरूप से या आत्मरूप से स्वयं को अनुस्यूत (प्रोत) जानता है अर्थात् जैसे 'इस कार्य-करण-संघात (शरीर) का आत्मा मैं सर्वघट-पट-ज्ञानों का साक्षी—चेतन तथा केवल (द्वितीय से रहित) निर्गुण हूँ, इसी रूप से (वैसे ही) अव्यक्त से लेकर स्थावर-पर्यन्त सर्वभूतों का भी आत्मा मैं ही हूँ', इस प्रकार सर्वभूतों में जो निर्विशेष आत्मा को जानता है, वह आत्मवेत्ता उस आत्मज्ञान के बल से किसी प्रकार का संशय नहीं करता। क्योंकि सर्वसंशय आत्मा से अतिरिक्त वस्तु को जाननेवाले को ही होते हैं। भेदरहित अत्यन्त शुद्ध आत्मा को जाननेवाले को तो जब संशय का अवकाश ही नहीं, तब संशय कैसे हों ? दो कोटि(प्रकार या धर्म)वाला संशयरूप ज्ञान द्वैतदर्शी पुरुष को ही होता है, न कि एक-अद्वितीय आत्मा के ज्ञाता को।

"न विचिकित्सति" के स्थान में दूसरी शाखा में 'न विजुगुप्सते' यह पाठ है। इसका यह अर्थ है—विद्वान् 'जुगुप्सा'—घृणा को प्राप्त नहीं होता। क्योंकि अत्यन्त शुद्ध सांसारिक दोषों से रहित निरतिशय आनन्दस्वरूप अद्वय (द्वैतवर्जित) आत्मतत्त्व को जाननेवाले को घृणा किस निमित्त से होगी ! जबकि आत्मा से अतिरिक्त का उसकी दृष्टि

यद्वा—यस्तु मुमुक्षुः सर्वाणि भूतानि आत्मन्येवास्मिन्नीशस्वरूप आनन्दात्मनि स्वयञ्ज्योतिष्येव, प्रत्यक्परात्मनोर्भेद वारणार्थ एवकारः, मयिप्रत्यक्चैतन्याभिन्ने परमात्मन्येव सर्वाणि भूतान्यध्यस्तानीति साक्षात्करोति। सर्वभूतेषु चात्मानम्—वस्तुतोऽहमेव सर्वभूतेष्ववस्थितो न मदतिरिक्तान्येतानि। एवं विज्ञानवतः फलमुच्यते प्रत्यक्चैतन्याभिन्नश्चिदेकरसोऽस्मीति विज्ञानवान् न विचिकित्सति, ऐकात्म्यज्ञानात् संशयविपर्ययादिरहितो भवति। 'न विजुगुप्सते' वा निन्दास्तुतिरहितो भवतीत्यर्थः।

दयानन्दः—"हे मनुष्याः यः आत्मन्येव सर्वाणि भूतान्यनुपश्यति यस्तु सर्वभूतेष्वात्मानं च समीक्षते स ततो न विचिकित्सतीति यूयं विजानीतेति।"

में अस्तित्व ही नहीं, जिससे कि घृणा हो। अतः यह कहना अत्यन्त युक्तिसंगत है कि आत्मा की सर्वरूपता का अनुसंधान (अपरोक्षज्ञान पूर्वक चिन्तन) करनेवाले को घृणा नहीं होती। अत एव अभियुक्तवचन है कि "घृणा अथवा दया आदिक मनोवृत्तियाँ भेददर्शी को ही होती हैं।"

अथवा—मन्त्र में 'एव' शब्द आत्मा तथा परमात्मा के भेद के निवारण के लिये प्रयोग किया गया है। जो मुमुक्षु 'प्रत्यक्चैतन्य स्वयंज्योति आत्मा से अभिन्न परमात्मा में सर्वभूत अध्यस्त (रज्जुसर्प के समान कल्पित) है,' ऐसा प्रत्यक्ष अनुभव करता है। वस्तुतः 'मैं ही सर्वभूतों में स्थित हूँ, मेरे से अतिरिक्त भूत नहीं हैं।' इस प्रकार का ज्ञान जिस पुरुष को है, उसको जो फल मिलता है वह कहा जाता है। 'प्रत्यक् चैतन्य से अभिन्न चिदेकरस मैं हूँ' ऐसा ज्ञानवाला पुरुष, संशयविपर्यय से रहित होता है, क्योंकि उसे केवल आत्मा का ही ज्ञान है, अन्य का नहीं। अथवा "न विजुगुप्सते" इसका अर्थ है कि वैसा आत्मज्ञानी निन्दा-स्तुति से रहित होता है।

श्रीदयानन्दभाष्य—"हे मनुष्यो! जो आत्मा में सर्वभूतों को देखता है तथा सर्वभूतों में आत्मा को देखता है, वह उस ज्ञान से संशय को प्राप्त नहीं होता है।"

तन्न, त्वद्रीत्या प्रकृति महति आकाशेऽपि सर्वभूतानां सत्त्वेन ब्रह्मणस्तदविशेषापत्तेः। न चोपादानोपादेयभावेन जगतः परमेश्वराश्रयत्वात् त्वया प्रकृतेरेवोपादानत्वाभ्युपगमात्। न चात्मशब्दश्च प्रत्यगात्मपर एव मुख्यः 'आत्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवती'ति श्रुतेः (बृहदा० उ० २.४.५)न च परमात्मानं जीवो द्रष्टुं शक्नोति, परमात्मविज्ञाने साधनानुपपत्तेः। न चक्षुरादि तत्र कारणं रूपाद्यभावात्, न च मानसं तत्र कारणं तस्य बहिरस्वातन्त्र्यात्। अन्तर्यामिणोऽबाह्यत्वेऽपि धर्माधर्मादिवदन्यात्मवच्चायोग्यत्वेनापि तदनुपपत्तेः ॥६॥

यह आपका भाष्य उचित नहीं; क्योंकि आपकी रीतिसे प्रकृति, महत्तत्त्व और आकाश में भी सर्वभूतों की विद्यमानता होने से ब्रह्म की आकाशादि से विशेषता न रहेगी अर्थात् ब्रह्म भी आकाशादि के समान हो जायगा। परन्तु मन्त्र में ब्रह्म में भूतों की तथा भूतों में ब्रह्म की असाधारणस्थिति का वर्णन है। यह भी नहीं कहा जा सकता कि 'ब्रह्म जगत् का उपादानकारण है तथा जगत् उपादेय (कार्य) है; अतः ब्रह्म में जगत् की तथा जगत् (भूतों) में ब्रह्म की विशेषस्थिति है। उस प्रकार की स्थिति जगत् (भूतों) की आकाश में तथा भूतों में आकाश की नहीं है" क्योंकि आपने भूतों का उपादानकारण ब्रह्म नहीं माना, अपि तु प्रकृति को ही माना है। मन्त्र में आत्मशब्द प्रत्यक्-आत्मा का ही मुख्यरूप से वाचक है; क्योंकि "आत्मनः" इस बृहदारण्यक श्रुति में आत्मशब्द का प्रयोग प्रत्यक्-आत्मा के लिये ही किया गया है। आत्मशब्द का अर्थ परमात्मा मान भी लिया जाय तो इस मान्यता में दोष यह है कि परमात्मा को जीव देख नहीं सकता तथा मंत्र में आत्मशब्द के वाच्य का प्रत्यक्ष अनुभव कहा गया है; अतः मन्त्र में आत्मशब्द, परमेश्वर का वाचक नहीं। परमात्मा के प्रत्यक्ष जानने के साधन भी असिद्ध हैं। चक्षु तो रूप तथा रूपवाली वस्तु के जानने में समर्थ है, परमात्मा रूपादि के अभाववाला है, अतः परमात्मा के प्रत्यक्ष जानने में चक्षुः आदि इन्द्रिय साधन नहीं। मन भी इन्द्रियों के बिना बाह्यवस्तु के जानने में असमर्थ है। अन्तर्यामी यद्यपि बाह्य है नहीं, तथापि उसके जानने में मन की योग्यता उसी प्रकार नहीं, जिस प्रकार अन्तःस्थित धर्माधर्मादि के जानने की उसमें योग्यता नहीं। अपने से अन्य देवदत्तादि

यस्मिन् सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद्विजानतः ।
तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः ॥७॥

जिस कालविशेष अथवा आत्मा में ब्रह्मात्मतत्त्व की सर्वरूपता को जाननेवाले के लिये सर्वभूत अपने कल्पित-स्वरूप को त्यागकर अकल्पित-चिदानन्दस्वरूप-आत्मा ही हो जाता है; उस काल अथवा आत्मा में असंग अद्वितीय आत्मा के एकत्वदर्शी को कारण सहित संसार का निवारण हो जाने से शोक और मोह नहीं होता ॥७॥

यस्मिन् **अवस्थाविशेषे** यस्मिन् **काले आत्मनि वा** सर्वाणिभूतानि चेतनाचेतनानि; विजानतः—'आत्मैवेदं सर्वं' (छा० ७.२५.२), 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' (छा० ३.१४.१; महा० नारा० १.३) **त्येवमादिवाक्य-विचारेणावधृतपरमार्थस्य सतः** आत्मैवाभूत् **स्वं स्वं रूपं परित्यज्य कल्पितमकल्पितमानन्दात्मस्वरूपमेवाभूत्, परमार्थदर्शनादात्मैव संवृत्तः,** तत्र **तस्यामवस्थायां तत्रात्मनि वा विशुद्धमाकाशतुल्यमात्मैकत्वं** पश्यतः को मोहः कश्चशोकः, **न कश्चिदपीत्यर्थः । अविज्ञातात्मतत्त्वस्यैव शोकमोहादिसंसारसंभवात्, एकत्वमनुपश्यत** इति **हेतुगर्भविशेषणम्,**

में परमात्मा का प्रत्यक्ष उसी प्रकार संभव नहीं है, जिस प्रकार दूसरे के आत्मा का प्रत्यक्ष संभव नहीं ॥६॥

जिस कालविशेष, अथवा आत्मा में भूतों को जाननेवाले को अर्थात् "यह सर्व आत्मा ही है" अथवा "यह सर्वब्रह्म हा है" इत्यादि वाक्यों के विचार से परमार्थस्वरूप को जाननेवाले को सर्वभूत आत्मा ही हो गया अर्थात् अपने कल्पित स्वरूप को त्यागकर परमार्थदर्शन से अकल्पित (वास्तविक) आनन्दस्वरूप आत्मा ही हो गया (हो जाता) है, उस काल अथवा आत्मा में विशुद्ध आकाश के समान असंग

शोकमोहयोरविद्याकार्ययोराक्षेपेणासंभवप्रदर्शनात् सकारणस्य संसारस्यात्यन्तमेवोच्छेदः प्रदर्शितः। यस्मिन् निर्विकल्पे परेऽव्यये स्वात्माभिन्ने ब्रह्मणि सर्वाणिभूतान्यात्मैव संवृत्तः, तत्र तस्मिन् अविद्यातत्कार्यमुक्ते कः शोकः को मोहः स्वव्यतिरिक्तस्यैवाभावात् सर्वं विकारजातं तस्य विदुषः स्वात्मरूपमेव भवति। तत्र शोकमोहयोः कुतः प्रसंगः ? कुत एतदिति चेत्तत्रोच्यते—एकत्वम्—परमात्मना सहैकत्वमनु पश्यतः गुरुमुखान्महावाक्यार्थं श्रुत्वाऽनुपश्चात् साक्षात्कुर्वतः। निरतिशयानन्दं सर्वदुःखासंस्पृष्टमात्मानमजानत एव शोको भवति मोहश्च। अन्वयव्यतिरेकाभ्यां शोकादेरविद्याकार्यत्वावधारणान्मूलाविद्यानिवृत्त्यैव शोकादेः समूलोन्मूलनात्।

आत्मा के एकत्व के देखने (प्रत्यक्ष अनुभव करने) वाले को कोई मोह और शोक नहीं होता। क्योंकि जो एक-अद्वितीय आत्मतत्त्व को नहीं जानता, उसी को शोक-मोहादि संभव हैं, तत्त्वज्ञ को नहीं। एकत्व को जाननेवाले के लिये आक्षेपपूर्वक शोक-मोह असंभव प्रदर्शन करने से यह सिद्ध किया है कि अज्ञानरूप कारण के सहित शोक-मोहादि सर्वसंसार का उच्छेद हो जाता है। जिस निर्विकल्प आत्मा से अभिन्न अव्यय परब्रह्म परमात्मा में सर्वभूत आत्मा ही हो गये, उस अविद्या तथा अविद्या के कार्य से मुक्त आत्मा में कौन शोक तथा मोह है ? अर्थात् न कोई। क्योंकि अपने से अतिरिक्त का अभाव हो जाता है, ऐसे विद्वान् को तो सर्वविकार समुदाय स्वात्मरूप हो जाता है। ऐसे (उस) विद्वान् में शोक-मोह की किस निमित्त से प्राप्ति संभव है ? अर्थात् किसी से नहीं। यदि कहा जाय कि ऐसा कैसे ? तो कहा जाता है कि वह विद्वान् गुरु के मुख से महावाक्य के अर्थ (एकत्व) को श्रवण करने के पश्चात् एक-अद्वितीय आत्मतत्त्व का साक्षात्कारवाला होने से उसके शोक-मोह नष्ट हो जाते हैं। निरतिशय आनन्दस्वरूप सर्वदुःखों से असम्बन्धित आत्मा को न जाननेवाले को ही शोक और मोह होते हैं। "अविद्या होने पर शोक-मोह होते हैं, अविद्या (अज्ञान) न होने पर नहीं होते" इस अन्वय–व्यतिरेक–युक्ति से शोक और मोह अविद्या के कार्य हैं, ऐसा निश्चय होता है; अतः शोक तथा मोह, आत्मतत्त्व के अज्ञानी को ही होते हैं। परमात्मा से अभिन्न आत्मा के

दयानन्दः—"यस्मिन्परमात्मनि विजानतः सर्वाणिभूतान्यात्मैवाभूत्, तत्रैकमनुपश्यतः को मोहोऽभूत् कः शोकश्च" इति ।

तदपि न शोकमोहादिहेतोः [२२]संसारस्य सत्त्वे शोकमोहाक्षेपासम्भवात् । परमात्मन एकत्वेऽपि संसारस्य बाधानङ्गीकारात् । सिद्धान्ते तु सर्वस्य संसारस्य ब्रह्मणि कल्पितत्वात् तज्ज्ञानेन तद्बाधितत्वात् सम्भवत्येव हेतुराहित्येन शोकादिबाधः ॥७॥

अज्ञान (मूलाविद्या) की निवृत्ति होने से ही शोक तथा मोह समूल नष्ट हो जाते हैं ।

श्रीस्वामी दयानन्दजी कहते हैं कि—जिस काल में परमात्मा में स्थित सर्वभूत विद्वान् को आत्मा हो जाता है, उस काल में सर्वभूतों में एक परमात्मा को देखने वाले को कौन शोक-मोह ? अर्थात् कोई भी शोक-मोह नहीं होता ।

उनका यह लिखना भी उचित नहीं; क्योंकि शोक-मोहादिका कारण है संसार । वह जब तक विद्यमान है, तब तक सम्पूर्ण शोक-मोह की निवृत्ति असम्भव है । परमात्मा एक होने पर भी आपको संसार का बाध स्वीकार नहीं है । शोक-मोह के कारण संसार का बाध न होने से सर्वशोक-मोह की निवृत्ति संभव नहीं । हमारे सिद्धान्त

---

२२. शोको 'मानसस्तापो मोहो विवेकाभावः । आदि शब्दस्तदवान्तरभेदार्थः । स एव संसारस्य दुःखात्मनो बीजभूतो दोषस्तस्योद्भवेकारणमहङ्कारो ममकारस्तद्धे तुरविद्या च ।..........मोहइति मिथ्या ज्ञानम् । आत्मयाथात्म्यज्ञानविरहवतो नाहं सुखी भवामि किन्तु दुःखीत्येवं विधम् । शोकश्च तत्प्रयुक्तो हृदयदाहविशेषः । तत्स्वरूपं—'हा हतोऽहं, न मे पुत्रोऽस्ति, न मे क्षेत्रम्' । अहं–मम, कर्तृत्व–भोक्तृत्व, सुखित्व–दुःखित्वरूप संसार अविद्या का कार्य है । अविद्या की निवृत्ति से ही शोक-मोहसहित संसार की निवृत्ति संभव है । जिनके मत में संसार सत्य है, उनके मत में शोक-मोह की आत्यन्तिक-निवृत्ति असङ्गत है ।

स पर्य॑गाच्छु॒क्रम॑का॒यम॑व्र॒णम्-

॑स्नावि॒र॑ꣳ शु॒द्धमपा॑पविद्धम् ।

क॒विर्म॑नी॒षी प॑रि॒भूः स्व॑य॒म्भूर्या॑थातथ्य॒-

तोऽर्था॒न्व्य॑दधाच्छाश्व॒तीभ्यः॒ समा॑भ्यः ॥८॥

'ब्रह्म' आकाशवत् व्यापक है। 'शुक्र' अर्थात् विशुद्धविज्ञानघन स्वप्रकाश चिदानन्दस्वरूप है। एकत्वविज्ञान से उसकी उपलब्धि होती है। वह स्वानुरूप दिव्यविग्रहयुक्त होने पर भी जीवोचित और भगवत्समसत्ताक स्थूल-सूक्ष्म-कारण-देह रहित है। देहरहित होने से **'शुद्ध'** अर्थात् सत्त्व-रज-तमरूप त्रिगुणरहित है। **'अपापविद्ध'** अर्थात् क्लेश-कर्म-विपाक-आशयरूप कर्तृत्वशून्य है। **'कविः'**—क्रान्तदर्शी अर्थात् सर्वद्रष्टा है। **'मनीषी'**—मनका प्रेरक सर्वज्ञ परमेश्वर है। **'परिभूः'**—सर्वोपरि है। **'स्वयंभूः'**—सर्वरूप, सर्वात्मा, सर्वशक्ति है। निज स्वातन्त्र्य-शक्ति से सर्वभवन–समर्थ है। प्रजापतियों के लिये कर्मसाधन-सहित कर्तव्यपदार्थों का विधायक है। इस रहस्य का मर्मज्ञ अहंता-ममता-त्यागपूर्वक ही स्थावर-जङ्गमात्मक-प्रपञ्च के द्वारा भोग करनेवाला होता है ॥८॥

जगति य एवमात्मानं पश्यति स ईदृशं ब्रह्म पर्यगात् परिगच्छति

में तो सर्व संसार ब्रह्म में कल्पित है; अतः परमात्मा के ज्ञान से संसार का बाध हो जाने से शोक-मोह के कारण संसार के न रहने से शोक-मोहादि का भी बाध संभव है ही ॥७॥

संसार में जो कोई एक, अद्वितीय परमात्मा से अभिन्न आत्मा

प्राप्नोति। कीदृशं तद्ब्रह्म ? शुक्रं शुक्लं शुद्धम् विज्ञानानन्दस्वभावम्। अकायम् देहरहितम्। तत एवाकायमव्रणमक्षतम्। अस्नाविरं न विद्यन्ते स्नावाः शिरा यत्र तत् स्नायुरहितम्। अकायत्वादेव शुद्धमनुपहतं सत्त्वरजस्तमोभिः। अपापविद्धम् न पापैर्विद्धम्, क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टम्। अकायमव्रणमस्नाविरमिति. [२३]पुनरुक्तिरादरार्थाऽतिशयार्था वा। य ईदृश उपासकः स शाश्वतीभ्यः समाभ्यः निरन्तरमनन्तवर्षेभ्योऽर्थाय,अनन्तवर्षप्राप्तये याथातथ्यतः यथातथाभावो याथातथ्यं तेन यथास्वरूपमर्थान् व्यदधाद् विहितवान्। त्यक्तस्वस्वामिसम्बन्धैश्चेतनाचेतनैरर्थैरुपभोगं कृतवान्। स च कविः क्रान्तदर्शी। मनीषी मेधावी। परिभूः परितः सर्वतोभवतीति, ज्ञानबलात् सर्वरूपो भवति। स्वयं भवतीति स्वयम्भूः ब्रह्मरूपेण भविता। ईदृशोऽपि पूर्वोक्तं शुक्रमकायमित्यादिविशेषणविशिष्टं ब्रह्म प्राप्नोतीत्यर्थः।

को प्रत्यक्ष अनुभव करता है,वह ऐसे परमात्माको प्राप्त हो जाता है। कैसे परमात्मा (ब्रह्म)को ? जो देहरहित है, जो व्रण (घाव)से रहित है, जिसके स्नायु नहीं हैं। अशरीर होनेसे ही जो शुद्ध सत्त्व,रजः तथा तमोगुण से युक्त नहीं है। जो पापरहित है, अर्थात् क्लेश-कर्म और कर्मों के फल तथा वासनाओंसे शून्य है। जो शरीररहित होता है, वही व्रण तथा स्नायु से भी रहित होता है। जो व्रण रहित होता है, वही शरीर तथा स्नायु से रहित होता है तथा जो स्नायु से रहित होता है वही शरीर तथा व्रण से रहित होता है। भाव यह कि तीनों शब्द एक ही अर्थ के वाचक हैं, अतः यहाँ पुनरुक्ति है। एक अर्थ के वाचक अनेक शब्दों का एकत्र कथनरूप पुनरुक्ति का प्रयोग बिना प्रयोजन के किया जाय तो वह दोषरूप होता है; परन्तु यहाँ दोषरूप नहीं, क्योंकि यह पुनरुक्ति ब्रह्म के आदर अथवा अतिशय को बोधन करने के लिये है। जो ऐसा उपासक है उसने अनन्तवर्षों पर्यन्त स्वस्वामिभाव सम्बन्ध से (अहंता-ममता से) रहित पदार्थों से भोग किया है। वह क्रान्तदर्शी मेधायुक्त ज्ञान के बल से सर्वस्वरूप होता है। वह 'स्वयंभू' अर्थात् स्वयं ही होता है। ब्रह्मस्वरूप होने से स्वयंभू होता है। इस प्रकार के ब्रह्म को प्राप्त होता है।

---

२३. 'अभ्यासे भूयांसमर्थं मन्यन्ते' (निरु० १०.४२) इति यास्कोक्तेः।

यद्वा—पूर्वोक्तैर्मन्त्रैरुक्तः स आत्मा पर्यगात् आकाशवत्परितो व्याप्नोति। स इति कविर्मनीषीति उभयत्र पुंल्लिगतया निर्देशात् शुक्रमित्यादीनि मध्यगतान्यपि विशेषणानि पुल्लिङ्गत्वेन नेयानि विपरिणेयानि। शुक्रं शुक्रः ज्योतिष्मान् स्वप्रकाशोऽखण्डबोधानन्दस्वरूपः। अकायम् अकायोऽशरीरः—लिङ्गशरीररहितः। अव्रणम् अव्रणोऽक्षतः—क्षतरहितः। अस्नाविरम् अस्नाविरः—स्नायुरहितः। आभ्यां विशेषणाभ्यां स्थूलदेहविवर्जित आत्मा प्रतिपिपादयिषितः। शुद्धम् शुद्धो निर्मलः अविद्यामलशून्यः, कारणशरीररहितः। एवं शरीरत्रयशून्यः। अपापविद्धम् धर्माधर्मलक्षणेन पापेन अविद्धः रहितः, अकर्तृस्वरूप इत्यर्थः।

ननु तथात्वे परमात्मनो हिरण्यकेशत्व, हिरण्यश्मश्रुत्व, हिरण्यबाहुत्व, शितिकण्ठत्व, जगद्योनित्वादिकञ्च विरुद्धयेतेति चेन्न, नमो हिरण्यबाहव इत्यादिवचनविरोधात् भगवत्स्वरूपविषमसत्ताकदिव्य-

---

अथवा पूर्वोक्तमंत्रों से उक्त (कहा गया) वह आत्मा 'पर्यगात्' आकाश के समान सर्व को सर्व ओर से व्याप्त करता है। आदि तथा अन्त के विशेषण पुल्लिङ्ग हैं; अतः मध्य के 'शुक्रं' इत्यादि विशेषण नपुंसक होते हुए भी पुंल्लिग में परिवर्तित कर लेने (बदललेने) चाहिये। **शुक्र**—स्वयंप्रकाश अखण्डज्ञान तथा परमानन्दस्वरूप, **अकाय**—सूक्ष्मशरीररहित, **अव्रण**—क्षत (घाव) रहित, **अस्नाविर**—स्नायु से रहित अर्थात् इन दोनों विशेषणों से स्थूलशरीर से रहित, **शुद्ध**—अविद्या-मल अर्थात् कारणशरीर से रहित—शरीर में रहते हुए भी वस्तुतः तीनों शरीरों से रहित, अपापविद्ध—धर्माधर्मरूप पाप से रहित अर्थात् अकर्तास्वरूप आत्मा है।

"परमात्मा शरीरादि से रहित होने पर तो परमात्मा सुनहरी केश-श्मश्रु (दाढ़ी-मूँछ), सुनहरी बाहुवाला तथा नीलकण्ठ, संसार का कारण है, यह सर्व कथन बाधित हो जायगा तथा इन धर्मों का परमेश्वर में प्रतिपादन करनेवाला शास्त्र भी अप्रमाण हो जायगा।" परन्तु ऐसा कहना उचित नहीं; क्योंकि इस कथन का **'नमो हिरण्यबाहवे'** इस शास्त्र से विरोध है। परमेश्वर को अशरीर तथा सुनहरे केशादिवाले तथा शरीर से युक्त कहने का तात्पर्य यह है कि परमात्मा से विषमसत्ता (व्यावहारिकसत्ता) वाला परमेश्वर का शरीर है; किन्तु

विग्रहवत्त्वेऽपि तत्समसत्ताकस्यैव शरीरत्रितयस्य निषेध एव नञः पर्यवसानात् । ननु सर्वनिषेध एव कुतो न नञर्थ इतिचेन्न अनुदरी कन्येत्यत्र कृशोदरीत्यर्थस्येव प्रकृतेऽपि पूर्वोक्तार्थसामञ्जस्यात् ।

प्रकृतमुच्यते—कवि: क्रान्तदर्शी सर्वद्रष्टा [२४] "नान्योऽतोऽस्ति द्रष्टा" (बृहदारण्यकोपनिषत् ३.७.२३) इतिश्रुतेः । मनीषी मनस ईषिता प्रेरकः, सर्वज्ञः परमेश्वरः । परिभूः—परि उपरि सर्वेषां भवतीति परिभूः । स्वयम्भूः येषामुपरिभवति यश्चोपरिभवति स सर्वः स्वयमेव भवतीति स्वयम्भूः । स सर्वद्रष्टा सर्वज्ञः सर्वशक्तिः । याथातथ्यत: परमार्थतः यथारूपान्, यथाभूतकर्मफलसाधनतो वा । अर्थान् कर्तव्यपदार्थान् । व्यदधात् विहितवान् । शाश्वतीभ्य: समाभ्यः प्रजापतिभ्यः । 'संवत्सरो वै प्रजापति:' [२५] (शतपथब्राह्मण १०.२.६.१) इति श्रुतेः । 'त्वया इदं कर्तव्यमि'ति विधिरूपं यज्ञं जीवानुरूपं व्यभजत् ।

परमेश्वर के समानसत्ता (परमार्थसत्ता) वाला शरीर नहीं है। 'अशरीरादि शब्दों से सर्व प्रकार के शरीरादि का ही निषेध क्यों नहीं माना जाता ?' यह कहना भी उचित नहीं; क्योंकि जिस प्रकार 'अनुदरी कन्या' का 'बिना उदर के, कन्या है,' ऐसा अर्थ नहीं किया जाता, अपि तु 'कृश (अतिस्वल्प) उदरवाली कन्या है' ऐसा ही अर्थ किया जाता है, इसी प्रकार मन्त्र में अकाय शब्द का 'परमार्थसत्ताक शरीर नहीं' यही अर्थ है। 'सर्वथा शरीर नहीं', ऐसा नहीं।

कवि=सर्व द्रष्टा, क्योंकि बृहदारण्यक श्रुति, परमात्मा को सर्वद्रष्टा कहती है। मनीषी=मन का ईषिता (प्रेरक) सर्वज्ञ परमेश्वर, परिभू=जो सर्वोपरि है। स्वयंभू—जिनके ऊपर है, जो ऊपर है, वह सर्व स्वयं ही होता है; अत: स्वयंभू है। वह द्रष्टा सर्वज्ञ-सर्वशक्ति-पर-

---

२४. परमात्मा से अतिरिक्त और कोई द्रष्टा नहीं है।

२५. शतपथ ब्राह्मण में "सम्वत्सर प्रजापति हैं" ऐसा कहा गया है; अत: मन्त्र में सम्वत्सर के वाचक 'समा' शब्द का अर्थ प्रजापति किया है।

[२६]"यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै ।
तँ् ह देवमात्मबुद्धिप्रकाशं मुमुक्षुर्वै शरणमहं प्रपद्ये ॥"

(श्वेताश्वतरोपनिषत् ६.१८)

'स पर्यगात्' **इत्यात्मनो व्यापकत्वमुक्तम् ।**

[२७]"यच्च किञ्चिज्जगत्सर्वं दृश्यते श्रूयतेऽपि वा ।
अन्तर्बहिश्च तत्सर्वं व्याप्य नारायणः स्थितः ॥"

इति श्रुतेः (महानारायणो० ११.६)

व्यापकत्वात् स एवात्मा —

[२८]"यच्चाप्नोति यदादत्ते यत्त्वत्ति सकलानिह ।
यच्चास्य सन्ततोभावस्तस्मादात्मेति गीयते ॥"

इति स्मरणात् ।

मेश्वर कर्तव्यपदार्थों को प्रजापतियों के लिये यथाभूत कर्म के साधन-पूर्वक विधान करता है । 'तुमको यह कर्तव्य है' इस प्रकार विधिरूप यज्ञ का जीवानुरूप विभाग किया । 'यो ब्रह्माणं' यह श्वेताश्वतरश्रुति ऐसा कह रही है ।

"स पर्यगात्" इतने वाक्य से आत्मा की व्यापकता कही; क्योंकि **"यच्च"** यह नारायणश्रुति उसे व्यापक बोधन कर रही है ।

व्यापक होने से वह परमात्मा ही आत्मा है, क्योंकि **"यच्चाप्नोति"** इस स्मृति में आत्मा को व्यापक कहा गया है । वह परमात्मा से अभिन्नआत्मा शुद्ध स्वयं ज्योति है,अर्थात् शुद्धज्योतिस्वरूप=नित्य

---

२६. जिस परमात्मा ने पहिले ब्रह्मा को रचा है, जिसने उस ब्रह्मा के लिये वेद प्रदान किया है, मैं मुमुक्षु उस जीवों की बुद्धि के साक्षीपरमात्मदेव की शरण हूँ ।

२७. जो कुछ जगत् देखा तथा सुना जाता है, उस सर्व को व्याप्त करके नारायण भगवान् स्थित है ।

२८. पाठान्तर—सकलानिह—विषयानिह, गीयते—कीर्त्यते । द्रष्टव्य शाङ्करभाष्य कठो० २.१.१ ।

स च शुक्रं शुद्धः स्वयंज्योतिः, शुक्लज्योतिस्वभावः नित्य-चिन्मात्रविग्रहः । अकायं **लिङ्गदेहविवर्जितः ।** अव्रणमस्नाविरं **व्रण-शिरादिविवर्जितः ।** अपापविद्धं **धर्माधर्मशून्यः ।** शुद्धं **मायापाशवर्जितः ।** कविः **क्रान्तदर्शी ।** मनीषी **मनसोऽपि नियन्ता सर्वसाक्षी ।** परिभूः **सर्वोपरिभविता ।** स्वयंभूः **सर्वः, स्वयमेव भवति ।**

यद्वा—स देवो निरञ्जनो सर्वव्यापी सर्वगः देहद्वयविवर्जितः परिभवति सर्वकार्याणीति, स्वयमेव स्वातन्त्र्येण भवतीति स्वयंभूः ।

यद्वा—स ईश्वरस्वरूपाभिन्न आत्मा पर्यगात् **परितः समन्ताद-गादधिगतवान् ।** स चाकायः—**सूक्ष्म देहवर्जितः । कुतः इति चेत्तत्राह—** अव्रणः । अस्नाविरः **स्थूलशरीर** रहितः, **सति स्थूले तद्धेतुत्वेन सूक्ष्मस्यानुमातुं शक्यत्वात् । स्थूलदेहराहित्ये** हेतुः—शुद्धं **पुण्यपापादिरहितम् । तत्रापि** हेतुरपापविद्धं **पापं दुःखहेतुरविद्या,**

चेतनस्वरूप है । **अकाय**=लिङ्ग शरीररहित, क्षत (घाव) तथा स्नायु (नस) से रहित, धर्माधर्म से शून्य, मायापाश (पंचक्लेशरूपपाश) से रहित, **मनीषी** मनका नियन्ता—सर्वकासाक्षी, **परिभू**=सर्व से ऊपर वर्तमान (परमार्थसत्तावान्), **स्वयंभू**=स्वतः सिद्ध है ।

अथवा वह मायामल से रहित आत्मदेव, सर्वव्यापक देहदो (स्थूल-सूक्ष्म) से रहित तथा सर्वकार्यों को अपने वश में रखनेवाला है । वह स्वयं अर्थात् स्वतन्त्ररूप से होता है । भाव यह कि वह स्वतः सिद्ध है ।

अथवा वह ईश्वर से अभिन्न आत्मा, सर्व ओर से व्याप्त है अर्थात् वह ऐसा व्यापक है कि उसके विना किसी की सत्ता ही नहीं है । वह **अकाय**=सूक्ष्मशरीर से रहित है, क्योंकि वह **अव्रण**=क्षत-रहित और **अस्नाविर**=स्नायु से रहित अर्थात् स्थूलशरीर रहित है । स्थूलशरीर होने पर ही सूक्ष्मशरीर का अनुमान किया जा सकता है । जब स्थूलशरीर नहीं तो सूक्ष्मशरीर भी नहीं । स्थूलशरीर के अभाव में हेतु है कि वह आत्मा शुद्ध=पाप-पुण्य से रहित है । पाप-पुण्य होने पर ही स्थूलशरीर मिलता है । पाप-पुण्य नहीं तव स्थूलशरीर भी नहीं । पाप-पुण्य के अभाव में हेतु है अपापविद्ध । पापशब्द का वाच्य यहाँ दुःख का हेतु होने से अविद्या है । अविद्या से भी आत्मा रहित

न तेन विद्धमपापविद्धम् । यस्मादेतादृशं शुक्रमहमस्मि तस्मात् स जीवः पर्यगात्तस्मात्सोऽप्येवंविशेषणः, तेन न जीववदीश्वरस्याप्यात्मत्वाद्देहादिसम्बन्धः सम्भवति। अनेजदादिरूपं यदुक्तमीट्स्वरूपं, तदेवायं जीवोऽपि। कुतः ! कविः क्रान्तदर्शी, अपास्तसर्वाविद्यः। मनीषी सर्वस्य हृदि सत्त्वेन मनसोनियन्तृत्वात्। परिभूः परिसमन्तात् भवत्यविद्यावशात्। अविद्यां परिभावयतीति वा परिभूः। कारणान्तरनिरपेक्षः। स्वयमेवभवतीति स्वयंभूः। स स्वाविद्यादशायां याथातथ्यतः साध्यसाधनादि प्रतिनियतस्वरूपेणार्थांश्चेतनाचेतनात्मकविविधपदार्थान्व्यदधाद्विविधं कल्पितवान्। ज्योतिष्टोमेनैव स्वर्गो न कृष्यादिनोपास्त्यादिरूपेण वा। साधनसाध्यात्मकं प्रतिनियतरूपं जगत् शाश्वतीभ्यः समाभ्यः संवत्सराभिधाभ्योऽस्मिन्नस्मिन्काल इदमिदं भविष्यतीत्यादिना कल्पितवान्।

है। अविद्या के बिना उसमें पाप-पुण्य संभव नहीं। "क्योंकि ऐसा शुद्ध ब्रह्म मैं हूँ", अतः जीव भी व्यापक है, परमात्मा के समान ही विशेषणवाला आत्मतत्त्व है। जीव के समान ईश्वर का भी आत्मा (वास्तविकस्वरूप)होनेसे आत्मतत्त्व में देहादि किसी अनात्मपदार्थ का सम्बन्ध संभव नहीं। जो ईश्वर का स्वरूप कहा वही जीव का स्वरूप भी है। क्योंकि जीव का स्वरूप भी कवि=क्रान्तदर्शी अर्थात् सर्वअविद्या से रहित है। सर्वअविद्या से रहित भी सर्व के हृदय में विद्यमान होने से अविद्या का नियन्ता होने के कारण **'मनीषी'** है।

अविद्या के वशीभूत होने से सर्व ओर है, सर्वशरीरों में है; अतः **परिभू** है। अविद्या का परिभावन—परिशीलन करता है, उससे तादात्म्यापन्न होता है अथवा अविद्या का पराभव (बाध) करता है इसलिये भी वह **परिभू** है। ज्योतिस्वरूप है, अतः अविद्या का भी प्रकाशक है। अत एव अविद्या से पराभूत (तिरस्कृत) नहीं, अपि तु ज्ञातत्वोपलक्षित आत्मा का ज्योतिस्वरूप ही अविद्या का बाधक है। किसी कारण की अपेक्षा के बिना स्वयं सिद्ध है; अतः वह **स्वयंभू** है। उस जीव-आत्मा ने अपनी अविद्यादशा में "यह साध्य है, यह साधन है" इस प्रकार नियत साध्य-साधनरूप से चेतन-अचेतन पदार्थों को विविधरूप में

यद्वा यत्तदोर्नित्यसम्बन्धात् यद्ब्रह्म पर्यगात् परि **सर्वतः जगत्** अगात् **व्याप्यासीत्। यच्च शुक्रं दीप्तिमत्वात् स्वप्रकाशं** [२९]"तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति" **(कठोपनिषत् अ. २ व. २ म. १५)इति श्रुतेः।** अकायं—**सूक्ष्मदेहरहितम्, निरवयवत्वादव्र**णमस्नाविरं **स्थूलदेहरहितम्,** [३०]"अशरीरं शरीरेष्वनवस्थेष्ववस्थितम्" **(कठोपनिषत् अ. १ व. २ म. २१)।** शुद्धम्—**मायासम्बन्धशून्यम्** 'तमसः परमुच्यते'[३१] **(त्रिपाद. महा. ४.१, गीता १३.१७) इत्युक्तेः। अपापविद्धम् पुण्यपापवर्जितम् पुनरावृत्तिहेतुत्वात्पुण्यमपि पापमेव** [३२]'न वर्धते कर्मणा नो कनीयानि'ति श्रुतेः **(बृह० उ० ४.४.२३)। स तदेतादृशं ब्रह्मैव अनन्तब्रह्माण्डोत्पत्यादिशक्तिमादायेश्वरो भूत्वा**

कल्पना किया है। ज्योतिष्टोम से या किसी उपासना विशेष से ही स्वर्ग है, कृषि आदि से नहीं, इत्यादिरूप से साध्य–साधनात्मक (कार्य-कारणात्मक)'नियतस्वरूपवाला जगत् इस काल में यह होगा तथा इस काल में यह होगा' इस रूप से उसने कल्पना की है।

अथवा—यत्-तत् का नित्यसम्बन्ध होने से यत्—जो ब्रह्म सर्व जगत् को व्याप्त कर विद्यमान है और जो शुक्र=दीप्तिवाला होने से स्वप्रकाश है। क्योंकि **"तमेव"** यह श्रुति उसको स्वप्रकाश कह रही है। जो अकाय=सूक्ष्मशरीररहित, निरवयव होने से व्रण तथा स्नायु-रहित अर्थात् स्थूलशरीररहित है। **"अशरीरम्"** यह श्रुति भी उसे अशरीर कहरही है। जो शुद्ध=माया संबंधसे शून्य है। श्रुति भी जिसे तम=माया से रहित कर रही है। जो अपापविद्ध=पुण्य-पाप से रहित है। पुनर्जन्म का हेतु होने से पुण्य भी पाप है,अत एव अपापविद्ध शब्द का पुण्य-पाप से रहित अर्थ किया है। क्योंकि **'न वर्धते'** यह श्रुति

---

२९. उस देदीप्यमान आत्मतत्त्व के पश्चात् ही सर्व प्रकाशित होता है। उसके प्रकाश से ही सर्व प्रकाशित होता है।

३०. अनवस्थित (अनित्य शरीरों) में शरीररहित आत्मा स्थित है।

३१. आत्मा तम (माया) से परे कहा जाता है।

३२. वह परमात्मतत्त्व कर्म से न बढ़ता है, न घटता है।

कविरतीतानागतद्रष्टा, [३३]'सोऽकामयत बहुस्या' (तैत्ति० ३.६) इत्यादि -श्रुतिभ्यः, स्मृतेश्च —

"वेदाहं समतीतानि वर्तमानानि चार्जुन।
भविष्याणि च भूतानि मां तु वेद न कश्चन ॥" [३४]इत्यादि।
(भगवद्गीता ७.२६)

परिभूः उपरि भवतीति सर्वोत्कृष्टः, [३५]"पुरुषान्न परं किञ्चिदि'-ति" (कठो० १.३.११) श्रुतेः। अन्यत्पूर्ववत्।

यद्वा—शुक्रमित्यादिविशेषणोपलक्षितं ब्रह्मपर्यगात्, सर्वभावेन ज्ञातवान्, गत्यर्थानां बुद्ध्यर्थत्वात्। स ब्रह्मज्ञः कविः क्रान्तदर्शी, मनीषी द्वैतसम्बन्धराहित्येन प्रशस्तबुद्धिसम्पन्नः, परिभूः परितो भवति सर्व-स्वरूपः, स्वयंभूः ब्रह्मरूपः सन् याथातथ्यतो यथास्वरूपं तेन तेन रूपेण

उसे कर्मों के प्रभाव से रहित कह रही है। वह ऐसा ब्रह्म ही अनन्त-ब्रह्माण्डों की उत्पत्ति, स्थिति तथा प्रलय करनेवाली शक्ति को लेकर अर्थात् मायाशक्ति से विशिष्ट होकर, ईश्वरपद का वाच्य होकर कवि =भूत-भविष्यत् का ज्ञाता होता है। 'सोऽकामयत','वेदाहं' इत्यादिक अन्य श्रुति-स्मृतियाँ भी परमात्मतत्त्व को भूत, भविष्यत् तथा वर्तमान का ज्ञाता कह रही हैं। परिभू=सर्व के ऊपर होता है, अर्थात् सर्वो-त्कृष्ट है, क्योंकि उसे "पुरुषात्" यह कठश्रुति सर्वश्रेष्ठ कह रही है। अन्य अर्थ पूर्ववत् है।

अथवा—जिसने शुक्रादि विशेषणों से उपलक्षित शुद्धब्रह्म जान लिया, वह ब्रह्म को जाननेवालापुरुष कवि=क्रान्तदर्शी, मनीषी= द्वैत के सम्बन्ध से रहित श्रेष्ठबुद्धि से सम्पन्न (युक्त), परिभू=सर्व-

---

३३. "मैं अतीत, अनागत और वर्तमान प्राणियों को जानता हूँ, पर मुझे कोई अभक्त नहीं जानता।"

३४. परमात्मा ने इच्छा की कि 'मैं एक हूँ बहुत हो जाऊँ।'

३५. पुरुष से श्रेष्ठ कोई नहीं है।

अर्थान् **पदार्थान् भोग्यविषयान्** शाश्वतीभ्यः समाभ्यः, **तादर्थ्ये चतुर्थी, अनन्तवर्षोपभोगाय,** व्यदधात्—**विविधं करोति ।** [३६]"यस्यानुवित्तः प्रतिबुद्ध आत्माऽस्मिन् संदेह्ये गहने प्रविष्टः । स विश्वकृत्स हि सर्वस्य कर्तेतिश्रुतेः (बृहदा० उ० ४।४।१३) ।

दयानन्दः—"हे मनुष्याः ? यद्ब्रह्मशुक्रमकायमव्रणमस्नाविरं शुद्धमपापविद्धम् पर्यगात् यः कविर्मनीषी परिभूः स्वयंभूः परमात्मा शाश्वतीभ्यः समाभ्यः याथातथ्यतोऽर्थान् व्यदधात् स उपासनीयः ।" इति ।

तदपि यत्किञ्चित्, विप्रतिषिद्धत्वात् । अकायमित्यस्य स्थूल-सूक्ष्मकारणशरीररहितार्थत्वे, अव्रणमस्नाविरमित्यनयोर्विशेषणयोर्नैर-

---

स्वरूप, स्वयंभू=ब्रह्मस्वरूप हुआ, यथास्वरूप अर्थात् उस-उसरूप के पदार्थ=भोग्य विषयों को अनेक प्रकार का करता (बनाता) है ।

श्रीदयानन्दभाष्य—"हे मनुष्यो ! जो शुक्र-शरीररहित—क्षत (घाव) तथा स्नायु से रहित शुद्ध-पापों से असंसृष्ट व्यापक ब्रह्म है । जो कवि-मनीषी-परिभू-स्वयंभू-परमात्मा शाश्वत प्रजा के लिये पदार्थों को विभक्त करता है, वही उपासनीय है ।"

यह भाष्य कुछ नहीं; क्योंकि इसमें परस्पर विरुद्ध कथन है । परमात्मा यदि स्थूल-सूक्ष्म तथा कारण इन तीनों शरीरों से रहित है, ऐसा अकाय शब्द से अभिमत है, तब तो अव्रण तथा अस्नाविर ये विशेषण व्यर्थ हो जायँगे । क्योंकि स्थूल शरीर के होने पर ही व्रणादि संभव हैं । तीनों शरीरों से रहित में तो व्रणादिक जब संभव ही नहीं अर्थात् व्रणादि की प्राप्ति ही नहीं, तो निषेध की भी प्राप्ति नहीं ।

---

३६. जिस विद्वान् को इस अनेक सङ्कटों के पुंज से युक्त, गहन शरीर में प्रविष्ट आत्मा शास्त्र तथा आचार्य के उपदेश से ज्ञात है तथा "मैं ब्रह्म हूँ" इस प्रकार अपरोक्ष है, वह आत्मवेत्ता विश्व का कर्ता ईश्वर है, उसका ही यह सर्व, लोक (आत्मा) है, वह विद्वान् आत्मा ही है ।

र्थक्यापातात्, स्थूलशरीरस्य सत्त्वे एव व्रणादि संभवात्। समाभ्यः प्रजाभ्यः इत्यप्यसंगतम्, निर्मूलत्वात्। न च शाश्वतीभ्य इति तद्विशेषणं संभवति, विनश्वरत्वात् ॥८॥

अन्धं तमः प्रविशन्ति येऽसंभूतिमुपासते।

ततो भूय इव ते तमो य उ संभूत्याᳪरताः ॥९॥

इस मन्त्र के द्वारा नैरात्मवादी लोकायतिकों की निन्दा की जाती है। उनके मतमें भूतसंघातरूप देह के अतिरिक्त आत्मा कोई स्वतन्त्र पदार्थ नहीं; जैसे मादक द्रव्य के अतिरिक्त उससे निर्मित मद्य कोई अतिरिक्त पदार्थ नहीं। पर उनका यह मत उपयुक्त नहीं। श्रुति और युक्ति के द्वारा देहातिरिक्त आत्मा का अस्तित्व मानकर देहासक्तिपर्यन्त कर्मोपासना और दोनों के समुच्चयका आलम्बन लेना ही

क्योंकि किसी की प्राप्ति होने पर ही निषेध उचित होता है। सर्षप में सुमेरुपर्वत की प्राप्ति नहीं तो "सर्षप में सुमेरु नहीं" ऐसा निषेध भी नहीं। यदि कहा जाय स्थूल शरीर का नहीं, सूक्ष्म-कारण शरीर का निषेध है; यह भी उचित नहीं, क्योंकि सूक्ष्म तथा कारण शरीर के विना स्थूलदेह संभव ही नहीं। कैसा भी शरीर स्वीकार करने पर स्वसिद्धान्त से भी विरोध होगा। क्योंकि स्वामी दयानन्दजी के सिद्धान्त में परमेश्वर का किसी प्रकार का शरीर स्वीकार नहीं किया गया है। **"समाभ्यः"** इस शब्द का अर्थ उनको प्रजा अभिमत है, यह भी उचित नहीं; क्योंकि समाके पर्याय सम्वत्सर का अर्थ प्रजापति ब्राह्मणों (ब्राह्मणग्रन्थों) में किया है। उस प्रकार प्रजा अर्थ नहीं किया; अतः प्रजा अर्थ करना निर्मूल है। किसी प्रकार यह मान भी लिया जाय कि **'समा'** शब्द का अर्थ प्रजा है तो भी शाश्वती विशेषण संभव नहीं; क्योंकि प्रजा शाश्वती-सदा रहनेवाली नहीं; क्योंकि वह (प्रजा) तो नश्वर है ॥८॥

उपयुक्त है। 'देहपात के बाद भी उत्क्रमण और पुनर्जन्म प्राप्त करने योग्य आत्मा का अस्तित्व मान्य है' ऐसा न मानने के कारण जो **'असंभूति'** अर्थात् असंभव की उपासना करते हैं—मरणमात्र से मोक्ष मानकर जो पुनः आत्मा का अस्तित्व असंभव मानते हैं, वे अल्पदृष्टि अतत्त्वदर्शी होने के कारण अज्ञानात्मक तमको प्राप्त होते हैं। और जो **'संभूति'**—विज्ञानात्मक आत्मा को ही देहादिका कारण मानकर —विज्ञानातिरिक्त किसी अन्य को न मानकर कर्म से पराङ्मुख रहते हैं, वे विज्ञानाभिव्यञ्जक देहादि और उससे संभव कर्मादि की सर्वथा उपेक्षा की स्थिति में निर्विशेष-विज्ञान की असहिष्णुता के कारण मानो शून्यप्राय होने से असंभूति की उपासना करनेवाले की अपेक्षा भी अधिक अज्ञान में प्रवेश करते हैं। अथवा इस मन्त्र में **'असंभूति'**—अक्षर, अव्याकृत, कारणब्रह्मरूप अव्यक्त के उपासकों की निन्दा और उसकी अपेक्षा भी **'संभूति'**–व्यक्तोपासक की अधिक निन्दा दोनों की समुच्चित उपासना के अभिप्राय से है ॥९॥

इत उत्तरं द्वितीयमन्त्रव्याख्यानभूता उपासनामन्त्रा उच्यन्ते। षडनुष्टुभः। लोकायतिका नैरात्म्यवादिनो निन्द्यन्ते, येषां मते यम-नियमादिसम्बन्धवान् विज्ञानात्मा कश्चिन्नास्ति जलबुद्बुदवज्जीवाः मदशक्तिवद्विज्ञानं भौतिकमेव। ये नरा असंभूतिमसंभवमुपासते, मृतस्य सतः पुनः संभवो नास्ति, तेन शरीरान्ते सर्वस्य मुक्तिरेवेति ये वदन्ति, न हि विज्ञानात्मा कश्चिदनुच्छित्तिधर्माऽस्ति यो यमनियमैः परलोकैश्च सम्बद्ध्यते इत्येवमुपासते, ते अन्धतमः अज्ञानलक्षणं तमः

अष्टममन्त्र के पश्चात् द्वितीयमन्त्र के व्याख्यानरूप उपासना के **'अंधं तमः'** इत्यादि मन्त्र कहे जाते हैं। इस मन्त्र में जो शरीर से भिन्न आत्मा स्वीकार नहीं करते, उन चार्वाकों की निन्दाकी जाती है, जिनके मत में यम-नियमादिसाधनों से सम्बन्धवाला ज्ञानस्वरूप कोई जीव नहीं है। सर्वजीव जल के बुद्बुदों के समान (अनित्य)हैं। मादक-पदार्थोंमें जैसे मदशक्ति भौतिक है,उसी प्रकार शरीररूप अनित्य आत्मा में विज्ञान (ज्ञानशक्ति) भौतिक ही है। अभिप्राय यह है कि मदशक्ति जैसे मादकद्रव्य से अतिरिक्त कोई स्वतन्त्र पदार्थ नहीं, वैसे ही विज्ञान (चेतना) भौतिक देह से अतिरिक्त कोई स्वतन्त्र पदार्थ नहीं।

प्रविशन्ति । ये च सम्भूत्यां **सम्भवति देहादिरस्याः सा संभूतिश्चिति-विज्ञानरूप आत्मा, तस्याभेवरताः तत्रैवासक्ताः, आत्मैवास्ति नान्यत् किञ्चिदस्तीत्यास्थाय कर्मपराङ्मुखाः ज्ञानकाण्डकर्मकाण्डयोः सम्बन्धो नास्तीति वदन्तः, स्वबुद्धिलाघवमजानाना आत्मज्ञानमात्र-रताः, तेन ते** अन्धात्तमसो भूय इव **इवेत्यनर्थकः, बहुतरं तमोऽज्ञानं प्रविशन्ति ।**

यद्वा—अत्र व्याकृताव्याकृतोपासनयोः समुच्चिचीषया प्रत्येकं निन्दा । संभूयते-उत्पद्यते इति सम्भूतिः, तद्विलक्षणा असम्भूतिः **प्रकृतिः कारणमव्याकृताख्या [३७]तामक्षराख्यां प्रकृतिं कामकर्मबीजभूतामविद्या-मदर्शनात्मिकां** य उपासते—**चिन्तयन्ति ते तदनुरूपमेवान्धं तमोदर्शना-**

जो मनुष्य असम्भूति(असम्भव)की उपासना करते हैं,"मरे हुए का पुनः जन्म नहीं होता, अत एव शरीर के अन्त (समाप्ति) होने पर सर्व की मुक्ति हो जाती है' ऐसा कहते हैं,'अविनाशी ज्ञानस्वरूप आत्मा नहीं है, न आत्मा यम-नियम तथा परलोकसे ही सम्बन्धित है' ऐसी जो उपा-सना करते हैं, वे अज्ञानरूप अन्धकार में प्रवेश करते हैं।जो 'संभूति= देहादि जिससे सम्बन्धित हुआ उत्पन्न होता है, ऐसा चेतन-विज्ञान-स्वरूप आत्मा ही है उससे अतिरिक्त कुछ नहीं', ऐसा मानकर कर्म से

---

३७. भगवद्गीता अ० १५, श्लोक १६ में शाङ्करभाष्य के अनुसार **'कूटस्थोऽक्षर उच्यते'** कहकर जिस मायाशक्ति का वर्णन किया गया है, उसीको यहाँ **'असंभूति'** कहा गया है। जिसे गीता में **'क्षरः सर्वाणिभूतानि'** कहा गया है, उसी को यहाँ **'संभूति'** कहा गया है। 'अक्षर' भगवान्की मायाशक्ति इसलिये है; क्यों-कि बिना ब्रह्मज्ञान के उसका नाश नहीं होता। वह संसार का बीज है। क्षर पुरुष की उत्पत्ति उसी से होती है —

भगवतो मायाशक्तिः क्षराख्यस्य पुरुषस्योत्पत्तिबीजमनेक-संसारिजन्तुकामकर्मादिसंस्काराश्रयोऽक्षरः पुरुष उच्यते। तस्य कथमक्षरत्वं विना ब्रह्मज्ञानमनाशात्। अनेकमायादिप्रकारेण स्थितः कूटस्थः संसारबीजानन्त्यान्न क्षरतीत्यक्षर उच्यते ॥

त्मकं संसारं प्रविशन्ति, प्रकृतिलयम्प्राप्नुवन्ति "तं यथायथोपासते तथैव भवति" (मुद्गलो० ३) इति श्रुतेः। ततस्तस्मादपि भूय इव बहुतरमिव अन्धं तमः प्रविशन्ति य उ सम्भूत्यां कार्यब्रह्मणि हिरण्यगर्भाख्ये रताः अनुरक्ताः भक्ताः सन्ति।

अत्र चित्तन्त्रामाया परमेश्वरस्योपाधिभूता असम्भूतिशब्देनोच्यते।

विमुख होकर ज्ञानकाण्ड तथा कर्मकाण्ड का कोई सम्बन्ध नहीं है', ऐसा कहते हुए अपनी बुद्धि के लाघव (तुच्छता) को न जानते हुए आत्मज्ञानमात्र में रत हैं। इसमें रत रहने से वे गाढ़ अन्धकार से भी अधिक तम (अज्ञान) में प्रवेश करते हैं।

क्योंकि शास्त्रीयकर्म किये विना चित्त शुद्ध न होने से ज्ञानका उत्पन्न होना संभव नहीं तथा धर्मरहित जीवन, अन्ततोगत्वा पापमय जीवन बन जाता है; अतः शास्त्रीयकर्मों की उपेक्षा कर्माधिकारी अविद्वान् के लिये उचित नहीं। कर्मसंन्यास की प्रशस्तयोग्यता तो प्रबुद्ध और अन्तर्मुख में ही होती है, अन्यों में नहीं।

अथवा इस नवममंत्र में व्याकृत तथा अव्याकृत की उपासना के समुच्चय की इच्छा से प्रत्येक की निन्दा है। जो उत्पन्न होता है वह है संभूति, उससे विपरीत जो उत्पन्न नहीं होता वह है असंभूति (प्रकृति), जिसे कारणभूत अव्याकृत भी कहते हैं तथा उसका अक्षर नाम भी है। उस काम, कर्म की बीजभूत अविद्यात्मक प्रकृति की जो उपासना (चिन्तन) करते हैं, वे उपास्य प्रकृति के स्वभावानुसार उस अज्ञानात्मक (अदर्शनात्मक) प्रकृति को ही प्राप्त होते हैं। जिस प्रकृति की प्राप्ति का नाम प्रकृतिलय है। क्योंकि "जो जैसी उपासना करता है, वह तद्रूप हो जाता है" ऐसा श्रुति कह रही है। उस तम से भी अधिकतम अर्थात् अज्ञान को वे उपासक प्राप्त होते हैं, जो संभूति= कार्यब्रह्मरूप हिरण्यगर्भ में अनुरक्त अर्थात् उसके भक्त हैं।

यहाँ चेतन से अधिष्ठिता माया जो कि परमेश्वर की उपाधि है, वही 'असम्भूति' शब्द से कही गई है। क्योंकि श्वेताश्वतरश्रुति

"मायां तु [३८]प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम् ॥"

(श्वेताश्वतरोप० ४.१०) इतिश्रुतेः ।

न च परब्रह्मैव प्रकृतिः, तस्यनिर्विकारस्य साक्षात्प्रकृतित्वानुपपत्तेः । न च जडत्वात्प्रकृतेः फलदातृत्वानुपपत्तिरिति वाच्यम्, कर्मणां फलस्यैवोपासनफलस्यापि परमेश्वरेणैव दास्यमानत्वात् । न च 'तादृशफलस्यार्थ्यमानत्वं नोपपद्यते' इति वाच्यम्, सषुप्तिवत् प्रकृतिलयस्यापि पुरुषैरर्थ्यमानत्वोपपत्तेः ।

दयानन्दः—"ये परमेश्वरं विहाय असम्भूतिमुपासते, प्रकृत्याख्यं जडं वस्तूपासते ते अन्धं तमः प्रविशन्ति, ये सम्भूत्यां महदादिरूपायां सृष्टौ रताः, त उ ततो भूय इव तमः प्रविशन्ति ।" इति ।

माया को महेश्वर (परमेश्वर) की उपाधि कह रही है। परब्रह्म ही प्रकृति नहीं है, क्योंकि निर्विकल्प परब्रह्म का साक्षात् (उपाधि के विना) कारण होना संभव नहीं है।

यह कहना भी उचित नहीं कि जड़प्रकृति, अपने उपासक को फल कैसे प्रदान कर सकती है ? क्योंकि जैसे कर्मों का फल परमेश्वर देता है, वैसे ही उपासना का फल भी परमेश्वर ही देता है। यह कहना भी उचित नहीं, कि जड़प्रकृति में विलयरूप फल के लिये कोई उपासना क्यों करेगा ? मनुष्य तो सुख चाहता है, प्रकृति में विलय होना तो नहीं चाहता; क्योंकि सुषुप्ति के समान प्रकृतिलय में भी सुख रहने से मनुष्य की इच्छा संभव है।

श्रीदयानन्दभाष्य—"जो परमेश्वर को त्यागकर असम्भूति की उपासना करते हैं। प्रकृति नामवाली जड़ वस्तु की उपासना करते हैं, वे पुरुष अन्ध तम में प्रवेश करते हैं। जो सम्भूति अर्थात् महदादिरूप सृष्टि में रत हैं, वे उससे भी अधिक तम में प्रवेश करते हैं।"

---

३८. माया को संसार का परिणामी उपादान कारण जानो, माया के नियन्ता को महेश्वर जानो।

तदपि यत्किंचित्, सृष्टेरुपासनस्याविहितत्वात्, निष्फलत्वाच्च फलमन्तरा, 'फलवत्सन्निधावफलं तदङ्गमि'ति न्यायेनाङ्गाङ्गिभावापत्त्या[३९] समुच्चयानुपपत्तेः ॥६॥

यह भाष्य भी यत्किंचित् ही है, क्योंकि न तो सृष्टि की उपासना का शास्त्र में विधान ही है न उसका कोई फल ही है। यदि "किसी क्रिया का विधान तो हो, किन्तु उसका फल शास्त्र ने न कहा हो तथा ऐसी क्रिया का किसी फलवाली क्रिया के समीप में कथन हो तो विना फल के कही क्रिया, फलवाली क्रिया का अंग होती है।" यह नियम है। दयानन्द-भाष्य में असंभूति की उपासना का तो 'अन्ध तम (गाढ़ अन्धकार) में प्रवेश' फल वर्णन कर दिया, पर सृष्टि-उपासना का कोई फल वर्णन नहीं किया। इस प्रकार फल से रहित सृष्टि की उपासना का इसी मन्त्र में पठित फलवाली असंभूति की उपासना के समीप में ही विधान होने से इन दोनों में अङ्गाङ्गी (साधन-साध्य) भाव होगा। अर्थात् 'सृष्टि उपासनारूप साधन से निष्पन्न असंभूति-उपासना ही एकमात्र इस मन्त्र का विषय है' **'फलवत्सन्निधावफलं तदङ्गम्'** इस नियम के अनुसार यह सिद्ध हुआ। ऐसा सिद्ध होने पर मन्त्र में जो समुच्चय का विधान है, वह संभव नहीं; क्योंकि दो स्वतन्त्र क्रियाओं का ही समुच्चय होता है, साध्य-साधन का समुच्चय होता नहीं ॥६॥

---

३९. अवान्तरफलभेदं समुच्चयकारणम्। अन्यथा फलवदफलयोः सन्निहितयोरङ्गाङ्गित्व स्यात्।'

अन्यदेवाहुः संभवादन्यदाहुरसंभवात् ।

इति शुश्रुम धीराणां ये नस्तद्विचचक्षिरे ॥१०॥

'संभव'—कार्यब्रह्म की उपासना का फल अणिमादि–ऐश्वर्योपलब्धिरूप अन्य ही है और **'असंभव'**—कारणब्रह्मरूप अव्याकृत की उपासना से प्राप्त होनेवाला प्रकृतिलयरूप फल अन्य ही है। ऐसा हमने हमारे प्रति संभूति और असंभूति की उपासना से प्राप्त फलों की विभागपूर्वक व्याख्या करनेवाले विद्वान् महानुभावों के श्रीमुख से सुना है ॥१०॥

अथोभयोरुपासनयोः समुच्चयकारणमवयवफलभेदमाह । सम्भवात् **सम्भूतेः कार्यब्रह्मोपासनात्**, अन्यदेव **पृथगेवाणिमाद्यैश्वर्यलक्षणं फलमाहुः कथयन्ति धीराः ।** असम्भवात् **असम्भूतेरव्याकृतादव्याकृतोपासनादन्यदेव फलमुक्तम् । अत्र प्रकरणानुसारेण संभवासंभवशब्दाभ्यां तत्तदुपासनमेवाभिप्रेतम् । अन्धं तमः प्रविशन्तीत्युक्तं प्रकृतिलय इति पौराणिकं फलमाहुः**, इत्येवंविधं धीराणां **विदुषां वचः** शुश्रुम वयं **श्रुतवन्तः । ये धीराः** नोऽस्माकं तत् **पूर्वोक्तं सम्भूत्यसंभूत्युपासनफलं** विचचक्षिरे **व्याख्यातवन्तः ।**

पूर्वोक्त कथन के अनन्तर इस मन्त्र में दोनों उपासनाओं के समुच्चय का कारण जो फल का भेद है, उसे कहते हैं। **सम्भव** (कार्यब्रह्म) की उपासना से अणिमादि ऐश्वर्यप्राप्तिरूप फल को तथा **असंभूति** (अव्याकृत, प्रकृति) की उपासना से अन्य प्रकृतिलयरूप फल को मंत्रद्रष्टा ऋषियों ने कहा है। मन्त्र में प्रकरण के अनुसार संभव तथा असंभव शब्दों से संभव-असंभव की उपासना ही अभिप्रेत है। प्रकृति की उपासना का पुराणोक्त प्रकृति में लयरूप फल को **"अन्धं तमःप्रविशन्ति"** इस मन्त्रभाग से कहते हैं। पूर्वोक्त फलभेद का बोधकवचन हमने उन विद्वानों का सुना है, जिन्होंने हमसे संभूति और

दयानन्दः—"हे मनुष्याः ? यथा वयं धीराणां सकाशात् वचः शुश्रुम, ये नस्तद्विचचक्षिरे, ते संभवादन्यदेवाहुरसंभवादन्यदाहुरिति यूयं श्रृणुतेति", तदपि यत्किञ्चित् किन्तत्फलमित्यनुक्तेः ॥१०॥

सम्भूतिं च विनाशञ्च यस्तद्वेदोभयँ सह ।

विनाशेन मृत्युं तीर्त्वा सम्भूत्याऽमृतमश्नुते ॥११॥

संपूर्ण जगत् के **'संभव'** (अभिव्यक्ति) का जो परमकारण है, वह परब्रह्म है। वही विविध शरीरों में शरीरी (क्षेत्रज्ञ, क्षेत्री) रूप से विद्यमान है। विनाशशील शरीर **'विनाश'** है। योगी (आरुरुक्षु-योगारुढ़ होने की इच्छावाला) दोनों तादात्म्यापन्न को विभागपूर्वक जानता है, अर्थात् देहभिन्न होने पर भी कर्मवशात् स्वयं को देह में अवस्थित जानता है। जो योगी ज्ञानोत्पत्ति की भावना से कर्मासक्ति, फलासक्ति और अहंकृति को तनु (शिथिल) कर धृत्युत्साहपूर्वक भगवदर्थ कर्मों (निष्कामकर्मों) को करता है, वह शुद्धिसम्पादन के योग से **'विनाश'** से—विनाशी शरीर से अन्तःकरण की अशुद्धिरूप मृत्यु को तर जाता है और **'संभूति'** अर्थात् आत्मज्ञान से अमृत 'मुक्ति)–लाभ करता है। अथवा छान्दसवर्णलोपके योग से **'संभूति'–'असंभूति'** मान्य है। जिस का अर्थ है अव्याकृत (कारणब्रह्म)की उपासना। 'विनाश' का अर्थ है, विनाशधर्मयुक्त कार्यब्रह्मोपासना। जो दोनों की सहोपासना करता है; वह कार्यब्रह्म (हिरण्यगर्भ) की उपासना से उपलब्ध ऐश्वर्य और धर्मादि के अमोघ प्रभाव से 'अनैश्वर्य–अधर्मादिरूप मृत्यु को पारकर कारणोपासना से प्रकृतिलयरूप अमृतफल को प्राप्त करता है ॥११॥

असंभूति की उपासना के फल की व्याख्या की थी।

श्रीदयानंदभाष्य—"हे मनुष्यो! जिन विद्वानों ने हमारे प्रति यह व्याख्या की है कि वे संभव (कार्य) की उपासना से अन्य फल

सम्भूतिं च—सर्वजगत्सम्भवैककारणं परं ब्रह्म। विनाशं—विनाशोऽस्यास्तीति विनाशः, अर्श आदित्वादच्प्रत्ययः, विनाशधर्मकं शरीरम्। तदुभयं शरीरिशरीररूपं द्वयं यो योगी सह एकीभूतं वेद विजानाति, देहभिन्नोऽहं कर्मवशाद्देहे निवसामीति ज्ञात्वा शरीरेण ज्ञानोत्पत्तिकराणि निष्कामकर्माणि करोति, स विनाशेन विनाशिना शरीरेण मृत्युं तीर्त्वाऽन्तःकरणशुद्धिं कृत्वाऽन्तःकरणाशुद्धिलक्षणं मृत्युमतिक्रम्य संभूत्या आत्मज्ञानेनामृतमश्नुते मुक्तिमाप्नोति[४०]।

यद्वा सम्भूत्यसम्भूत्युपासनयोरेकपुरुषार्थत्वात्समुच्चय एव युक्तः। सम्भूतिञ्चेत्यत्र छान्दसवर्णलोपो द्रष्टव्यः, अन्यदाहुरसंभवादि-

---

कहते हैं तथा कारण की उपासना से भिन्न फल कहते हैं, उन विद्वानों के जैसे वचन हमने सुने हैं, उन वचनों को तुम भी श्रवण करो।" यह भाष्य इसलिये उचित नहीं कि भाष्य में दोनों उपासनाओं का भिन्न फल क्या होता है, ऐसा वर्णन नहीं किया। सिद्धान्त में आणिमादि ऐश्वर्य तथा प्रकृति में लय, ऐसा भिन्न-भिन्न फल वर्णन किया है; अतः वही उचित है ॥१०॥

सम्भूति=सर्व जगत् के संभव (उत्पत्ति) का मुख्यकारण परब्रह्म तथा **विनाश**=विनाशधर्मवाला शरीर इन दोनों को शरीर-शरीरिरूप में जो योगी **सह**=एकरूप जानता है। किस प्रकार जानता है—"मैं देह से भिन्न हूँ, कर्मवशात् देह में निवास करता हूँ," ऐसा जानकर शरीर से ज्ञानकी उत्पत्ति करनेवाले निष्कामकर्मों को करता है, वह विनाशधर्मिक शरीर से **मृत्यु** को पारकर अर्थात् अन्तःकरण की शुद्धि करके अन्तःकरण की अशुद्धिरूप मृत्यु का उल्लंघन कर, **असंभूति** (आत्मज्ञान) से अमृत=मुक्ति को प्राप्त हो जाता है।

अथवा सम्भूति और असंभूति की उपासनाओं को एक पुरुष के लिये होने से समुच्चय ही उचित है। **सम्भूति**=अव्याकृत उपासना,

---

४०. कर्म और ज्ञान का **क्रमसमुच्चय** मान्य है। कर्म अन्तःकरणका शोधक और ज्ञान अज्ञानवारक होने से विमोक्षक है। श्री उवट और महीधर के अनुसार यह अर्थ है।

त्यनुरोधात् । सम्भूतिमव्याकृतोपासनं विनाशं विनाशधर्मयुक्तं कार्य-ब्रह्मोपासनं, तदुभयं सह समुच्चयेन वेद उपासते, स विनाशेन कार्य-ब्रह्महिरण्यगर्भोपासनेन ऐश्वर्यादिप्राप्त्यऽनैश्वर्याधर्मादिलक्षणं मृत्युं तीर्त्वाऽतिक्रम्य, संभूत्या असंभूत्या—अव्याकृतोपासनेन अमृतं प्रकृतिलय-लक्षणं फलमश्नुते[४१] ।

[४२]"कश्चित्तु सम्भूतिपदेन कार्यं विनाशपदेन कारणमभिप्रैति । कार्यं यस्मिन् विनश्यति तद् विनाशं कारणं मायाबीजं, यच्च चैतन्य-

---

विनाश=विनाशधर्म से युक्त कार्यब्रह्म की उपासना, उन दोनों उपासनाओं को जो समुच्चयरूप से (एक साथ) करता है, वह विनाश =कार्यब्रह्मरूपहिरण्यगर्भ की उपासना से मृत्यु=अनैश्वर्य तथा अधर्मादि को अतिक्रमणकर, सम्भूति (अव्याकृत) की उपासना से अमृत (प्रकृतिलयरूपफल) को प्राप्त हो जाता है ।

कोई विद्वान् इस मन्त्र का ऐसा अर्थ करते हैं कि—सम्भूतिपद से कार्य, विनाशपद से कारण अभिप्रेत है। कार्य जिसमें विनाश को प्राप्त होता है, उसे कहते हैं 'विनाश,' ऐसा विग्रह करने से विनाश शब्द का अर्थ कारण हो जाता है। सर्वका बीजभूतमाया कारण है।

---

४१. कारणब्रह्म और कार्यब्रह्म की उपासना के **समसमुच्चय**का यहाँ प्रतिपादन है । भगवत्पाद शङ्कर के अनुसार यह अर्थ है ।

४२. 'ईशावास्यरहस्यम्' के अनुसार यह विवरण है । इस व्याख्या का तात्पर्य इस प्रकार है—कार्य-कारणरूप से परब्रह्म ही स्थित है । 'संभूति' कार्यब्रह्म हिरण्यगर्भात्मक है और 'विनाश' चैतन्यसहित मायाबीज अव्याकृतात्मक है । श्रुति ब्रह्म की कार्यरूपता के साथ ही उसकी अन्तर्यामिरूपता और साक्षी-चेताकेवल परब्रह्मरूपता का वर्णन करती है । साथ ही परम-शुद्ध सदद्वय ब्रह्म की आत्मरूपता का बोधन भी **'ब्रह्मैव परमं शुद्धं ब्रह्मैवाहं सदद्वयम्'** । इस रहस्य का जानकार कार्य-कारण ज्ञान के साथ ही कार्य-कारणातीत परब्रह्म की आत्म-रूपता को जानने वाला होने से विमुक्तिलाभ करता है ।

कवलीकृतं तथा च यस्तयोः कार्यकारणयोरैक्यं वेदोपास्ते, स तयोपासनया मृत्युं स्वाभाविकं तमस्तीर्त्वा हिरण्यगर्भोपासनयाऽमृतमश्नुते मुच्यते । आत्मविद्यावधिः कारणं भवति । साक्षीचेता जगद्बीजमन्तर्यामीति श्रुतेः । कार्यकारणनिर्मुक्तं परं ब्रह्म ज्ञात्वा विमुच्यते ।"

तदेतदपि नातीवमनोज्ञं, सहेति शब्देनोभयोः समुच्चयविधानेनैक्यज्ञानस्याविवक्षितत्वात् । इह च कार्यकारणोपासनयोरेव विधानं, कार्यकारणातीतब्रह्मोपासनविधायकशब्दाभावात् ।

[४३]यत्तुकेनचित् "उभयोर्विनाशशब्दयोरवर्णलोपमभ्युपेत्य अविनाशेनाव्याकृतोपासनेन मृत्युमनैश्वर्यमधर्मकामादिदोषजातं च तीर्त्वा सम्भूत्या हिरण्यगर्भोपासनेनामृतं प्रकृतिलयलक्षणमश्नुत" इति,

---

मायाचैतन्य से व्याप्त है । जो कार्य-कारण की एकता की उपासना करता है; वह उस उपासना से मृत्यु (स्वाभाविकतम) को पारकर, हिरण्यगर्भ की उपासना से अमृत को प्राप्त हो जाता है अर्थात् मुक्त हो जाता है । आत्मविद्यापर्यन्त ही मायारूप कारण रहता है, भाव यह है कि माया आत्मा के ज्ञान से नष्ट हो जाती है । साक्षी-चेता कार्य-कारणनिर्मुक्त=कार्य तथा कारण से रहित परब्रह्म को जानकर मुक्त हो जाता है ।

यह अर्थ भी विद्वानों के मन को प्रिय नहीं है, क्योंकि मंत्र में पठित 'सह' शब्द से दोनों उपासनाओं का समुच्चय का विधान होने से ऐक्य(अद्वितीय आत्मा से अभिन्न शुद्धब्रह्म का)ज्ञान विवक्षित नहीं है । मन्त्र में तो कार्य-कारणब्रह्म की उपासना का ही विधान है । क्योंकि मन्त्र में कार्य-कारण से भिन्न शुद्धब्रह्म की उपासना के विधान (कर्तव्यता) का बोधक कोई शब्द है नहीं ।

कोई विद्वान् ऐसा कहते हैं कि "मन्त्र में पठित दोनों विनाश-शब्दों में अवर्ण का लोप हो गया है, अतः विनाशशब्द के स्थान में अविनाश पढ़ना चाहिए । अविनाश=अव्याकृत की उपासना से मृत्यु

---

४३. 'अस्या ऋचोऽर्थान्तरम् । यथा'—लिखकर श्रीमहीधरजी ने यह भाव व्यक्त किया है ।

तच्चिन्त्यम्, विपरीतस्यैव सुवचत्वात्। हिरण्यगर्भस्यैश्वर्यवत्त्वेन तदुपासनेनानैश्वर्यलक्षणमृत्योरतितरणस्यैव युक्तत्वम्। तदुपासनेन प्रकृतिलयासंभवात्, अव्याकृतोपासनेनैव प्रकृतिलयसम्भवाच्च।

अन्येषां रीत्याऽसम्भूतिकारणं य उपासते त अन्धंतमः प्रविशन्ति। ततोऽप्यधिकं तमस्ते प्रविशन्ति य उ सम्भूत्यां रताः।

संभूतिः सम्यग्भवनमुत्पत्तिर्यस्य तत्कार्यं [४४]संभूतिः। तद्व्यतिरिक्तामव्याकृतरूपामसम्भूतिं कारणम्। सम्भूत्यसम्भूत्युपासनयोः पृथक् पृथक् फलं भवति। स यश्च सम्भूतिं च विनाशं च सहोपासते स विनाशेन हिरण्यगर्भोपासनेन मृत्युंतीर्त्वा सम्भूत्या सम्यग्भवति यस्मात् कार्यं तत्कारणमव्याकृतं सम्भूतिस्तदुपासनेनामृतं प्रकृतिलयलक्षणमश्नुते।

अर्थात् ऐश्वर्य का अभाव तथा अधर्मादिरूप मृत्युको पारकर सम्भूति= हिरण्यगर्भ की उपासना से अमृत=प्रकृति में लयरूप अमृत को प्राप्त हो जाता है।'' यह अर्थ विचारणीय है, क्योंकि—इस अर्थ से विपरीत अर्थ ही सुगम अर्थात् अक्षरों तथा भाव के अनुकूल है। हिरण्यगर्भ (कार्यब्रह्म) ही ऐश्वर्ययुक्त है। उसकी उपासना से ही अनैश्वर्य तथा अधर्मादिरूपमृत्यु का तरना युक्तिसंगत है। ऐश्वर्ययुक्त हिरण्यगर्भ की उपासना से प्रकृतिलय संभव नहीं।

अन्यों की रीति से तो असंभूति=कारण की जो उपासना करते हैं, वे गाढ़ अन्धकार (अज्ञान)में प्रवेश करते हैं। उनसे भी अधिक तम (अज्ञान) में वे प्रवेश करते हैं, जो सम्भूति में रत हैं।

कुछ विद्वान् और भी कहते हैं-सम्यक्-भवन अर्थात् उत्पत्ति जिसकी होती है, वह कार्य है 'संभूति', उसके अतिरिक्त अव्याकृत है असंभूति। दोनों की उपासना का अलग-अलग फल है। जो कोई सम्भूति तथा विनाश की एक साथ उपासना करता है, वह विनाश= हिरण्यगर्भ की उपासना से मृत्यु को पारकर सम्भूति=कारणभूत अव्याकृत की उपासना से प्रकृतिलयरूप अमृत को प्राप्त हो जाता है।

---

४४. दीपिकाकार के मत का चित्रण है।

४५अन्येषां रीत्योपक्रान्तमात्मतत्त्वमुपक्रम्योपसंहृतम् । यस्तूक्ततत्त्वानभिज्ञ एषणात्यागाभावेन संन्यासे च नाधिकारी संसारे च नात्यन्तासक्तस्तं प्रति चित्तैकाग्र्यार्थमुपासनासमुच्चयं वर्णयिष्यन् प्रत्येकमुपासनाफलं निन्दति समुच्चिचीषयैव 'न हि निन्दा निन्द्यं निन्दितु प्रवर्तते, अपि तु विधेयं स्तोतुमि' तिन्यायात् । यद्वात्मज्ञानस्यैव सर्वश्रेष्ठत्वं, तद्व्यतिरिक्तानां संसारहेतुत्वप्रदर्शनेन दृढयति । येऽसम्भूतिमुपासते ते अन्धं तमः प्रकृतिलयं प्राप्नुवन्ति, ये सम्भूत्यां रतास्ते तमः प्रकृतिलयाद्भूय इवाधिकमिव स्वरूपाज्ञानेन संसरणहेतुत्वात्तमोऽणिमादिसिद्धिसमुदायं प्रविशन्ति । तत्र तयोर्भिन्नफलत्वे श्रुतिराचार्यवचः प्रमाणयति "अन्यदाहुः संभवादि" त्यादि । सम्भूत्युपासनादन्यदेवाणिमादिसिद्धिरूपं फलं तत्त्वज्ञाः वदन्ति । तथाऽसम्भवाद-

---

यद्यपि सम्भूति शब्द कार्य का वाचक है तथापि 'कार्य जिससे होता है, उसे सम्भूति कहते हैं' ऐसा अर्थ करने पर कारण का वाचक हो जाता है ।

अन्य विद्वानों की रीति से यह अर्थ किया है कि—आत्मतत्त्व के उपदेश को **'ईशावास्य'** यहाँ से प्रारम्भ कर **'स पर्यगात्'** यहाँ तक समाप्त कर दिया । अब जो आत्मतत्त्व को न जाननेवाला अज्ञानी, एषणाओं का त्याग न होने से संन्यास का अनधिकारी तथा संसार में अत्यन्त आसक्त भी नहीं ऐसे पुरुष के लिये चित्त की एकाग्रता के लिये उपासना के समुच्चय का वर्णन करने की इच्छा से प्रत्येक उपासना के फल की निन्दा करता है, क्योंकि शास्त्रों में "जिसकी निन्दा की जाती है, उस निन्दनीय की निन्दा करने में निन्दा का तात्पर्य होता नहीं, अपि तु जिसका विधान करना होता है, उसकी स्तुति करने में ही तात्पर्य होता है" ऐसा नियम है । अथवा—आत्मज्ञान से अतिरिक्त उपासना आदिक साधन संसार के हेतु हैं, ऐसा प्रदर्शन कर, आत्मज्ञान की श्रेष्ठता को मन्त्र दृढ करता है । जो असम्भूति=अव्यक्त की उपासना करते हैं, वे प्रकृतिलय को प्राप्त होते हैं । जो सम्भूति में रत (प्रीतियुक्त) हैं, वे प्रकृतिलय से भी अधिक जो अणिमादिसिद्धियों का

---

४५. यह मत 'ईशावास्यरहस्यविवृति:'कारका है ।

सम्भूतिरूपकारणाव्याकृतोपासनादन्यत्प्रकृतिलयाख्यं फलमाहुः। अन्यत्पूर्ववत्।

अन्ये तु येऽविद्यामुपासते तेऽन्धं तमः प्रविशन्तीत्युक्तम्। तत्राविद्यास्वरूपमुच्यते 'अन्धं तमः प्रविशन्ति येऽसम्भूतिमुपासते' नास्ति सम्भूतिर्जगतः उत्पत्त्यादिर्यस्मात् सोऽसम्भूतिस्तम्, सम्भूतेरुपलक्षणत्वात् परमेश्वरो न जगदुत्पत्त्यादिकर्ताऽपि तु स्वभावत एवोत्पद्यतेऽवतिष्ठते नश्यतीत्यात्मानमुपासते तेऽन्धं तमःप्रविशन्ति। "यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते" (तै० उप० ३.१) इत्यादि श्रुतिविरुद्धत्वात्, अन्यत् पूर्ववदेव।

दयानन्दः—'हे मनुष्याः, यो विद्वान् सम्भूतिं सृष्टिं च विनाशं च–विनश्यन्ति, अदृश्याः पदार्थाः भवन्ति यस्मिन् तं, सहोभयं तद्वेद–

समुदायरूप तम है, उसमें प्रवेश करते हैं। अणिमादि सिद्धियों की प्राप्ति भी जन्म-मरणरूप संसारदुःख का हेतु है, अतः सिद्धिप्राप्ति को प्रकृतिलय से भी अधिक तमरूप कहा गया है। सम्भूति तथा असंभूति की उपासनाएँ भिन्न फलवाली हैं, इसमें स्वयं श्रुति आचार्य के वचन को प्रमाण देती है। "अन्यदाहुः संभवादि"त्यादि प्रमाणभूत-वाक्य हैं। सम्भूति की उपासना से तत्त्वज्ञपुरुष अणिमादिसिद्धिकी प्राप्तिरूप एक अन्य फल कहते हैं तथा असंभव = अव्यक्त की उपासना से प्रकृतिलयरूप एक भिन्नफल कहते हैं। इस पक्ष में शेषवाक्य का अर्थ पूर्ववत् ही है।

कुछ विद्वान् ऐसा अर्थ करते हैं कि—'जो अविद्या की उपासना करते हैं, वे अविद्या के प्रति प्रवेश करते हैं,' ऐसा मन्त्र में कहा है। मन्त्र में जिस अविद्या में प्रवेश करना कहा है, उस अविद्या का स्वरूप कहा जाता है कि जगत् की उत्पत्ति-स्थिति-लय आदिक जिससे हों ऐसा परमेश्वर आदिक कोई जगत् का कर्ता नहीं है। किन्तु यह संसार स्वभाव से ही उत्पन्न, स्थित तथा नष्ट होता है। इस प्रकार जो आत्मा की उपासना करते हैं, वे गाढ़ अन्धकार (अज्ञान) में प्रवेश करते हैं। यह उनकी उपासना अविद्यारूप इसलिये है कि **'यतो वा इमानि'** इस श्रुति से विरुद्ध है। शेषमन्त्र का अर्थ पूर्ववत् है।

तद्गुणकर्मस्वभावान् वेद, स विनाशेन नित्यस्वरूपेण विज्ञातेन कारणेन सह, मृत्युं शरीरवियोगजन्यं दुःखं तीर्त्वा, सम्भूत्या सृष्ट्या धर्मप्रवर्तयित्र्या सहाऽमृतं मोक्षमश्नुते" इति ।

तदपि यत्किञ्चित्, सृष्टिगुणकर्मस्वभावज्ञानस्य मुक्तिहेतुत्वे प्रमाणाभावात् 'तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय' (वा.सं. ३१.१८) इति आत्मज्ञानातिरिक्तस्य मोक्षहेतुत्वनिषेधाच्च । "विनाशेन नित्यस्वरूपेण विज्ञातेन कारणेन सह मृत्युं शरीरवियोगजन्यं दुःखं तीर्त्वे"त्यपि निरर्थकम् । विनाशपदस्य तादृशव्युत्पत्यापि कारणमात्रार्थता विज्ञायते न नित्यतापि । किञ्च कारणस्य मृत्युना सहभावः कथं सिद्ध्यति ? किमत्राभिप्रेतम् ? किं कारणेन सह मृत्यो-रतिक्रमणमन्यद्वा,नाद्यः साहित्यानिरूपणात् । नान्त्यमनिर्वचनात् । न च सृष्टिर्नियमेन धर्मप्रवर्तयित्री, अधर्मस्यापि तत एव प्रवृत्तेः ।।११।।

श्रीदयानन्द—हे मनुष्यो ! जो विद्वान् सृष्टि तथा जिसमें पदार्थ अदृश्य हो जाते हैं अर्थात् सर्वपदार्थों का जो कारण—सृष्टि तथा कारण इन दोनों के गुण-स्वभाव को जानता है । वह विनाश=ज्ञात नित्यस्वरूपकारण के सहित मृत्यु=शरीरवियोग जन्यदुःख को तरकर, सृष्टि=धर्म को प्रवृत्त करनेवाली सृष्टि के साथ अमृत=मोक्ष को प्राप्त हो जाता है ।

यह भाष्य भी उचित नहीं, क्योंकि 'सृष्टि के गुण-कर्म-स्वभाव का ज्ञान मुक्ति का कारण है', इसमें कोई प्रमाण नहीं तथा **'तमेव विदित्वा'** इत्यादिक श्रुतियों ने आत्मज्ञान से अतिरिक्त मुक्ति के साधन का निषेध भी किया है । जो यह कहा कि "ज्ञात नित्यस्वरूप कारण के साथ शरीरवियोगजन्य दुःख को तर जाता है" यह कथन भी अर्थ-शून्य है । क्योंकि जिसमें अदृश्य हुए कार्य नष्ट हो जाते हैं, वह विनाश कहलाता है, ऐसा विनाश शब्दका अर्थ कारण तो हो सकता है, परन्तु ऐसा निर्वचन करने पर भी विनाश शब्द से नित्यता अर्थ नहीं प्रतीत होता । कारण के साथ मृत्यु का सहभाव भी किसी प्रकार सिद्ध नहीं होता । कारण के साथ मृत्यु को पार करने का क्या अभिप्राय है ? क्या कारण के साथ मृत्यु का अतिक्रमण अर्थ है, अथवा और कुछ अर्थ

अन्धन्तमः प्रविशन्ति येऽविद्यामुपासते ।
ततो भूय इव ते तमो य उ विद्यायाꣳ रताः ॥१२॥

वे अदर्शनात्मक तम में प्रविष्ट होते हैं, जो अविद्या पदवाच्य कर्म की उपासना करते हैं और वे उनसे भी अधिक अदर्शनात्मक तम में प्रविष्ट होते हैं, जो विद्या अर्थात् हिरण्यगर्भोपासना में निरत हैं ॥१२॥

श्रीमच्छङ्करभगवत्पादीयभाष्यरीत्याऽऽद्येन मन्त्रेण सर्वैषणापरित्यागेन ज्ञाननिष्ठोक्ता प्रथमो वेदार्थः । जिजीविषूणामज्ञानां ज्ञाननिष्ठाऽसम्भवेन कर्माणि कुर्वन्नेव जिजीविषेदिति कर्मनिष्ठारूपो द्वितीयो वेदार्थः दर्शितः 'सोऽकामयत जाया मेस्यात्' (बृह० १.४.१७) इत्यादिनाऽज्ञस्य कामिनः कर्माणि विहितानि । आत्मविदां जायाद्येषणात्रयसंन्यासेन कर्मनिष्ठाप्रातिकूल्येनाऽऽत्मस्वरूपनिष्ठैव दर्शितः । [46]'किं प्रजया करिष्यामो येषां नोऽयमात्माऽयं लोकः' (बृहदारण्यक उ० ४.४.२२), 'असुर्या नाम ते लोकाः' (ईशा० उ० ३) इत्यविद्वन्नि-

---

है ? प्रथम पक्ष तो सम्भव नहीं, क्योंकि कारण के साथ मृत्यु के अतिक्रमण का निरूपण ही संभव नहीं । द्वितीय पक्ष भी संभव नहीं, क्योंकि उसका भी कहीं कथन नहीं । सृष्टि नियम से धर्म को ही प्रवृत्त करनेवाली नहीं, क्योंकि उसी से अधर्म भी प्रवृत्त होता है, अतः सृष्टि को धर्म प्रवृत्त करनेवाली ही कहना युक्तियुक्त नहीं ॥११॥

श्रीभगवत्पाद शंकराचार्य महाराज के भाष्य की रीति से तो प्रथम मन्त्र से सर्व एषणाओं के त्यागपूर्वक ज्ञाननिष्ठा, वेद का प्रथम-अर्थ है । जीने की इच्छावाले अज्ञानियों को ज्ञाननिष्ठा सम्भव नहीं;

---

४६. जिन हम लोगों को आत्मा ही फलरूप से अभिप्रेत है, वे हम प्रजा से क्या करेंगे ?

न्दाद्वारेण तान् प्रशस्यात्मनो याथात्म्यं 'स पर्यगादि'त्यन्तैर्मन्त्रैरुपदिष्टम् (ईशा० ८)। ते किमधिकृताः[४७] 'अत्याश्रमिभ्यः परमं पवित्रं प्रोवाच सम्यगृषिसङ्घजुष्टम्' (श्वेताश्वतर ६.२१) इति श्रुतेः। कर्मनिष्ठानां जिजीविषूणां कृते 'अन्धन्तम' इत्यादिकमुक्तम्।

ननु सर्वाप्युपनिषदेकं ब्रह्मविद्याप्रकरणं ततः प्रकरणभेदकरणमनुचितमितिचेन्न, प्राणाद्युपासनविधानस्याप्युपनिषत्सुदर्शनात्। न च तदपि ब्रह्मज्ञानाङ्गमितिवाच्यम्, पृथक्फलश्रवणात्—फलवत् सन्निधावफलस्यैतदङ्गत्वनियमात्। विद्याऽविद्यासमुच्चयस्यापि न ब्रह्मज्ञानाङ्गत्वम्, तस्य स्वातन्त्र्येण फलविधानात्। तस्माद्यथा कर्मकाण्डेऽग्निहोत्रादिप्रकरणं भिन्नमेवेष्यते, भिन्नाधिकारत्वात्तत्तत्कर्मणस्तथैवोपनिषत्स्वपि कर्माविरुद्धतद्विरुद्धविद्याप्रकरणभेदोऽपि युक्त एव।

अतः "कुर्वन्नेवेह" इस मन्त्र से कर्मनिष्ठारूप वेद का द्वितीय-अर्थ प्रदर्शित कर दिया है। "अकेले पुरुष ने कामना की कि मेरे स्त्री हो" इत्यादिक श्रुतियों ने स्त्री आदि की कामनावाले अज्ञानी पुरुष के लिये कर्मों का विधान किया है। कर्मनिष्ठा के प्रतिकूल (विरोधी) होने से एषणातीन का त्यागरूप संन्यासपूर्वक ज्ञाननिष्ठा ही आत्मवेत्ताओं के लिये प्रदर्शित की है। "असुर्या" इत्यादि श्रुतियों ने अविद्वान् (अज्ञानी) पुरुषों की निन्दा करके आत्मज्ञानी की प्रशंसापूर्वक आत्मा के यथार्थ-स्वरूप का वर्णन "स पर्यगात्" इत्यादिक मंत्रों ने किया है। "अत्याश्रमिभ्यः" इत्यादि श्रुतियों से आत्मा के यथार्थस्वरूप में निष्ठा के अधिकारी संन्यासी विद्वान् हैं। जीनेकी इच्छावाले कर्मनिष्ठपुरुषों के लिये "अन्धं तमः" इत्यादिक उपदेश कहा है।

"सर्व उपनिषदें एक ब्रह्मविद्या का ही प्रकरणरूप हैं; अतः एक ही उपनिषद् में प्रकरणभेद करना अनुचित है।" यदि ऐसा कहा जाय तो वह भी उचित नहीं; क्योंकि उपनिषदों में प्राणादि की उपासना भी देखी जाती है, अतः उपनिषदों में प्रकरणभेद स्वीकार करना

---

४७. विद्वान् ऋषि ने ऋषिसमुदाय से सेवित इस परमपवित्र उपदेश को संन्यासियों के लिये कहा।

ननु कुतो न समुच्चये सर्वेषामधिकार इतिचेदत्रोच्यते—'यस्मिन्सर्वाणिभूतान्यात्मैवाभूद्विजानतः' (ईशा० ७) इत्यकामिनः साध्यसाधनभेदोपमर्दन कर्मासम्भवेन समुच्चयानुपपत्तेः।

न च रामकृष्णविष्ण्वादितत्त्वविदुषामपि कर्मदर्शनात्कुतः समुच्चयाभाव इति वाच्यम्, तेषां कर्मणां कर्तृत्व–भोक्तृत्व–नानात्वबुद्ध्यहंकाराभिनिवेशाभावेन कर्माभासत्वात्। यत्र कर्तृत्वादिबुद्धिर्नभवेदहंकारोऽभिनिवेशश्च न स्यात् तत्र कर्मसत्त्वेऽपि कर्माभासत्वमेव न कर्मत्वम्–

अनुचित नहीं। "प्राणादि की उपासना भी ब्रह्मविद्या का अंग है, अङ्ग से प्रकरणभेद होता नहीं" यह कहना भी उचित नहीं; क्योंकि उपासना का ब्रह्मविद्या से भिन्न फल कहा गया है; अतः प्राणादि की उपासना ब्रह्मविद्या का अङ्ग नहीं। जो साधन फलवाला होता है, उसके समीप उसी के प्रकरण में फल से शून्य जिस साधन का वर्णन होता है, उस फलवाले साधन का तादृश फलहीन साधन अङ्ग होता है। ब्रह्मविद्या तथा प्राणादि उपासना के तो भिन्न-भिन्न फल हैं, अतः उनमें अङ्गाङ्गी (साध्य-साधन) भाव नहीं। अत एव विद्या तथा अविद्या के समुच्चय को भी ब्रह्मज्ञान की अङ्गता (साधनता) नहीं है। क्योंकि समुच्चय का भी शुद्ध ब्रह्मविद्या की अपेक्षा भिन्न फल का ही मन्त्र में श्रवण हुआ है; अतः जैसे भिन्न अधिकारो होने से कर्मकाण्ड में अग्निहोत्रादि का प्रकरण भिन्न स्वीकार किया जाता है, उसी प्रकार कर्म से विरुद्ध तथा अविरुद्ध विद्याओं के प्रकरण का भेद भी उचित ही है।

"समुच्चय में सर्वका अधिकार क्यों नहीं?" इस प्रश्न का उत्तर यह है कि सर्वभूतों को आत्मा जाननेवाले अभेदर्शी सर्वकामना से शून्य विद्वान् का साध्य-साधन के भेद का बाध हो जाने पर कर्म तथा कर्म के साथ समुच्चय भी संभव नहीं।

"राम–कृष्ण–विष्ण्वादिक परमतत्त्वज्ञानियों के भी कर्म देखे जाने से समुच्चय का अभाव कैसे संभव है?" ऐसा कथन भी उपयुक्त नहीं। कर्तृत्व-भोक्तृत्व-नानात्व बुद्धि, अहंकार और अभिनिवेश का अभाव होने से राम-कृष्णादि के कर्म कर्म नहीं कर्माभास

"नैव किञ्चित्करोमीति युक्तो मन्येत तत्त्ववित् ।
पश्यञ्श्रृण्वन्स्पृशञ्जिघ्रन्नश्नन्गच्छन्स्वपञ्श्वसन् ॥
प्रलपन्विसृजन्गृह्णन्नुन्मिषन्निमिषन्नपि ।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेषु वर्तन्त इति धारयन् ॥"[४८]

(भगवद्गीता ५. ८,९)

प्रकृते साध्यसाधनभावविचारश्चलति । न च तत्त्वज्ञानुष्ठित-कर्मणो मोक्षहेतुत्वम्, ज्ञानस्य मोक्षहेतुत्वोक्तेः । यथाऽग्नौ पिङ्गलतायां

हैं । जहाँ (जिस पुरुष में) कर्तृत्वादिबुद्धि तथा अहंकाराभिनिवेश नहीं होता, उस पुरुष में प्रतीयमान कर्म कर्माभास ही होता है, न कि कर्म । क्योंकि ऐसा ही गीतावाक्य कहता है—**'नैव किञ्चित्करोमीति युक्तो मन्येत तत्त्ववित् ।'**

प्रकरण में साध्य-साधन का विचार चल रहा है । तत्त्वज्ञपुरुषों के द्वारा अनुष्ठान किया कर्म मोक्ष का साधन होता नहीं; क्योंकि

---

४८. इस मन्त्र के यहाँ तक के भाष्य का यह अभिप्राय है कि ज्ञान-निष्ठा और कर्मनिष्ठा ये दो वेदोक्तमार्ग हैं । **'ईशावास्यं'** और **'कुर्वन्नेवेह कर्माणि'** (ईशा० १,२) इन दो मन्त्रों में क्रमशः दोनों मार्गों के अधिकारियों का निरूपण किया गया है । सर्वैषणा (संपूर्ण कामना)–विमुक्त ज्ञाननिष्ठों में कर्मसंन्यास की सहज प्रतिष्ठा होती है । कर्मासक्ति–फलासक्ति–अहंकृति–नानात्वबुद्धि और अभिनिवेशशून्य तत्त्वज्ञों में कदाचित् कर्म प्रतिष्ठित भी हो तो भी मोक्ष के प्रति वह अन्यथासिद्ध उसी प्रकार होता है, जिस प्रकार अग्नि में अवस्थित पिङ्गलता दाह के प्रति । ऐसे तत्त्वज्ञ वसिष्ठ, व्यासादि के कर्म **'लीलाकर्म'** या **'कर्माभास'** ही मान्य हैं । **'नैवकिञ्चित्करोमीति'** (गीता ५.८,९) उनका यह निश्चय कि 'मैं कुछ नहीं करता' उनमें अन्यारोपित कर्म को अकर्म बनाये रखता है । 'करते हुए भी न करने की उनकी मान्यता' विक्षिप्त और अज्ञों-जैसी नहीं मानी जा सकती; क्योंकि **'युक्तो मन्येत तत्त्ववित्'** (गीता ५.८) वे'युक्त'हैं, असमाहित या विक्षिप्त नहीं, 'तत्त्ववित्' हैं, अज्ञ नहीं ।

सत्यामपि न दाहं प्रतिहेतुत्वमन्यथासिद्धत्वात्तथैव कर्मणां लोकसंग्रहार्थमनुष्ठीयमानानामपि न मोक्षहेतुत्वमन्यथा सिद्धत्वादेव। अत्र तु पुरुषार्थसाधनत्वेन समुच्चयानुष्ठानं विधीयते। न हि आत्मैकत्वविज्ञानस्य केनचित्कर्मणा ज्ञानान्तरेण वा समुच्चयः सम्भवति। इह तु समुच्चिचीषयाऽविद्वन्निन्दा क्रियते। तत्र यस्य येन समुच्चयः शास्त्रतो न्यायतश्च संभवति, तस्यैव समुच्चयो वक्तव्यः।

ननु 'ईशावास्यमि'ति (ईशा० १) मन्त्रे ब्रह्मविद्याया एव प्रक्रान्तत्वात्तस्या एव समुच्चिचीषया निन्देति चेन्न, प्रकृतमित्येतावतैव तद्ग्रहणानुपपत्तेः। योग्यतानुरोधेनैव सम्बन्धोपपत्तेः। शुद्धब्रह्मविद्यायाः कर्तृत्वाद्यध्यासोपमर्दकत्वेन कर्मसम्बन्धानर्हत्वात्।

मोक्ष का साधन तो शास्त्र में ज्ञान को कहा है। जैसे अग्नि में पिङ्गलरूप रहता है तथा अग्नि के दाह आदि कार्य से पूर्ववृत्ति भी है, किन्तु अन्यथासिद्ध होने से दाह के प्रति कारण नहीं, उसी प्रकार अन्यथासिद्ध होने से विद्वान् के द्वारा लोकसंग्रह के लिये किये हुए कर्मों को मोक्ष के प्रति साधनता नहीं। इस मन्त्र में पुरुषार्थ के साधन के रूप में समुच्चय के अनुष्ठान का विधान किया है। आत्मा की एकता के ज्ञान का किसी कर्म अथवा अन्य किसी ज्ञान के साथ समुच्चय संभव नहीं। अतः यहाँ आत्मा के एकत्व-ज्ञान का प्रकरण नहीं। यहाँ समुच्चय के अनुष्ठान करने की इच्छा (तात्पर्य) से अविद्वानादि की निन्दा की गयी है। समुच्चय का प्रकरण होने पर तो जिसका जिसके साथ समुच्चय शास्त्र तथा युक्ति से संभव हो, उसका ही समुच्चय कहना चाहिये।

"ईशावास्यं" इस मंत्र के द्वारा ब्रह्मविद्या का प्रारम्भ होने से ब्रह्मविद्या के समुच्चय के तात्पर्य से ही मन्त्र में निन्दा है; अतः ब्रह्मविद्या का ही किसी के साथ समुच्चय, इस मन्त्र का विषय होना चाहिये" ऐसा कहना उचित नहीं; क्योंकि 'ब्रह्मविद्या का प्रकरण में प्रारंभ है, इतने मात्र से समुच्चय में सम्बन्ध के लिये ब्रह्मविद्या का ग्रहण सम्भव नहीं; क्योंकि सम्बन्ध तो योग्यता के अनुसार ही सम्भव होता है। शुद्ध ब्रह्मविद्या तो कर्तृत्व-भोक्तृत्व के अध्यास का बाधक

किञ्च यस्मिन्निष्पन्नेऽपि फलस्य व्यवधानं सम्भाव्यते, तस्यैव दर्शादेः सहकारिसमुच्चयो युक्तः। इहत्वेकत्वमनुपश्यतः को मोहः कः शोक इत्येकत्वदर्शनसमकालमेव मोहादिनिवृत्त्यभिधानान्न कालान्तरीयफलम्। ततो न सहकारिसमुच्चिचीषा सम्भवति। किञ्चास्या मन्त्रोपनिषदो ब्राह्मणे "ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन तपसाऽनाशकेन" **(बृहदारण्यक उप० ४.४.२२) इति तृतीयाश्रुत्या यज्ञादेरिष्यमाणवेदने कारणत्वेन सम्बन्धः श्रूयते, तत्कथं दुर्बलेन प्रकरणेन सहकारितया सम्बन्धो युज्यते?** 'श्रुतिलिङ्गवाक्यप्रकरणस्थानसमाख्यानां समवाये पारदौर्बल्यमर्थविप्रकर्षात्' **(जैमिनीय सू० ३.३.१४) इति विरोधात्।**

प्रधानस्य च विद्यायाः सहकारिसम्बन्धविधित्सया निन्देत्यप्ययुक्तम् "अत एव चाग्नीन्धनाद्यनपेक्षेति' **(ब्रह्मसूत्र ३.४.२५) सूत्र-**

होने से कर्तृत्व-भोक्तृत्व के अध्यासपूर्वक होनेवाले कर्मों के साथ सम्बन्धित होने के ही योग्य नहीं। पुनः कर्म के साथ उसका समुच्चय कैसे संभव हो सकता है?

जिस साधन के अनुष्ठान के पूर्ण हो जाने पर भी फल की प्राप्ति में व्यवधान की संभावना की जाती है, ऐसे दर्श आदिक का ही अपने सहकारी के साथ समुच्चय उचित है—युक्तियुक्त है। ब्रह्माभिन्नात्मैकत्व के विद्वान् पुरुष में तो **'को मोहः'** इस श्रुति ने एकत्वज्ञान के समान काल में ही (जिस काल में ज्ञान उत्पन्न होता है, उस काल में ही) मोहादि की निवृत्तिरूप फल का कथन किया है; अतः ब्रह्मविद्या के फल में काल का व्यवधान नहीं। इसी कारण से किसी सहकारी के साथ ब्रह्मविद्या के समुच्चय की इच्छा सम्भव नहीं। इस ईशावास्य मन्त्रोपनिषद् का ब्राह्मण(शतपथ)में **"ब्राह्मणा विविदिषन्ति"** इस श्रुति के द्वारा यज्ञ–दानादि कर्मों का बिविदिषी (ब्रह्मवेदन की जिज्ञासा) के कारणरूप से सम्बन्ध वर्णन किया है। साक्षात् श्रुति यज्ञादिककर्मों को ब्रह्मविद्या का कारण कह रही है। जब प्रकरण? से श्रुति बलवती होती है, तब श्रुति से दुर्बल प्रकरण, से सिद्ध ब्रह्मविद्या के साथ यज्ञादि का सहकारी के रूप में सम्बन्ध कैसे उचित कहा जा सकता है? क्यों कि ऐसा कथन जैमिनीय सूत्र से विरुद्ध है।

विरोधश्च। तत्र विद्यायाः पुरुषार्थहेतुत्वात् अग्नीन्धनाद्याश्रमकर्मणा विद्यया स्वार्थसिद्धौ नापेक्षितव्यानि। तस्मात्कर्माविरुद्धदेवताज्ञानस्यैवात्र समुच्चयो विधित्स्यते।

न च देवताज्ञानस्य कर्मफलातिरिक्तफलाभावात् समुच्चयो न संभवतीति वाच्यम्, 'विद्यया देवलोक' (बृ० उ० १.५.१६) इति पृथक्फलश्रवणात्। ननु समुच्चिचीषया निन्देति किमिति व्याख्यायते,— अध्ययनविधेर्मोक्षादर्वाक्पर्यवसानानुपपत्ते र्देवलोकादिप्राप्तेः फलाभासत्वात्प्रहाणार्थैव निन्दास्यादितिचेन्न, पृथक्फलश्रवणेन शास्त्रविहितस्याकर्तव्यतानुपपत्तेः प्रहाणार्थानिन्दानुपपत्त्या समुच्चिचीषयैव तत्संभवात्। 'न हि निन्दा निन्द्यं निन्दितुं प्रवर्तते अपितु विधेयं स्तोतुमि'ति न्यायात्, 'विद्यया देवलोकः कर्मणा पितृलोक' (बृ० उ० १.५.१६) इत्युभयोः कर्मदेवतोपासनयोः फलश्रवणम्।

"प्रधानभूत ब्रह्मविद्या का अपने किसी सहकारी के साथ सम्बन्ध के विधान की इच्छा (तात्पर्य) से ही निन्दा का कथन है," यह कथन भी उचित नहीं, क्योंकि इस कथन का "अग्नीन्धनादि" इस सूत्र से विरोध है। सूत्र में यह वर्णन किया है कि विद्या पुरुषार्थ का हेतु है। विद्या से पुरुष के स्वार्थ (मोक्ष) की सिद्धि हो जाने पर कर्म अपेक्षित ही नहीं; अतः कर्म से जिस विद्या (देवोपासना) से विरोध नहीं, उसी देवोपासनारूपविद्या का कर्म के साथ समुच्चय का विधान किया है।

"स्वतन्त्र फलवालों का समुच्चय होता है, देवता की उपासनारूपविद्या का कर्म के फल से अतिरिक्त कोई फल है नहीं; अतः देवोपासना का कर्म के साथ समुच्चय भी सम्भव नहीं", ऐसा कथन भी उचित नहीं। क्योंकि "विद्या (देवोपासना) से देवलोक प्राप्त होता है" इस श्रुति ने देवोपासना का देवलोक की प्राप्तिरूप कर्मसे पृथक् फल कथन किया है। "अध्ययनविधि की मोक्ष से पूर्व विराम का असंभव होने से देवलोकादि की प्राप्ति फल नहीं फलाभास है; अतः साधनभूत देवोपासना के त्याग के लिये ही निन्दा है", यह कथन भी उचित नहीं। क्योंकि देवोपासना का देवलोक की प्राप्ति रूप ब्रह्मविद्या से पृथक् फल का वर्णन किया है; अतः फल से युक्त शास्त्र से विहित

अन्धं तमः अज्ञानलक्षणं तमः ते प्रविशन्ति येऽविद्या स्वर्गाद्यर्थानि कर्माणि तामविद्यां अग्निहोत्रादिलक्षणामेव केवलामुपासते, तत्पराः सन्तोऽनुतिष्ठन्ति । ततस्तस्मादन्धात्मकात्तमसो भूय इव तमः बहुतरमेव ते तमः प्रविशन्ति य उ ये अशुद्धचित्ता अपि कर्म हित्वा विद्यायामेव देवताज्ञान एव रताः कर्माधिकारे सत्यपि कर्मपरित्यागेन प्रत्यवायरूपदोषयुक्ताः सन्तः । ये कर्म कुर्वन्ति ते तु स्वर्गादिकं प्राप्नुवन्ति । स्वर्गादिकञ्चाज्ञानकार्यत्वाद् ब्रह्मज्ञानफलापेक्षयाऽन्धं तम एव । ये तु कर्माणि परित्यज्य केवलायां विद्यायां रतास्तेषां कर्माप्यन्तरा बुद्धिशुद्ध्यभावेन

देवोपासना के अनुष्ठान की अकर्तव्यता नहीं कही जा सकती। इस तरह देवोपासना के परित्याग के लिये नहीं; अपि तु समुच्चय की इच्छा से ही निन्दा है। क्योंकि "निन्दा निन्दनीय की निन्दा के लिये नहीं, अपि तु विधेय की स्तुति के लिये होती है" यह नियम है। "विद्या से देवलोक", "कर्म से पितृलोक" प्राप्त होता है। इस प्रकार शास्त्र में कर्म तथा उपासना का पृथक्-पृथक् फल का श्रवण है; अतः योग्यतानुसार इन दोनों के समुच्चय का ही वर्णन है।

अन्ध=गाढ़, तम=अज्ञान, को वे लोग प्राप्त होते हैं, जो अविद्या (कर्म) का अनुष्ठान करते हैं। 'अविद्या' शब्द का अर्थ यहाँ कर्म है, जो कि स्वर्गादि की प्राप्ति के लिये किये जाते हैं। उस अग्निहोत्रादि कर्मरूप अविद्या की ही जो उपासना करते हैं अर्थात् उसी में तत्पर होकर अनुष्ठान करते हैं, वे गाढ़ तम को प्राप्त करते हैं। उस गाढ़ अज्ञानरूप तम से भी अधिक तम (अज्ञान) को वे लोग प्राप्त करते हैं, जो अशुद्ध चित्तवाले होकर भी कर्म का परित्याग कर, विद्या =देवतोपासना में ही रत हैं। कर्म में अधिकार होते हुए भी कर्म का परित्याग करने से प्रत्यवाय (पाप) रूप दोष से युक्त होते हुए भी केवल देवतोपासना में रत रहना, ऐसे कर्माधिकारियों के लिये उचित नहीं। भाव यह है कि जो कर्म करते हैं, वे स्वर्गादिकफल को प्राप्त होते हैं। स्वर्गादिक भी अज्ञान का कार्य होने से ब्रह्मज्ञान से प्राप्त फल की अपेक्षा गाढ़तम अज्ञान ही हैं। जो कर्मों का परित्याग कर केवल विद्या में रत हैं, बुद्धि-शुद्धि के अभाव के कारण देवतोपासना में भी उनकी स्थिति असंभव है। उभय (दोनों ओर से) भ्रष्ट होने से पूर्वोक्त-

विद्यायां स्थित्यसम्भवेनोभयभ्रष्टत्वेन ततोप्यधिकमन्धन्तमः प्रविशन्ति[४९]।

अन्धं तमः अज्ञानलक्षणं तमः ते प्रविशन्ति येऽविद्यां स्वर्गाद्यर्थानि कर्माणि उपासतेऽनुतिष्ठन्ति। अत्र पर्युदासार्थको नञ्। पर्युदासस्तु

स्वर्गादिरूप कर्मफल की अपेक्षा अधिक अज्ञानरूप तम को वे प्राप्त होते हैं।

"येऽविद्यामुपासते" यहाँ अविद्या शब्द में पर्युदास अर्थवाला नञ् शब्द है। पर्युदास का अर्थ होता है,"उससे भिन्न होता हुआ उस के सदृश"; अतः यहाँ नञ् का अर्थ विद्या से भिन्न विद्या के सदृश है।

---

४९. जो ज्ञाननिष्ठा के अधिकार से अभी विभूषित नहीं, न ज्ञाननिष्ठा के करीब (निकट) ही हैं; बल्कि जीवन और जीवनोपयोगी वस्तुओं में रागान्वित हैं, वे योग्यता विरहवशात् शुद्धब्रह्मात्मतत्त्व के एकत्वबोध के अनुपयुक्त हैं। शास्त्रोक्त विधि-निषेधानुसार अनुष्ठितकर्म कालान्तरफलप्रद हैं। ज्ञान तत्कालफलप्रद है। अज्ञानावरणवारणपूर्वक निरावरण ब्रह्मात्मभाव के अभिव्यञ्जनरूप फल को प्रदान करने के लिये ज्ञान को कर्मादि के योग की अपेक्षा नहीं। ऐसी स्थिति में मन्त्र में प्रयुक्त **'अविद्या'** स्वर्गादि अभीष्ट फलप्रद कर्म का और **'विद्या'** देवतोपासना का वाचक है। दोनों का विवक्षित योग ऐसा अर्थ स्वीकार करने पर ही संभव है। कर्म और विद्या का क्रमशः पितृलोक और देवलोकरूप पृथक् फल श्रुत होने पर भी कर्म की अपेक्षा न कर केवल देवताराधन कर्माधिकारी द्वारा अविचलभाव से सध पाना कठिन है। साथ ही देवतोपासना से विमुख रहकर केवल कर्मानुष्ठान से अन्तर्यामी और अधिदैवमण्डल के प्रति महत्त्वबुद्धि की न्यूनता के कारण अभीष्टवस्तु की उपलब्धि में प्रतिबन्ध की द्रुतनिवृत्ति और निष्कामभाव से कर्मानुष्ठानपूर्वक मोक्ष के प्रति अभिरुचि और मनोवृत्ति असंभव है। इसीलिये यहाँ केवल कर्म और केवल ज्ञान की निन्दा दोनों के समुच्चय की भावना से प्रयुक्त है।

तद्भिन्नत्वे सति तत्सदृशः। विद्याऽत्रदेवोपासना विवक्षिता कर्माणि च वेदविहितत्वे विद्यासदृशानि। विद्याभिन्नाऽविद्यापदेनोच्यते —

"द्वौ नञौ च समाख्यातौ पर्युदासप्रसज्यकौ।
पर्युदासः सदृग्ग्राही प्रसज्यस्तु निषेधकृत् ॥" इत्युक्तेः।

यद्वा—यथा ब्राह्मणादन्ये क्षत्रियादय अब्राह्मणशब्देनाख्यायन्ते तथैव विद्याया अन्यानि कर्माणि अविद्यापदेनोच्यन्ते —

"[५०]तत्सादृश्यमभावश्च तदन्यत्वं तदल्पता।
अप्राशस्त्यं विरोधश्च नञर्थाः षट् प्रकीर्तिताः ॥"

इत्यभियुक्तवचनात्।

विद्या यहाँ देवोपासना है। कर्म वेद से विहित होने के कारण देवोपासना के सदृश है; क्योंकि देवोपासना भी वेदविहित है तथा विद्या से भिन्न भी है, अतः कर्म अविद्याशब्द के वाच्य हैं—अविद्या शब्द से कहे जाते हैं।

'नञ्'शब्द दो प्रकार के कहे गये हैं। दो प्रकार ये हैं—(१) पर्युदास (२) प्रसज्य। पर्युदास सदृशग्राही को कहते हैं। निषेध करनेवाले को 'प्रसज्यक' कहते हैं। अथवा—जैसे ब्राह्मण अतिरिक्त क्षत्रिय आदिक अब्राह्मण शब्द से कहे जाते हैं, उसी प्रकार विद्या से अतिरिक्त कर्म भी अविद्या पद से कहे जाते हैं।

सादृश्य, अभाव, भिन्नता, अल्पता, अश्रेष्ठता और विरोध ये षट्-अर्थ नञ् के कहे गये हैं।

---

५०. इनके क्रमशः उदाहरण हैं—(१) अब्राह्मणः, (२) अपापम्, (३) अघटः, (४) अनुदरा कन्या, (५) अकेशाः, (६) अधर्मः, असुरः।

५१
अन्यदेवाहुर्विद्याया अन्यदाहुरविद्यायाः ।

इति शुश्रुम धीराणां ये नस्तद्विचचक्षिरे ॥१३॥

विद्या और अविद्या (देवतोपासना और कर्म) का अवान्तरफल-भेद दोनों के समुच्चय का कारण है। **'विद्यया देवलोकः', 'कर्मणा पितृलोकः'**='विद्या से देवलोक' और 'कर्म से पितृलोक' इस बृहदारण्यक (१.५.१६) के अनुसार यह सिद्ध है कि विद्या और कर्म (अविद्या) का अवान्तर फलभेद है।

समुच्चय-विधान के अनन्तर सत्परम्पराप्राप्त अवान्तर फलभेद का मन्त्र वर्णन करता है—

विद्या से मिलनेवाला फल अन्य ही है और अविद्या से मिलनेवाला फल अन्य ही है। ऐसा हमने उन विद्वानों से श्रवण किया है, जिन्होंने हमारे प्रति उसका व्याख्यान किया है ॥१३॥

तत्रावान्तरफलभेदं विद्याकर्मणोः समुच्चयकारणमाह—अन्यथा 'फलवत्सन्निधावफलं तदङ्गमि'तिन्यायेन फलवदफलवतोः सन्निहितयोरङ्गाङ्गितैवस्यात्। अन्यत्पृथगेव विद्यया क्रियते फलम् 'विद्यया देवलोकः' (बृह० १.५.१६), 'विद्यया तदारोहन्ती'तिश्रुतेः। अन्यदाहु-

---

विद्या तथा कर्मके समुच्चय का कारण जो अवान्तर फलभेद है, मन्त्र उसको कहता है—अवान्तर फलभेद को न कहने पर तो विद्या तथा कर्म का अङ्गाङ्गी भाव ही होता, समुच्चय नहीं हो सकता था। क्योंकि "फलवाले के समीप अफलवाले का कथन हो तो फल से रहित साधन फलवाले का अङ्ग होता है", इस न्याय (नियम) के अनुसार समीप में पठित फलवाले तथा अफल (फल से शून्य)का अङ्गाङ्गीभाव

---

५१. पाठा०—विद्याया अन्यत्-विद्ययाऽन्यत्, अविद्यायाः-अविद्यया।

रविद्यया कर्मणा अन्यदेवफलं क्रियते 'कर्मणा[५२] पितृलोक' (बृह० १.५.१६) इतिश्रुतेः । इति वयं धीराणां धीमतां वचनं शुश्रुम श्रुतवन्तः । य आचार्या नोऽस्मभ्यं तत्कर्म च ज्ञानञ्च विचचक्षिरे व्याख्यातवन्तस्तेषामयमागमः पारम्पर्यागतः ॥१३॥

विद्याञ्चाविद्याञ्च यस्तद्वेदोभयँ सह ।
अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययाऽमृतमश्नुते ॥१४॥

अविद्या शब्द से अग्निहोत्रादिकर्म कहे गये हैं। उनके अनुष्ठान से स्वाभाविक काम-कर्म और ज्ञान जो मृत्यु शब्द के वाच्य हैं, उनको पार करके देवता के ज्ञान (उपासना) से देवभावरूप अमृत को प्राप्त हो जाता है। यह सम–समुच्चय की दृष्टि से अर्थ है। जब विद्या का

ही होता है, न कि समुच्चय। "विद्या से देवलोक प्राप्त होता है" इस श्रुतिवाक्य के अनुसार विद्या से अतिरिक्त ही फल मिलता है। अन्य श्रुतिवाक्य भी कहता है कि 'विद्या से ही देवलोक पर आरूढ़ होते हैं अर्थात् पहुँचते हैं।' अविद्याभूत कर्म से भिन्न फल किया जाता है। क्योंकि श्रुति कहती है कि "कर्म से पितृलोक प्राप्त होता है।" बुद्धिमानों का यह विद्या तथा अविद्या के फलों का विवेचन करने वाला वचन हमने श्रवण किया है। जिन आचार्यों ने हमारे लिये ज्ञान और कर्म का व्याख्यान किया है, उनका यह आगम है, यह परम्परा से प्राप्त है ॥१३॥

---

५२. "विद्यया तदारोहन्ति यत्र कामाः परागताः ।
न तत्र दक्षिणा यान्ति नांविद्वांसस्तपस्विनः ॥"
"विद्या (उपासना) के द्वारा ब्रह्मलोक में आरूढ़ होते हैं, जहाँ पर कामनाएँ समाप्त हो जाती हैं। केवल कर्मपरायण, अविद्वान और तपस्विगण नहीं जाते।"

अर्थ ब्रह्मात्मज्ञान मान्य हो तब क्रम–समुच्चय की दृष्टि से पहले कर्मानुष्ठान से अन्तःकरण की शुद्धि और फिर ब्रह्मात्मज्ञान से मोक्षोपलब्धिरूप फल मान्य है ॥१४॥

यत एवमतो विद्यां चाविद्यां च **देवताज्ञानं कर्म** च यस्तदेतदुभयं **सहैकेन पुरुषेणानुष्ठेयं** वेदोपासते, **तस्यैव समुच्चयकारिणः एवैकः पुरुषार्थसम्बन्धः क्रमेण स्यात् । स** अविद्यया **कर्मणाऽग्निहोत्रादिना** मृत्युं **स्वाभाविकं कामकर्मज्ञानञ्च मृत्युशब्दवाच्यं** तीर्त्वाऽतिक्रम्य विद्यया **देवताज्ञानेनामृतं देवतात्मभावमश्नुते । देवात्मभावगमनमेवात्रामृतं**– 'तद्धयमृतमुच्यते यद्देवतात्मगमनमि'ति **श्रुतेः ।**

उवटस्तु "विद्यामात्मज्ञानमविद्यां **कर्म** च यस्तदुभयं **सहैकीभूतं कर्मकाण्डं ज्ञानकाण्डस्य गुणभूतं वेद–विजानाति, स** अविद्यया **कर्मकाण्डेन** मृत्युं तीर्त्वोत्तीर्य **कृतकृत्यो भूत्वा** विद्यया **ब्रह्म परिज्ञानेनामृतं मोक्षमश्नुते प्राप्नोति ।" तदपि समकालसमुच्चयविरोधेऽपि क्रमसमुच्चयपक्षे नासङ्गतम् ।**

क्योंकि ये दोनों भिन्न फलवाले हैं, अतः देवोपासना तथा कर्म उन दोनों को एक पुरुष के द्वारा अनुष्ठान करने के योग्य जानता है तथा करता है। इनके समुच्चय का अनुष्ठान करनेवाले को क्रम से एक पुरुषार्थ से सम्बन्ध हो जाता है। वह अविद्या श द से अग्नि–होत्रादि कर्म कहे गये हैं। उनके अनुष्ठान से स्वाभाविक काम-कर्म तथा ज्ञान जो मृत्युशब्द के वाच्य हैं, उनको पार करके देवता के ज्ञान (उपासन) से देवभाव रूप अमृत को प्राप्त हो जाता है। यहाँ देवभाव को प्राप्त होना ही अमृतशब्द का वाच्य है, क्योंकि श्रुति स्वयं कह रही है कि—यहाँ अमृत वही है जो देवरूप हो जाना है।

उवट आचार्य तो कहते हैं कि–"विद्या=आत्मज्ञान तथा कर्म' उन दोनों को एकीभूत जानता है, अर्थात् कर्मकाण्ड को ज्ञानकाण्ड का गुणभूत जानता है, वह कर्मकाण्ड से मृत्यु को अतिक्रमण करके कृतकृत्य होकर अर्थात् कर्म के अधिकार को समाप्त कर विद्या=ब्रह्मज्ञान से अमृत (मोक्ष) को प्राप्त हो जाता है।" यह अर्थ समसमुच्चय पक्ष में विरुद्ध होने पर भी क्रमसमुच्चय पक्ष में असंगत नहीं है।

काण्वशाखायां—विद्याऽविद्यासमुच्चयानन्तरं व्याकृताव्याकृतोपासनसमुच्चय उक्तः, शांकरभाष्यन्तु काण्वशाखीयोपनिषदि दृश्यते। सायणाचार्या अपि काण्वशाखीये भाष्ये श्रीभगवत्पादमेवानुसरन्ति।

श्रीशङ्करानन्दस्वामिनस्तु—ये धनाभिलाषिणः, अन्धंतमः अहंममाभिमानलक्षणं प्रविशन्ति येऽविद्यां कर्मविधिनिष्पाद्यं ज्योतिष्टोमादि उपासते तदेकनिष्ठाः सन्तो विद्यामनुतिष्ठन्ति। ननु तर्हि त्याज्यं कर्मोपास्याश्च देवता अथवाऽहंब्रह्मास्मीतिवक्तव्यमित्यत आह–ततस्तस्माद्भूयइवाधिकमिव ते देवतोपासका मुखतो ब्रह्मवादिनो वाऽनुत्पन्नसाक्षात्काराः कर्मत्यागिनस्तमोऽहंममाभिमानरूपं प्रविशन्ति, य उ ये तु विद्यायां देवताज्ञाने आत्मज्ञाने वा रतास्तदेकनिष्ठाः।

काण्वशाखा की ईशावास्य उपनिषद् में विद्या तथा अविद्या के समुच्चय के कथन के अनन्तर व्याकृत तथा अव्याकृत की उपासनाओं का समुच्चय कहा है। शाङ्करभाष्य तो काण्वशाखा की उपनिषद् पर ही देखा जाता है, सायणाचार्य भी काण्वशाखा के भाष्य के विषय में श्रीभगवत्पाद (शंकराचार्य)का ही अनुसरण करते हैं।

श्रीशङ्करानन्द स्वामी तो कहते हैं कि—जो धन के अभिलाषी, अविद्या—कर्म के विधान से अनुष्ठान के योग्य ज्योतिष्टोमादि का उनमें निष्ठावान् हुए अनुष्ठान करते हैं, वे "**अन्ध तम**"—अहंता-ममतारूपाभिमानरूप गाढ़ अन्धकार (अज्ञान) को प्राप्त होते हैं।

प्रश्न–तब तो कर्म त्याज्य है तथा देवताओं की उपासना करनी चाहिये अथवा "अहं ब्रह्मास्मि"–मैं ब्रह्म हूँ, ऐसा कहना चाहिये।

उत्तर—कर्म के अनुष्ठान से प्राप्त तम (अज्ञान) से भी अधिक—जैसा तम को वे लोग प्राप्त होते हैं जो विद्या—देवता की उपासना अथवा ब्रह्मज्ञान में रत हैं, अर्थात् जिन्होंने कर्म का परित्याग कर दिया है, ब्रह्म के अपरोक्षज्ञान से रहित हैं, मुख से ही ब्रह्म कहते हैं तथा देवताओं के उपासक हैं।

शंका—कर्म तथा ज्ञान दोनों की मन्त्र में निन्दा होने पर तो दोनों ही निष्फल सिद्ध होते हैं।

ननु—उभयोर्निन्दायामुभयमप्यफलमित्यत आह—अन्यदेवेति। कर्मणः फलात् पितृयाणलक्षणात् पृथगेव देवयानलक्षणमात्मप्राप्तिलक्षणं वा विद्यायाः फलम्। अन्यच्छब्देन सफलत्वमेवशब्देन चाङ्गाङ्गिभावनिषेधः। विद्यया देवताज्ञानेनाऽऽत्मज्ञानेन वाऽन्यद्विद्याफलात्पृथग्भूतम्। अत्रैवकाराभावादात्मज्ञानोत्पादकत्वमपि कर्मणामवगम्यते। आहुः कथयन्त्यविद्यया द्वितीयमन्त्रोक्तेन कर्मणा अन्यत्फलमिति। न चात्राङ्गाङ्गिभावोऽपि शंकनीयः, अन्यदन्यच्च तदित्यनेन प्रकारेण शुश्रुम श्रुतवन्तः मन्त्रद्रष्टुरिदं वाक्यम्। धीराणां पूर्वोत्तरतन्त्रन्यायकुशलानां विदुषां वेदविदां ये गुरवः नोऽस्मभ्यमेतद्ब्रह्म कर्मसहितं विचचक्षिरे व्याख्यातवन्तः।

एवं पक्षद्वयमभिधाय देवताज्ञानस्य शाब्दस्य वा ब्रह्मज्ञानस्य कर्मणा सह समुच्चयमाह विद्यां देवताज्ञानं केवलं ब्रह्मज्ञानं वा, अविद्यां द्वितीय-मन्त्रोक्तानि कर्माणि वा चकारावुपायोपेयभावेन समुच्चयार्थौ, यः संजातवैराग्यः कर्मपरित्यक्तुमशक्तोऽन्तरालावस्थः तत्कर्म ज्ञानञ्च,

---

उत्तर—'कर्म के फल पितृयान से पृथक् ही देवयानरूप अथवा आत्मा की प्राप्तिरूप फल, देवोपासना अथवा आत्मज्ञान से प्राप्त होता है' ऐसा वेदज्ञ विद्वान् कहते हैं। मन्त्र में, 'अन्य' शब्द से दोनों की सफलता तथा 'एव' से अङ्गाङ्गिभाव का निषेध किया है। द्वितीय मन्त्र में कहा जो कर्म उस कर्मरूपी अविद्या से भी विद्या के फल से अन्य फल की प्राप्ति वेदज्ञ पुरुष कहते हैं। कर्म के फल के वर्णन करने वाले मन्त्र के भाग में 'अन्यत्' शब्द के साथ 'एव' कार शब्द नहीं है; अतः सिद्ध होता है कि कर्मों का फल आत्मज्ञान की उत्पत्ति भी है। कर्म तथा विद्या फल से अन्य-अन्य हैं; अतः अङ्गाङ्गिभाव की भी शंका नहीं है। मन्त्र द्रष्टा ऋषि ऐसा कहते हैं, ऐसा हमने सुना है। पूर्वोत्तरमीमांसा के सहित वेदों के ज्ञाता धीरपुरुष जिन गुरुओं ने हमारे प्रति कर्मसहित ब्रह्म की व्याख्या की है, उनसे सुना है।

पूर्वोक्त प्रकार से कर्म तथा विद्या इन दोनों पक्षों को कहकर देवता ज्ञान(उपासना) तथा शब्द से उत्पन्न अपरोक्ष ब्रह्मज्ञान का कर्म के साथ समुच्चय कहता है—विद्या=देवोपासना अथवा अपरोक्ष ब्रह्मज्ञान है। अविद्या द्वितीयमन्त्रों में कहे हुए कर्मों को कहा गया है।

वेद जानाति। उभयमुक्तमुपायोपेयभावेन सह कर्मोपायो ब्रह्मज्ञानमुपेयमिति मिलितम्। एवमुपायोपेय ज्ञानवतः फलमाह—अविद्यया द्वितीय मन्त्रोक्तेन कर्मज्ञानेन संयोगपृथक्त्वन्यायेन, मृत्युमात्मज्ञानोत्पादप्रतिबन्धकं स्वाभाविकं कर्मज्ञानं च दुःखकारणं तीर्त्वाऽऽत्मज्ञानोत्पादेनातिक्रम्य, विद्ययाऽहं ब्रह्मास्मीति साक्षात्कारेणामृतं ब्रह्मात्मत्वमश्नुते व्याप्नोति स एव भवतीत्यर्थः।[५३]

यदा तु ज्ञानकर्मणोरेव समुच्चयो न तु तज्ज्ञानयोस्तदोपायोपेयशब्दौ विहायात्मज्ञानस्थले च देवताज्ञानशब्दं पठित्वा "आभूतसम्प्लवं

जो वैराग्यवान्, परन्तु कर्मों के त्यागने में असमर्थ मध्य-अवस्था में स्थित पुरुष, कर्म तथा ज्ञान को उपायोपेयभाव से जानता है कि कर्म उपाय (साधन) है, ब्रह्मज्ञान उपेय (साध्य) है। ऐसे ज्ञानवाले पुरुष को मन्त्रद्रष्टा फल बतलाता है—अविद्या अर्थात् द्वितीयमन्त्र में कहे कर्म से मृत्यु(आत्मज्ञान की उत्पत्ति के प्रतिबन्धक स्वाभाविक कर्म-ज्ञान) को आत्मज्ञान की उत्पत्ति से अतिक्रमण कर विद्या 'मैं ब्रह्म हूँ' इस ब्रह्म के अपरोक्ष ज्ञान से अमृत=ब्रह्म से अभिन्नात्मतत्त्व को प्राप्त करता है, अर्थात् ब्रह्मात्मरूप ही हो जाता है। जब ज्ञान और कर्म का सम-समुच्चय प्राप्त हो तब अविद्यारूप कर्म का फल स्वाभाविक कर्म-ज्ञान से संतरण और विद्यारूप देवतोपासना का फल भूतविलयपर्यन्त स्थिर

---

५३. यह क्रम-समुच्चय की दृष्टि है। इसमें अविद्या का अर्थ कर्म और विद्या का अर्थ आत्मज्ञान मान्य है। कर्मयोग अन्तःकरण को संस्कृत कर आत्मा के अकर्तृत्व-अभोक्तृत्व का बोध करा देता है—आत्मा के अकर्तृत्व-अभोक्तृत्व के बोध की सहिष्णुता अभिव्यक्त करता है। जिससे स्वाभाविक काम (विषयेच्छा), कर्म (कर्तृत्व-भोक्तृत्वपूर्वक प्रवृत्ति) और ज्ञान-(साध्य-साधनानुसन्धानपूर्वक द्वैतस्फुरण) रूप मृत्यु का अतिक्रमण हो जाता है और ब्रह्मात्मज्ञान के अमोघ प्रभाव से कर्तृत्व-भोक्तृत्वादिशून्य आत्मा (त्वं पद लक्ष्यार्थरूप शोधित अहमर्थ) की ब्रह्मरूपता के बोध से अमृत-ब्रह्मात्मरूप से अवस्थितिरूपा मुक्ति की उपलब्धि होती है।

स्थानममृतत्वं हि भाष्यते'' (विष्णु०पु० २.८.९६) इति न्यायेनामृतं ब्रह्मलोकपर्यन्तमिति [५४]व्याकुर्यात् ।

[५५]अन्ये तु पाठक्रमादर्थक्रमो बलीयानिति कर्माऽऽत्मज्ञानञ्च पूर्वापराधिकारभेदेन सहैकपुरुषकर्तव्यत्वेन समुच्चितं यो वेद सोऽविद्यया कर्मणोपासनाऽपि मानसं कर्मैव, मृत्युं स्वरूपविस्मरणहेतुं चित्तमलमनैकाग्र्यं तीर्त्वाऽतिक्रम्य, विद्ययाऽऽत्मज्ञानेनामृतं मोक्षमश्नुते "तमेवविदित्वाऽतिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय'' (वा.सं. ३१.१८, श्वेता० ३.८) इति श्रुतेः ।

रहनेवाले (पंचभूतों की अवधि तक नाश न होनेवाले) ब्रह्मादि लोकों की प्राप्ति मान्य है ।

अन्य आचार्य तो यह कहते हैं कि—पाठ के क्रम से अर्थ का क्रम बलवान् होता है । पहिले कर्माधिकार पश्चात् कर्म से अन्तःकरण शुद्ध होने पर ज्ञानाधिकार । इस प्रकार पूर्वाधिकार तथा अपर अधि-

---

५४. यह सम-समुच्चय की दृष्टि है । इसमें विद्या (ज्ञान) का अर्थ देवतोपासना है । कर्म का अर्थ है स्व-अधिकारानुसारप्राप्त अग्निहोत्रादि कर्म । दोनों के सहानुष्ठान से अविद्यारूप कर्म द्वारा स्वाभाविक कर्म–ज्ञानरूप मृत्यु की निवृत्ति और विद्यारूप देवोपासना से देवलोक से ब्रह्मलोकपर्यन्त दिव्यलोकों की प्राप्ति होती है । प्रलय से भूतलयरूप महाप्रलयपर्यन्त दिव्य लोकों की प्राप्ति आपेक्षिक अमृतत्व है ।

इस प्रकार उपनिषद् शब्द में प्रयुक्त सद्धातु का विशरण (हिंसन, निवारण) और गतिरूप अर्थद्वय उक्त क्रमसमुच्चय में अविद्या की निवृत्ति और उससे उपलक्षित तत्त्वोपलब्धि के कारण चरितार्थ होता है । सम-समुच्चय में पुनः-पुनः जन्म-मृत्यु-जरा-व्याधिरूप क्लेश का अवसादन (शिथलीकरण) हो जाता है । इस तरह सद्धातु का अवसादन-अर्थ चरितार्थ हो जाता है ।

५५. ईशावास्यरहस्य विवृति के अनुसार यह दिग्दर्शन है ।

[५६] माण्डूक्यकारिकाभाष्ये क्रमसमुच्चय उक्तः। तत्र अविद्यया कर्मोपासनसमुच्चयानुष्ठानेन मृत्युमनैश्वर्यादिकमैश्वर्यादिप्राप्त्याऽतिक्रम्य पश्चात् विद्यया ब्रह्मात्मसाक्षात्कारेणामृतमश्नुते।

कार के भेद से एक पुरुष को ही कर्तव्यरूप से प्राप्त कर्म तथा ज्ञान के समुच्चय को जो जानता है, वह अविद्या=कर्म, इस अविद्याशब्द से कर्म तथा उपासना दोनों का ग्रहण है,क्योंकि उपासना भी मानसकर्म ही है। अतः कर्म तथा उपासनारूप अविद्या से मृत्यु=स्वरूप के विस्मरण का कारण जो चित्त का मल=अशुद्धिरूप दोष तथा विक्षेप का अतिक्रमण करके विद्या=आत्मज्ञान से अमृत=मोक्ष को प्राप्त हो जाता है। क्योंकि **"तमेव विदित्वा"** यह श्रुति ज्ञान से ही मोक्ष की प्राप्ति कह रही है।

---

५६. **शा० भाष्य**—एषणालक्षणादविद्याया मृत्योरतितीर्णस्य विरक्तस्योपनिषच्छास्त्रार्थालोचनपरस्य नान्तरीयकी परमात्मैकत्वविद्योत्पत्तिरिति पूर्वभाविनीमविद्यामपेक्ष्य पश्चाद्भाविनी ब्रह्मविद्याऽमृतत्वसाधनैकेन पुरुषेण सम्बध्यमानाऽविद्यया समुच्चीयत इत्युच्यते।

आ० टीका—कामचारकामवादकामभक्षणादिलक्षणस्वाभाविकप्रवृत्तिरूपाशुद्धिवियोगः **संस्कारो** यथा नित्याग्निहोत्रादिफलं तथा निष्कामेनानुष्ठितसमुच्चयफलं कामाख्याशुद्धिव्यावृत्तिरित्यर्थः। (३.२५)

भावार्थ—साध्य-साधन की कामना मृत्यु है। इस मृत्यु से पार हुए व्यक्ति ब्रह्मविद्या का अधिकारी है। पहले नित्यकर्मरूप अविद्या का आलम्बन लेने से व्यक्ति का अन्तःकरण शुद्ध होता है। कामचार, कामवाद, कामभक्षण आदि स्वाभाविक प्रवृत्ति ही अशुद्धि है। भगवदर्थ निष्कामभाव से स्वकर्मानुष्ठान से अन्तःकरण संस्कृत होता है। फिर ब्रह्मविद्या की उपलब्धि से जीव का परमकल्याण होता है। यह क्रम-समुच्चय है। ज्ञानोत्तर कर्म अकर्म हो जाता है, अतः कर्मोत्तर ज्ञान का अधिकार प्राप्त है।

न च—

[५७]"आत्माज्ञातव्य" इत्येतन्मोक्षार्थं न च चोदितम् ।
कर्मप्रवृत्तिहेतुत्वमात्मज्ञानस्य लक्ष्यते ॥
विज्ञाते चास्य पारार्थ्ये याऽपि नाम फलश्रुतिः ।
साऽर्थवादो भवेदेव न स्वर्गादिः फलान्तरम् ॥"

(श्लोकवार्त्तिके सम्बन्धाक्षेपे परिहारः १०३, १०४)

[५८]इति भट्टपादरीत्या देहव्यतिरिक्तात्मविज्ञानस्य कर्मप्रवृत्त्युपयोगित्वेनाशनायाद्यतीतब्रह्मात्मविज्ञानस्य तच्छेषत्वानुपपत्त्या कर्माधिकारविरोधेऽप्याज्यावेक्षणव्रीहिप्रोक्षणादिवददृष्टद्वारेणोपयोगः, न चाधिकारविरोधः, तथाभूतविदामपि यमनियमादौ प्रवृत्तिवत् कर्मप्रवृत्त्य-

---

माण्डूक्यकारिका के भाष्य में क्रम-समुच्चय कहा है। उसके अनुसार कर्मोपासना के समुच्चय के अनुष्ठानरूप अविद्या से ऐश्वर्यादि की प्राप्ति से अनैश्वर्य, अधर्मादि का अतिक्रमण करके पश्चात् विद्या (ब्रह्मात्मसाक्षात्कार) से मोक्ष को प्राप्त हो जाता है।

शङ्का—**"आत्मा ज्ञातव्यः"**, 'आत्मा को जानना चाहिये' इस श्रुति में मोक्ष के लिये ज्ञान का विधान है, कर्म की प्रवृत्ति का कारणभूत जो आत्मा का ज्ञान, इस वाक्य से विहित नहीं है, ऐसा नहीं मानना चाहिए। इस वाक्य से कर्म की प्रवृत्ति का हेतुभूत ज्ञान बोधन किया गया है। क्योंकि —

---

५७. 'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः' (बृह० २.४.५), 'आत्मान्वेष्टव्यः' (छा० ८.७.३), 'आत्मा विजिज्ञासितव्यः' (छा० ८.७.३), 'आत्मेत्येवोपासीत' (बृह० १.४.७), 'आत्मा विज्ञेयः' (माण्डूक्य ७)

५८. ननु **'आत्मा ज्ञातव्यः'** (श्रुति) इति विवेकज्ञानविधावप्यपुनरावृत्तिर्वाक्यशेषे श्रूयते, अत आह—**"आत्मा ज्ञातव्यः"** । कथम् ? इत्यत आह—**'कर्मप्रवृत्तिहेतुत्वम्'**, विवेकज्ञानस्य पारलौकिकफलेषु ज्योतिष्टोमादिषु प्रवृत्तिरध्ययनस्येव प्रयोजनं इत्यतोऽवेदितं ... ॥१०३॥ निर्ज्ञाते च ज्ञानस्य कर्म-

विरोधात् जनकोद्दालकप्रभृतीनामपि कर्मप्रवृत्तिदर्शनादितिचेन्न. ब्रह्मात्मविज्ञानस्य श्रुतिलिङ्गादिभिः कर्मोपयोगानिरूपणादधिकारविरोधाच्च। तथा हि न ताव[५८] 'दैन्द्रचागार्हपत्यमुपतिष्ठते' (मै०सं० ३.२.४) इतिवदात्मविज्ञानस्य कर्माङ्गत्वे श्रुतिरस्ति।

न च 'यदेव विद्यया करोति श्रद्धयोपनिषदा तदेववीर्यवत्तरमि'ति (छा० १.१.१०) श्रुत्यात्मविद्यायाः कर्माङ्गत्वं सिद्धचति इति वाच्यम्,

---

'विज्ञाते चास्य' इस भट्टपाद की रीति के अनुसार देह से अतिरिक्त आत्मा का ज्ञान कर्म की प्रवृत्ति का उपयोगी है। भोग की इच्छा आदि धर्मों से रहित ब्रह्म से अभिन्नात्मा का ज्ञान, कर्मों का अङ्ग (उपयोगी) सम्भव नहीं। इस प्रकार यद्यपि ब्रह्म से अभिन्न आत्मा के ज्ञान से कर्म के अधिकार का विरोध है तथापि आज्यावेक्षण तथा व्रीहिप्रोक्षण के समान अदृष्ट के द्वारा उस अज्ञान का कर्म में उपयोग है। कर्मके अधिकार से विरोध भी नहीं, क्योंकि ब्रह्मसे अभिन्न आत्मा के ज्ञाताओं की जैसे यम-नियमादिक साधनों में प्रवृत्ति होती है, उसी प्रकार कर्म में प्रवृत्ति से कोई विरोध नहीं। जनक-उद्दालक आदिकों की कर्म में प्रवृत्ति देखी जाने से भी ज्ञान से कर्म के अधिकार से विरोध नहीं।''

---

५८. प्रवृत्तिहेतुतया कर्मफलस्वर्गाद्यर्थत्वे वाक्यशेषस्था फलश्रुतिः पर्णमयीन्यायेनार्थवादमात्रं स्यात्, न फलान्तरमलं बोधयितुमित्याह—**'विज्ञाते चास्य'**, उपासनात्मकस्य तु ज्ञानस्य कर्मणि पुरुषे च दृष्टप्रयोजनाभावाददृष्टापेक्षायां श्रुत्याद्यभावेन क्रत्वर्थत्वाभावाद्वाक्यशेषोपनीताभ्युदयनिःश्रेयसफलतया रात्रिसत्रवत् पुरुषार्थत्वमेवेति **व्याकरणाधिकरणे** वक्ष्यतीति।

५९. **'ऐन्द्रचा गार्हपत्यमुपतिष्ठते'** (सत्या.श्रौ.सू.) इति प्रत्यक्षश्रुत्यास्या ऋचो गार्हपत्योपस्थाने विनियोगस्य कृतत्वात्प्रत्यक्षश्रुतेश्चानुमित **(ऐन्द्रचेन्द्रमुपतिष्ठते)** श्रुत्यपेक्षया बलवत्त्वाद् गार्हपत्योपस्थाने विनियोगो भवति। तत्र ऐन्द्रचेति तृतीया गार्हपत्यमिति द्वितीया च विनियोक्त्री श्रुतिः। तृतीययैन्द्रचा ऋच उपास्थानाङ्गत्वं प्रतिपाद्यते। द्वितीयया च गार्हपत्यस्योपस्थानाङ्गित्वं प्रतिपाद्यते।

तस्याः प्रकृतोद्गीथविद्याविषयत्वेनात्मज्ञाने तदप्रवृत्तेः। न च श्रद्धावत्सार्वत्रिकं किन्नस्यादिति वाच्यम्, उपासनाप्रकरणपठितत्वेनोपासनात्मिकाया विद्याया एव कर्माङ्गत्वोपपत्तेः। "बर्हिर्देवसदनं दामि" (मै० सं० १.१.३) इतिवत् श्रुतिसामर्थ्यलक्षणेन लिङ्गेनापि नात्मज्ञानस्य कर्माङ्गत्वं सिद्ध्यति तथा लिङ्गानुपलब्धेः।

न चोद्दालकादीनां कर्मणा सहात्मविज्ञानसद्भावे लिङ्गम् "किं प्रजया करिष्यामः" (बृह० ४.४.२२), "किमर्थं वयमध्येष्यामहे" इति वैपरीत्यस्यापि दर्शनात्।

उत्तर—यदि ऐसा कोई कहे तो यह उचित नहीं; 'क्योंकि श्रुति तथा लिङ्गादिक विनियोजक प्रमाणों के द्वारा ब्रह्मात्मज्ञान का कर्म में उपयोग का निरूपण नहीं किया गया है। ज्ञानका कर्म के अधिकार के साथ विरोध भी है। "इन्द्रदेवताक ऋचा से गार्हपत्य अग्नि की स्तुति करे" इस तृतीया श्रुति से ऐन्द्री ऋचा को गार्हपत्य अग्नि की स्तुति में उपयोग बताया है, उस प्रकार ब्रह्म से अभिन्न आत्मा के ज्ञान को कर्म का अङ्ग कहनेवाली कोई श्रुति नहीं है।

"**यदेवविद्यया**" इस श्रुति से आत्मज्ञान, कर्म का अङ्ग सिद्ध होता है", ऐसा कहना उचित नहीं है; क्योंकि इस श्रुति का विषय तो उद्गीथविद्या है, यह आत्मज्ञान के वर्णन में प्रवृत्त नहीं है। "श्रुति में कही श्रद्धा का जैसे सर्वकर्मों में उपयोग है, विद्या का भी सर्व कर्मों में उपयोग क्यों न मान लिया जाय ?" ऐसा कथन भी उपयुक्त नहीं। उक्त श्रुति उपासना के प्रकरण में पठित है, उपासनारूप विद्या को ही सर्वकर्मों की अङ्गता (साधनता) संभव है, आत्मविद्या को नहीं। "**बर्हिर्देवसदनं**" श्रुतिगम्य अपने अर्थ प्रकाशनसामर्थ्यरूपलिङ्ग के सदृश किसी लिङ्ग से भी आत्मज्ञान को कर्म की अङ्गता (साधनता) सिद्ध होती नहीं। क्योंकि उस प्रकार का कोई लिङ्ग उपलब्ध नहीं।

"उद्दालकादिकों के कर्म के साथ आत्मज्ञान का सद्भाव, कर्म तथा ज्ञान के समुच्चय में लिङ्ग है।" यह कहना उचित नहीं; क्योंकि "हम प्रजा से क्या करेंगे अर्थात् हमें क्या प्रयोजन", "हमको अध्ययन से क्या प्रयोजन" ऋषियों का यह भी निश्चय देखा जाता है। जिससे

न च "यस्य पर्णमयी जुहुर्भवति" (तै० सं० ३.५.७) इतिवद्वाक्याद्विनियोगः, पर्णमयीत्ववदात्मनोऽव्यभिचरितक्रतुसम्बन्धाभावात्तस्य लौकिकवैदिकसर्वकर्मसाधारण्यात् ।

न चात्मज्ञानं कर्मप्रकरणे श्रुतं येन प्रयाजादिवत् कर्माङ्गतामश्नुवीत, नापि स्थानक्रमसन्निधानपठ्यमानत्वात् । नापि समाख्या संज्ञासाम्याभावात् । न चात्मज्ञानस्यकर्मण्युपकारप्रकारो निरूप्यते । देहव्यक्तिरिक्तात्मज्ञानस्योपयोगेऽपि अशनायाद्यतीताकर्त्रभोक्तृनानात्मकब्रह्मात्मविज्ञानस्य तत्रानुपकारित्वात् । नाप्याज्यावेक्षणादिवददृष्टद्वारेण तादृशात्मज्ञानस्य कर्मण्युपयोगः स्वप्रकरणपठितसंसारनिवृत्तिलक्षणदृष्टफलनिराकाङ्क्षस्यादृष्टफलकल्पनाऽनुपपत्तेः, संभवति दृष्टफलकत्वे सत्यदृष्टफलकल्पनस्यान्याय्यत्वात् ।

सिद्ध होता है कि स्त्री-पुत्र-धन-अध्ययन आदिकों से विरक्त ऋषियों के कर्म का ज्ञान के साथ सद्भाव ही संभव नहीं ।

"यस्य पर्णमयी" इस श्रुति-वाक्य से पर्णमयी जुहु का यज्ञ में सम्बन्ध है, उसी प्रकार वाक्य से भी आत्मज्ञान का कर्म के साथ सम्बन्ध संभव है" ऐसा भी नहीं; क्योंकि पर्णमयी जुहु का जैसा यज्ञ के साथ अव्यभिचरित सम्बन्ध है, वैसा आत्मा का अव्यभिचरित सम्बन्ध यज्ञ के साथ नहीं, आत्मा का सम्बन्ध तो लौकिक कर्मों के साथ भी है ।

शास्त्र में कर्म के प्रकरण में आत्मज्ञान का श्रवण नहीं, जिससे कि यह कहा जा सके कि प्रयाजादि के समान, आत्मज्ञान भी कर्म का अङ्ग है । समाख्या भी कर्म तथा ज्ञान का विनियोजक नहीं; क्यों कि कर्म तथा ज्ञान की संज्ञा समान नहीं है । न आत्मज्ञान का कर्म में उपकार के प्रकार का ही निरूपण है । देह से अतिरिक्त आत्मा के ज्ञान का कर्म में उपयोग होने पर भी भूख-प्यास से अतीत अकर्ता, अभोक्ता भेदरहित ब्रह्मस्वरूप आत्मा के ज्ञान का कर्म में कोई उपकार नहीं । आज्यावेक्षणादि के समान अदृष्ट के द्वारा भी ब्रह्म से अभिन्न आत्मा के ज्ञान का कर्म में कोई उपकार नहीं । आत्मज्ञान के प्रकरण में पठित जो संसार उसकी निवृत्तिरूप फल से फल की आकांक्षा से

क्रियाकारकफलशून्यमद्वैतमात्मानं[६०]पश्यतः कर्मणि प्रवृत्त्यसंभवात् च। न च यमनियमादिवत्तदविरोधः तत्राप्यपरोक्षज्ञानवद् विधितः प्रवृत्त्यनङ्गीकारात्। 'तस्य कार्यं न विद्यते' इति (३.१७) गीतोक्तेः, 'ज्ञानामृतेन तृप्तस्य कृतकृत्यस्य योगिनः। नैवास्ति किञ्चित्कर्तव्यमस्तिचेन्न स तत्त्ववित्' (१.२३) इति जाबालदर्शनोपनिषद्वचनात्। न च भिक्षाटनादाविव तत्र प्रवृत्तिस्तत्र प्रवृत्तेः प्रारब्धमूलकत्वात्। न च कर्मणि तथा प्रवृत्तिः, तस्य नियतदेशकालतया विधानात्।

ननु भवतुब्रह्मविद्याया कैवल्यसाधनता तथापि कर्मसमुच्चितायाः एव न केवलाया इति चेन्न, विरोधादेव द्वेधापि समुच्चयः संभवति, समप्राधान्येन षड्यागवद् गुणप्राधान्येन वा प्रयाजदर्शपूर्णमासवत्,

---

रहित आत्मज्ञान के अदृष्ट फल की कल्पना ही संभव नहीं। क्योंकि दृष्ट फल संभव होने पर अदृष्ट फल की कल्पना उचित नहीं।

क्रिया-कारक-फल से शून्य अद्वितीय आत्मा के ज्ञाता की कर्म में प्रवृत्ति ही असंभव है। 'यम-नियम में प्रवृत्ति के समान कर्म में भी प्रवृत्ति संभव है', यह कहना भी उचित नहीं; क्योंकि अपरोक्ष ज्ञान सम्पन्न विद्वान् की यम-नियमादिकों में भी विधि से प्रवृत्ति स्वीकृत नहीं। क्योंकि गीता विद्वान् के लिये किसी भी कर्तव्य का निषेध करती है। "ज्ञानामृतेन" इस जावालदर्शनोपनिषद् के वचन से भी ज्ञानी के लिये कर्तव्य का निषेध किया है। "भिक्षाटनादिकों में प्रवृत्ति के समान यज्ञादिककर्मों में प्रवृत्ति संभव है" यह कथन भी उचित नहीं; क्योंकि भिक्षाटन में प्रवृत्ति का हेतु प्रारब्ध है। कर्म में प्रवृत्ति प्रारब्ध से नहीं होती; यज्ञादिककर्म का तो देशविशेष तथा कालविशेष में ही विधान होता है।

"ब्रह्मविद्या को मोक्ष की साधनता भले ही रहे, तथापि कर्म से युक्त ब्रह्मविद्या ही मोक्ष का साधन है, केवल नहीं" यदि ऐसा कहा जाय तो उचित नहीं; क्योंकि विरोध होनेसे दोनों प्रकार का समुच्चय

---

६०. "यच्चाप्नोति यदादत्ते यच्चात्ति विषयानिह।
यच्चास्य संततो भावस्तस्मादात्मेति कीर्त्यते॥"
(लिङ्ग० १.७०.९६)

तत्रापि ज्ञानं गुणःकर्मप्रधानमिति वा,विपरीतं वा,'तमेतमात्मानंब्राह्मणाः विविदिषन्ति'(बृह० ४.४.२२)इति साध्यसाधनभावावगमान्न समुच्चयः। गुणप्रधानपक्षेऽपि परम्परया ज्ञानम्प्रति कर्मणां गुणभावोऽभ्युपगत एव। यत्तु कर्म प्रधानं ज्ञानं गुण इति तदपि यत्किञ्चित्, स्वरूपविरोधात् तदुक्तं वार्तिककृता —

"यद्धि यस्यानुरोधेन स्वभावमनुवर्तते ।
तत्तस्य गुणभूतं स्यान्न प्रधानाद्गुणो यतः ॥"

(बृह० वार्तिक ३.३.६८)

प्रधानात् प्रधानमस्तीति तथोक्तः। यत्कर्मप्रवृत्तिविघातकं ज्ञानं तत्कर्मप्रतिगुणो न भवति। विभिन्नविरुद्धफलत्वाच्च न गुणगुणीभावः। किञ्चोत्पत्त्याप्तिसंस्कृतिविकृतयः कर्मणः फलम्। विद्याया अविद्या-

---

सम्भव नहीं। समानप्रधानरूप से षड्याग, अथवा गुणप्रधानरूप से प्रयाज तथा दर्शपूर्णमास के समुच्चय के समान समुच्चय संभव नहीं। समुच्चय में ज्ञान गौण व कर्म प्रधान अथवा कर्म गौण ज्ञान प्रधान रहे, दोनों ही प्रकार से समुच्चय संभव नहीं; क्योंकि "तमेतं" इस श्रुति से ज्ञान तथा कर्म में साध्य (कार्य)–साधन (कारण)–भाव का निश्चय होने से समुच्चय संभव नहीं। गुण–प्रधानपक्ष में भी परम्परा से ज्ञान के प्रति कर्म का गुणभाव स्वीकृत है ही। "कर्म प्रधान है, ज्ञान गौण है", यह कथन तो कुछ नहीं, क्योंकि दोनों के स्वरूप में विरोध है। यह बात वार्तिककार ने भी कही है।

जो ज्ञान कर्म की प्रवृत्ति का विघातक है वह ज्ञान कर्म के प्रति गौण (कर्म का अनुसारी) नहीं होता है। भिन्न-भिन्न विरुद्ध फलवाले होने से भी इन दोनोंमें गुण-गुणीभाव नहीं है। उत्पत्ति, प्राप्ति संस्कृति (संस्कार) तथा विकार ये कर्म के फल हैं। अविद्या की सर्वथा निवृत्ति (ज्ञातत्व से उपलक्षित आत्मा) विद्या का फल है। ऐसी दशा में अर्थात् ज्ञान तथा कर्म के परस्पर विरुद्ध फल होने पर दोनों का सहभाव कैसे संभव है? शुक्तिखण्ड को देखनेवाले मनुष्य की रजत–भ्रम निवृत्ति, स्नान आदि किसी कर्म की अपेक्षा करके विलम्ब नहीं करती। भाव यह है कि शुक्तिखण्ड के ज्ञात होते ही

ऽस्तमयरूपत्वात् कुतः साहित्यसंभवः, न हि शुक्तिकाशकलं सकलमाकलयतः रूप्यभ्रमनिवृत्तिः स्नानाचमनादिकर्मापेक्षया विलम्बते। तदेवं लौकिकेन न्यायेन ब्रह्मसाक्षात्कार एव तदविद्यानिवृत्तिरिति मन्तव्यम्", "तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय" (श्वेता० ३.८), "न कर्मणा न प्रजया धनेन" (नारायणो० १.५), "नास्त्यकृतः कृतेन", (मुण्डक १.२.१२), [६१]"ज्ञानादेव तु कैवल्यं प्राप्यते येन मुच्यते"।

"कर्मणा वध्यते जन्तुर्विद्यया च विमुच्यते ।
तस्मात्कर्म न कुर्वन्ति यतयः पारदर्शिनः ॥"
(संन्यासोपनिषत् ९८, शान्तिपर्व २४१.७)

न त्वेतानि वचनानि केवलानां कर्मणां कैवल्यसाधनत्वनिराकरणपराणि, न समुच्चितानामिति तत एवान्धंतमः प्रविशन्ति इत्येकैकनिन्दापुरस्सरं 'विद्यां चाविद्यां च यस्तद्वेदोभय ँ्सह। अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययाऽमृतमश्नुते ॥' इति ज्ञानकर्मणोः समुच्चितयोरेव मोक्षसाधनत्वप्रतिपादनम्। संसारनिवृत्तिर्ब्रह्मप्राप्तिश्च मुक्तिः। तत्र विद्येतरत्वेनाविद्यामूलत्वेन वा अविद्यापदवाच्यानां कर्मणां मृत्युपदवेद-

---

रूप्यभ्रम की निवृत्ति हो जाती है, किसी कर्म की अपेक्षा नहीं करती, जिससे कि शुक्ति के ज्ञान होने पर कुछ विलम्ब हो। इस लौकिक युक्ति के अनुसार 'ब्रह्म साक्षात्कार ही ब्रह्म विषयक अज्ञान की निवृत्ति है,' ऐसा मानना चाहिये। **"तमेव विदित्वा"**, **"न कर्मणा"**, **"नास्त्यकृतः"**, **"ज्ञानादेव तु"**, **"तस्मात्कर्म न"** इत्यादिक वाक्य, केवलकर्मों की मोक्षसाधनता के निराकरण में तात्पर्यवाले हैं, ज्ञान से समुच्चित कर्मों की मोक्षसाधनता के निवारण में तात्पर्यवाले नहीं हैं। इसलिये ही **'अन्धं तमः'** इस श्रुति से एक-एक (पृथक्-पृथक्) ज्ञान तथा कर्म की निन्दा पूर्वक, **'विद्यां चाविद्यां च'** इस वाक्य से समुच्चित ज्ञानकर्म को मोक्ष का साधन कहा गया है। 'संसार की निवृत्तिपूर्वक ब्रह्मप्राप्ति मोक्ष है'। विद्या से भिन्न होने अथवा अविद्या मूलक होने

---

६१. पञ्चदशी रामकृष्णटीका में उद्धृत ९.९७

नीयकर्मक्षयद्वारेणसंसारनिवृत्तावुपयोगः। ब्रह्मत्वमात्मरूपतया नित्यप्राप्तमविद्यामात्र तिरोहितं कण्ठगतचामीकरवत्। न तत्राविद्यानिवृत्तेरधिकं कर्तव्यमस्ति, इत्यविद्यानिवृत्तौ विद्याया उपयोगः।

यच्च 'विद्याशब्देन देवताज्ञानं विवक्षित्वा तस्य कर्मणा समुच्चयोऽनेन मन्त्रेण', तन्न युक्तम्, प्रक्रमाऽननुगुणत्वात्, 'ईशावास्यमिति' परमात्मनः प्रक्रान्तत्वात्।

ननु

६२"सत्येन लभ्यस्तपसा ह्येष आत्मा सम्यग्ज्ञानेन ब्रह्मचर्येण नित्यम्।
अन्तःशरीरे ज्योतिर्मयो हि शुभ्रो यं पश्यन्ति यतयः क्षीणदोषाः॥"
(मुण्डकोपनिषत् ३.१.५)

से 'अविद्या' पद के वाच्य कर्मों का मृत्युपद से जाननेयोग्य जो कर्म उसके क्षय (विनाश) द्वारा संसार की निवृत्ति में उपयोग है। ब्रह्मत्व तो आत्मरूप है, अतः नित्यप्राप्त है। कण्ठ के भूषण के समान अविद्या मात्र से आवृत है। ब्रह्म की प्राप्ति में अविद्या की निवृत्ति से अतिरिक्त और कुछ कर्तव्य नहीं है, इसलिये अविद्या की निवृत्ति में विद्या का उपयोग है।

शङ्का—"जो ऐसा कहा है कि विद्या शब्द से देवोपासना की विवक्षा करके देवोपासना का कर्म के साथ समुच्चय, इस मन्त्र से वर्णित है। यह कथन उचित नहीं; क्योंकि यह कथन उपक्रम के अनुसार नहीं है। **'ईशावास्यं'** इस वाक्य से परमात्मा का ही यहाँ उपक्रम (प्रारम्भ) है। **"तपो विद्या च"** इत्यादिक स्मृतियाँ समुच्चय

---

६२. अत्र सम्यग्ज्ञानशब्देन वस्तुविषयावगतिफलावसानं वाक्यार्थज्ञानमुच्यते। अवगतिफलस्य स्वकार्येऽविद्यानिवृत्तौ सहकार्यपेक्षासंभवात्। अतोऽपरिपक्वज्ञानस्य सत्यादीनां च परिपक्वविद्यालाभाय समुच्चय इष्यत एव। नैतावता भास्कराभिमतसिद्धिः, परिपक्वविद्यायाः सहकार्यपेक्षायां मानाभावात्। ततः कर्मासंश्लेषश्रवणाद् यादीनां कर्मविलीनानां मुक्तिश्रवणाच्चेति।

स्पष्टमेव श्रुतिः समुच्चयं प्रतिपादयति। स्मृतिश्च—

"तपो विद्या च विप्रस्य निःश्रेयस्करं परम्।
तपसा कल्मषं हन्ति विद्ययाऽमृतमश्नुते॥"

(मनु० १२·१०४)

"तत्प्राप्तिहेतु ज्ञानं च कर्म चोक्तं महामुने।
यथाऽन्नं मधुसंयुक्तं मधु चान्नेन संयुतम्॥
एवं तपश्च विद्या च संयुक्तं मोक्षसाधनम्।"

(भवसंतरणोपनिषत् १·३२,३३)

तेन वाचनिकसमुच्चयानुसारेण कर्मनिन्दापराणां वाक्यानां केवलकर्मविषयतैव। न च ज्ञानस्यैव साक्षान्मोक्षसाधनत्वं कर्मणां तु पापापाकरणद्वारेण साधनत्वमिति व्यवस्था युक्ता। न च "कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः" **(गीता ३·२०) इत्यादेस्तु** 'लाङ्गलेनवयं जीवामहे' **इतिवत्पारम्पर्येणापि तत्साधनत्वोपपत्तेः। साक्षान्मोक्ष-साधनत्वेन प्राप्तस्य कर्मणः साधनत्वग्रहणे प्राप्तान्वयबाधप्रसङ्गात्।** 'नान्यः पन्थाः' **इत्यादेस्तु केवलकर्मविषयतया निषेधो नेयः।"**

इति चेदत्रोच्यते—यतो हि 'तमेतमात्मानं वेदानुवचनेने'

का प्रतिपादन करती हैं। अतः श्रुति तथा स्मृतिवचन से कथित समुच्चय के अनुसार होने से कर्म की निन्दा करनेवाले वाक्य केवल कर्म की निन्दा करते हैं, ऐसा मानना चाहिये। 'ज्ञान को ही साक्षात् मोक्ष की साधनता है, कर्मोंको पाप की निवृत्ति द्वारा मोक्षकी साधनता है', यह व्यवस्था भी उचित नहीं। 'कर्म से ही जनकादिक मोक्ष को प्राप्त हुए हैं, गीता के इस वचनानुसार कर्म से मोक्ष सिद्ध होता है। इस वाक्य का तात्पर्य यही संभव है कि कर्म परम्परा से मोक्ष का साधन है, साक्षात् नहीं,' ऐसा कथन भी उचित नहीं; ऐसा मानने पर तो साक्षात् मोक्ष के साधनरूप से—निर्दिष्ट कर्म की साधनता के ग्रहण में प्राप्त संवन्ध के बाध का प्रसंग हो जायेगा। अतः **'नान्यः पन्था'** इस श्रुति से जो ज्ञान से अन्य साधन का निषेध किया है, वह केवल कर्म विषयक है, ऐसा मानना चाहिये।"

(बृहदारण्यक उ० ४.४.२२) ति तृतीयाश्रुत्यैव यागादेः विधेयविज्ञान-कारणत्वेन प्रतिपादनं दृश्यते, कर्मणां यागादीनां फलोपकार्यङ्गत्वकल्पने श्रुतिबाधप्रसंगात् । न च प्रकरणप्रमाणेन प्रयाजानुयाजादिवद्गृह्यमाण-विशेषतयेति कर्तव्यतात्वमेव यज्ञादीनां शमादिवदितिवाच्यम् । प्रकरणस्य सामान्यतः शेषत्वबोधनेऽपि गतार्थत्वात्, तद्विशेषं प्रतिश्रुत्यादीनामेव प्रमाणत्वात् । तस्मात् 'व्रीहिभिर्यजेत' इत्यादाविव करणशरीरनिर्व-र्तकतया यज्ञादीनां करणत्वम् 'यज्ञेने' (बृ० ४.४.२२) ति तृतीयाश्रुत्या निश्चीयते । यज्ञादिभिरुपकृत्येति व्याख्याने साध्याहारयोजना प्रसंगात् ।

न यज्ञादीनां श्रवणादिवत्साक्षाद्विज्ञानसाधनत्वाभावात् करण-त्वानुपपत्तिः, परम्परासाधनेष्वपि लोके वेदेऽपि करणत्वाभ्युपगमात्, ज्वालाव्यवधानेनैव काष्ठानां पाके करणत्वाभ्युपगमादपूर्वव्यवधानेन

समाधान—यदि ऐसा कहा जाय तो उत्तर कहते हैं कि क्योंकि "**तमेतमात्मानं**" इस श्रुति के द्वारा यागादिक कर्म, विधेय-विज्ञान के कारण हैं, ऐसा प्रतिपादन देखा जाता है । अतः यागादिक कर्मों को विज्ञान के फलभूत मोक्ष के प्रति साधन की कल्पना करने पर, ज्ञान के प्रति कर्मों को साधन बतानेवाली, उपर्युक्त श्रुति के बाध का प्रसंग होने से ज्ञान-कर्मका समुच्चय संभव नहीं । 'प्रकरणरूप प्रमाण से प्रयाज –अनुयाज जैसे याग के प्रति इति कर्तव्यतारूप हैं, उसी प्रकार शमादि के समान यज्ञादि कर्मों को ज्ञान के प्रति इतिकर्तव्यता है', ऐसा कहना भी उचित नहीं; क्योंकि प्रकरणरूपप्रमाण से सामान्यरूप से साधनता बोधन करदेने पर भी चरितार्थ हो जाने से साधन विशेष के प्रति तो श्रुति आदिक ही प्रमाण होते हैं । यज्ञ के प्रकरण में पठित **'व्रीहि से यज्ञ करे'** इस श्रुति में यज्ञ के प्रति कारणता प्रतीत होने पर भी यज्ञ के साधन पुरोडाश का ही साधक है न कि साक्षात् यज्ञ का । इसी प्रकार मोक्ष के प्रकरण में पठित कर्म **'यज्ञेन'** इस श्रुति से ज्ञान के प्रति ही साधन बताए हैं, मोक्ष के प्रति नहीं । 'यज्ञादिकों से उपकृत विद्या मोक्ष को प्राप्त होती है' ऐसा व्याख्यान करने पर भी अध्याहार करके योजना का प्रसंग होगा; अतः यह व्याख्यान भी उचित नहीं ।

'श्रवणादि के समान साक्षात् ज्ञान के प्रति साधन न होने से ज्ञान के प्रति यज्ञादि की करणता संभव नहीं' ऐसा कहना भी उचित

यागस्य स्वर्गसाधनत्वाभ्युपगमाच्च । तद्वदिहापि परिपन्थिदुरितशोधन-व्यवधानेन यज्ञादेः ज्ञानकरणताया बाधाऽयोगात् ।

तदेवं तृतीया श्रुत्या यज्ञादेर्विज्ञानकरणात्वाभ्युपगतौ सर्वाण्यपि समुच्चयवचनानि परम्परासमुच्चयप्रतिपादनपराण्येवेति मन्तव्यम्; श्रुत्यपेक्षया वाक्यस्य दुर्बलत्वात् ।

यच्च केवलविद्यायाः साधनत्वे 'ततो भूय' इति तन्निन्दा नोपपद्यते, विधित्सितस्य निन्दायोगात्, तन्न निन्दाया देवताज्ञानविषयत्वे-नोपपत्तेः । न च तथात्वे प्रक्रमविरोधः, बलीयसा तृतीयाश्रुत्या प्रक्रमस्य बाध्यत्वात् । अस्तु वा परमात्मविद्यैवोपक्रमानुसारेण, तथापि न विरोधः, उपायोपेयभावेन क्रमसमुच्चयोपपत्तेः । समुच्चयवचनानां

नहीं; क्योंकि लोक तथा वेद में परम्परा से साधन के प्रति भी करणता स्वीकार की गई है । जैसे लोक में काष्ठों को अग्नि की ज्वाला का व्यवधान होने पर भी पाक के प्रति करण स्वीकार किया गया है तथा वेद में अपूर्व के व्यवधान होने से भी यज्ञ को स्वर्ग के प्रति करण स्वीकार किया गया है; उसी प्रकार ज्ञान के प्रतिबन्धक पापरूपमल की निवृत्ति द्वारा यज्ञादिकों की ज्ञान के प्रति कारणता का बाध भी अनुचित है ।

इस प्रकार **'यज्ञेन'** इस तृतीया श्रुति से यज्ञादिककर्मों को ज्ञान के प्रति करण स्वीकार करलेने पर सर्वसमुच्चयप्रतिपादक वाक्य, परम्परा से समुच्चय के प्रतिपादन में ही तात्पर्यवाले हैं, ऐसा मानना चाहिये । **'यज्ञेन'** इस श्रुति की अपेक्षा वाक्य दुर्बल है; अतः परम्परा से समुच्चय ही उचित है ।

'यदि केवल विद्या ही मोक्ष का साधन है तो अविद्या के अनुष्ठाता से भी अधिक विद्या के अनुष्ठाता को गाढ़ तम मिलता है, ऐसी विद्या की निन्दा संभव नहीं । क्योंकि विधान करने को इष्ट साधन की निन्दा करना अनुचित है ।' यह शङ्का भी उचित नहीं; क्योंकि निन्दा ब्रह्मविद्याकी नहीं, अपि तु देवताविज्ञान(विद्या)की है । यदि ऐसा कहा जाए कि 'देवता विज्ञान की निन्दा स्वीकार करने पर प्रकरण का विरोध होगा ।' यह भी उचित नहीं, क्योंकि प्रकरण से

क्रमसमुच्चयविषयत्वेनाप्युपपत्तिसम्भवात् 'अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययाऽमृतमश्नुते' इति पौर्वापर्याभिधानाच्च ।

ननु परम्परापक्षे 'सह वेदे'ति फलं प्रति साहित्यमनुपपन्नमिति-चेन्न, फलम्प्रति साहित्याभावेऽप्युपायत्वज्ञान एव सहभावस्य विवक्षित-त्वात् ।

ननु प्रकृतानुरोधेन परमात्मविद्याकर्मणोः परम्परया समुच्चय-स्वीकारे साक्षान्मोक्षसाधनभूतकेवलविद्यानिन्दा कथमुपपद्यत इति चेन्न, अपरिपक्वविद्याया एव निन्दाभ्युपगमात् । अन्तःकरणशुद्धेः प्रागेवादृढा-पातज्ञानोदयमात्र एव कृतार्थम्मन्या ये विहितानि चित्तशोधकानि कर्माणि त्यजन्ति त उभयभ्रष्टाः समुपचितदुरितनिचयाश्चात्यन्तमधः पततीति । तथा च विद्यां परिपक्वात्मज्ञानलक्षणां,अविद्यां च कर्मलक्षणां,

---

बलवती श्रुति से उसका बाध हो जाता है । अथवा **'ईशा वास्यम्'** इस प्रारम्भ (प्रकरण) के अनुसार ब्रह्मविद्या ही विद्या शब्द का अर्थ मान लेने पर भी कोई विरोध नहीं; क्योंकि साधन और साध्य रूप से भी ज्ञान तथा कर्म का क्रम-समुच्चय संभव है । क्योंकि समुच्चयबोधक वाक्यों को क्रम-समुच्चय विषयक मानने से भी चरितार्थता संभव है । 'अविद्या से मृत्यु को तर कर विद्या से अमृत को प्राप्त हो जाता है' इस श्रुति में पूर्वापरता का कथन होने से भी क्रम-समुच्चय ही संभव है ।

'परम्परा (क्रम-समुच्चय) पक्ष में **'सह वेद'** इस श्रुति से फल (मोक्ष) के प्रति कर्म तथा ज्ञान का साहित्य का वर्णन, असिद्ध हो जायगा ।' यदि ऐसा कहा जाए तो उचित नहीं, क्योंकि मोक्षभूत फल के प्रति कर्म का साहित्य न होने पर भी उपायभूत ज्ञान में ही साहित्य विवक्षित है ।

शङ्का–**'ईशा वास्यं'** इस उपक्रम (प्रारम्भ)के अनुसार परमात्म-विद्या तथा कर्म का परम्परासे समुच्चय स्वीकार करलेने पर साक्षात् मोक्ष के साधनरूप केवल परमात्मविद्या की निन्दा कैसे बन सकती है ?

यः सह–उपायोपेयभावेन वेद सोऽधिकृतः पुरुषोऽविद्यया कर्मलक्षणया विद्योत्पत्तिप्रतिबन्धकं मृत्युपदवेदनीयं पापं तीर्त्वा विद्यया परिपक्वात्मसाक्षात्कारलक्षणया अमृतं निर्वाणमश्नुते प्राप्नोतीति। तस्मादाविद्यापरिपाकात् यथा स्वं कर्मानुष्ठेयम्। विद्या तु परिपक्वा कर्मनिरपेक्षैव मोक्षं साधयिष्यतीति।

समुच्चयवादिनाऽपि तावत्काम्यकर्मणां समुच्चयः स्वीकर्तुं युक्तः तस्य मुमुक्षुणा परित्यागात्। नापि नित्यनैमित्तिकैस्तत्तदाश्रमविहितानामुत्कर्षापकर्षत्वेन कर्मभूयस्त्वात् फलभूयस्त्वन्यायेन कैवल्यफले

उत्तर—ऐसा नहीं, क्योंकि निन्दास्थल में अदृढ़ ब्रह्मविद्या की ही निन्दा स्वीकार की गयी है। अन्तःकरण की शुद्धि से पहिले ही अदृढ आपात (अविचारित)रमणीय ब्रह्मज्ञान के उदयमात्र में ही अपने को कृतार्थ माननेवाले जो पुरुष चित्त को शुद्ध करनेवाले कर्मों को त्याग देते हैं, वे उभयभ्रष्ट भली प्रकार से वृद्धि को प्राप्त पाप से युक्त पुरुष अत्यन्त अधःपतन को प्राप्त होते हैं। पूर्वोक्तशंकाओं के निवृत्त हो जाने पर यह अर्थ सिद्ध होता है कि दृढ़ आत्मज्ञानरूप विद्या तथा कर्मरूप अविद्या को जो अधिकारी साधन-साध्य-भाव से साथ जानता है, वह अधिकारी पुरुष कर्मरूप अविद्या से विद्या की उत्पत्ति के प्रतिबन्धक मृत्युशब्द से कहे जाने योग्य पाप को तर (निवृत्तकर) के दृढ़ अपरोक्ष आत्मा के ज्ञानरूप विद्या से मोक्ष को प्राप्त हो जाता है। इसलिये विद्या की परिपक्वता की योग्यतापर्यन्त कर्म अनुष्ठान करने के योग्य है। परिपक्व=दृढअपरोक्ष विद्या कर्म की अपेक्षा (सहायता) के बिना ही मोक्ष को सिद्ध कर देगी।

दृढ़ अपरोक्ष विद्या की योग्यता (मुमुक्षुता) पर्यन्त ही समुच्चयवादी के द्वारा काम्यकर्मों का समुच्चय स्वीकार करना चाहिये। क्योंकि मुमुक्षु काम्यकर्मों का परित्याग कर देता है।

शंका—नित्य-नैमित्तिक कर्मों के सहित सर्व आश्रमों के लिये विधान किये कर्मों का उत्कर्ष-अपकर्ष होता है, अतः "कर्मभूयस्त्वेन" इस न्याय के अनुसार अर्थात् 'कर्म के अधिक होने से फल के अधिक होने' के नियमानुसार मोक्षरूप फल में वे दोनों प्रकार के कर्म भी स्वीकार के योग्य हैं।

तावप्यभ्युपेयौ स्याताम्, स्वर्गवदपवर्गस्यापि सातिशयत्वेनानित्यादि-दोषप्रसंगात् । तस्माज्ज्ञानमेव कैवल्यसाधनमित्यकामेनाप्यभ्युपेतव्यम् 'सत्येन लभ्य' इत्यत्रापि सत्यादीनां ज्ञानसाधनत्वमेव विविदिषावाक्ये यज्ञादीनां विज्ञानसाधनत्वस्यावधृतत्वात् । 'तेनैति ब्रह्मवित् पुण्यकृत्तैज-सश्च' (बृह० ४.४.९) इतिब्रह्मवित्पुण्यकृतोश्च मार्गे समुच्चयः, मार्गश्च ब्रह्मगोचरः । नेयं श्रुतिः परब्रह्मविषया 'तेनैति' गच्छतीति मार्गे समुच्चयश्रवणात् । परब्रह्मणि गत्यानर्थक्यात् असंभवाच्च । न च विगलितनिखिलस्थूलसूक्ष्मोपाधिजालस्य व्योमवत्सर्वगतस्यात्मनो गमनं सम्भवति ।

दयानन्दः—"ये मनुष्याः ? अविद्यां—'अनित्याशुचिदुःखानात्मसु नित्यशुचिसुखात्मख्यातिरविद्ये'ति (यो० द० २.५) ज्ञानादिगुणरहितं

उत्तर—ऐसा नहीं; क्योंकि मोक्ष का साधन कर्मों को मानने पर कर्म से प्राप्त स्वर्ग के समान मोक्ष को भी सातिशय होने से अनि-त्यता के दोष का प्रसंग हो जायगा । इसलिये 'केवल ज्ञान ही मोक्ष का साधन है' ऐसा न चाहने वाले को भी स्वीकार करना ही पड़ेगा । अन्यथा मोक्ष अनित्य मानना पड़ेगा, जो कि उचित नहीं । **'सत्येन लभ्यः'** इस वाक्य में भी सत्यादि साधन ज्ञान के ही साधन हैं, न कि मोक्ष के; क्योंकि विविदिषावाक्य में यज्ञादिकर्मों को विज्ञान (ब्रह्म-ज्ञान) का साधन निश्चित किया है ।

शङ्का—**'तेनैति'** इस श्रुति के अनुसार तो ब्रह्मवेत्ता तथा पुण्य-कर्ता का मार्ग में समुच्चय है, मार्ग भी ब्रह्म की प्राप्ति का है । अतः ब्रह्म की प्राप्ति में ज्ञान तथा कर्म का समुच्चय ही सिद्ध होता है ।

उत्तर—**'तेनैति'**— यह श्रुति परब्रह्म की प्राप्ति को कहनेवाली नहीं है, क्योंकि मार्ग में समुच्चय का श्रवण है । परब्रह्म की प्राप्ति में तो गमन ही अनर्थक है, ब्रह्ममें गति मानने पर परब्रह्म परिच्छिन्न तथा अनित्य हो जायगा तथा व्यापक मानने पर गमन ही असंभव है । समस्त स्थूल तथा सूक्ष्म उपाधियों से रहित आकाश के समान व्यापक आत्मभूत परमात्मा का गमन संभव नहीं ।

दयानन्दभाष्य—"जो मनुष्य अनित्य, अपवित्र, दुःख तथा

वस्तु कार्यकारणात्मकं जडं परमेश्वराद् भिन्नमुपासते अभ्यस्यन्ति तेऽन्धं तमः प्रविशन्ति, ये विद्यायां शब्दार्थ सम्बन्धविज्ञानमात्रेऽवैदिके आचरणे रता उ ततो भूय इव तमः प्रविशन्ति" इति ।

तदपि यत्किञ्चित्-तादृश्या अविद्याया हेयत्वेन प्रसिद्धाया उपास्यत्वाप्राप्त्या तन्निन्दानुपपत्तेः । ज्ञानादिगुणरहितकार्यकारणात्मकं जडं वस्तु तु नाविद्यापदवाच्यम्, प्रमाणानुपलब्धेः । यदि विद्याराहित्यमात्रेण घटादिकमविद्या तदाऽनित्यादौ नित्यादिख्यातेः कथमविद्यात्वम्, युगपद्विरुद्धकत्वानुपपत्तेः । एवं विद्यापदस्याप्यर्थश्चिन्तनीयः । कथञ्चिद्विज्ञाने विद्यापदप्रवृत्तावप्याचरणे तत्प्रवृत्तौ बीजाभावात् ।

अनात्मा में नित्य, पवित्र, सुख तथा आत्मा की बुद्धि ही अविद्या है, इसलिये ज्ञानादिक गुणों से रहित, कार्य-कारणात्मक परमेश्वर से भिन्न जड़वस्तु का ही अभ्यास करते हैं, वे गाढ़ अन्धकार को प्राप्त होते हैं। जो विद्या—शब्द और अर्थ के सम्बन्ध विषयक विज्ञानमात्र अवैदिक आचरण में रत हैं, वे उससे भी अधिक अन्धकार को प्राप्त होते हैं।"

यह भाष्य भी कुछ नहीं; क्योंकि जैसी अविद्या का वर्णन किया है, वह तो लोक में हेय रूप से प्रसिद्ध है; अतः उसकी तो उपासना प्राप्त ही नहीं, तब उसकी निन्दा कैसे संभव हो सकती है ? क्योकि प्राप्त ही की तो निन्दा होती है ? ज्ञानादिक गुणों से रहित जड़वस्तु को तो कोई भी अविद्या कहता नहीं, अतः अविद्या पद का वाच्य भी नहीं। ऐसी दशा में अविद्या पदका अर्थ जड़वस्तु करना अत्यन्त विरुद्ध है। 'जड़वस्तु अविद्यापद वाच्य है,' इसमें कोई प्रमाण ही उपलब्ध नहीं है। यदि कहा जाय कि जड़वस्तु घटादिकों में विद्या नहीं है, इसलिये घटादिक जड़ वस्तु अविद्या है, तो पुनः अनित्यादिक पदार्थों में नित्यादि बुद्धि को जो अविद्या कहा वह कैसे संभव है ? क्योंकि बुद्धि तो स्वयं ज्ञान (विद्या) ही है। यदि कहा जाय कि वह विद्या भी है तथा अविद्या भी है तो यह कथन भी उचित नहीं; क्योंकि एक काल में एक पदार्थ में विरुद्धधर्म संभव नहीं। अविद्या के समान विद्या पद का भी अर्थ विचारणीय है; क्योंकि विद्यापद का अर्थ आचरण किया है। ज्ञान में विद्यापद की प्रवृत्ति होने पर भी आचरण में विद्यापद की

"यो विद्वान् विद्यां चाविद्यां च तदुभयं सहवेद सोऽविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययाऽमृतमश्नुते" इति तदप्यसंगतम् । भ्रान्तिरूपया अविद्यया मरणदुःखभयरूपमृत्युतरणासंभवात् । शरीरादिजडरूपयाऽपि तया न दुःखभयतरणं सम्भवति, तत्कृतेन पुरुषार्थेनेत्यर्थकरणन्तु शाब्दिकमर्यादातिक्रमणमेव । नापि पूर्वोक्तया शब्दार्थसम्बन्धिविज्ञानमात्ररूपयाऽवैदिकाचरणरूपया वाऽविद्यया नाशरहितं स्वस्वरूपं परमात्मानं वा प्राप्तुं शक्नोति कश्चित् । आत्मशुद्धान्तःकरणसंयोगधर्मजनित यथार्थदर्शनरूपा विद्या तु पूर्वोक्तव्याख्यानविरुद्धैव । यथार्थदर्शनमेव वा विद्या भवतु, तथात्वे पूर्वोक्तव्याख्यानमेवासंगतं स्यात् ।

प्रवृत्ति नहीं होती, अर्थात् विद्यापद का अर्थ आचरण नहीं होता । विद्या पद की प्रवृत्ति का बीज(निमित्त) ज्ञानत्वधर्म होता है । आचरण में ज्ञानत्व धर्म है नहीं ।

"जो विद्वान् विद्या और अविद्या इन दोनों को साथ जानता या अनुष्ठान करता है, वह अविद्या से मृत्यु को पारकर विद्या से अमृत को प्राप्त हो जाता है ।" यह भाष्य भी असंगत है; क्योंकि भ्रान्तिरूप अविद्या से मरणदुःख के भय से तरना (मुक्त होना) सम्भव नहीं । शरीरादि जड़रूप अविद्या से भी दुःख के भय से तरना संभव नहीं । 'शरीर के किये पुरुषार्थ से' ऐसा अर्थ करना शब्द की मर्यादा का अतिक्रमण ही है । पूर्वोक्त शब्द और अर्थ सम्वन्धिविज्ञानमात्ररूपा अथवा अवैदिक आचरणरूपा अविद्या से नाश रहित अपने स्वरूप अथवा परमात्मा को भी कोई प्राप्त नहीं कर सकता । 'आत्मा[६३] तथा शुद्ध-अन्तःकरण के संयोग और धर्म से उत्पन्न यथार्थ दर्शनरूपा जो विद्या' ऐसा व्यख्यान तो पूर्वोक्त व्याख्यान से विरुद्ध ही है ! अथवा यथार्थ ज्ञान ही विद्या रहो, तब भी पूर्वोक्त व्याख्यान असंगत हो जायगा ।

---

६३. आत्मा और शुद्ध-अन्तःकरण के संयोग में जो धर्म उससे उत्पन्न हुए यथार्थ दर्शनरूप विद्या से नाशरहित अपने स्वरूप वा परमात्मा को प्राप्त होता है ।

'यथा न हिंस्यात् सर्वाभूतानीति' (महा० वन० २१२.३४) शास्त्रादवगत: पशुवधनिषेध: 'अध्वरे पशुं हिंस्यादि'ति शास्त्रेणैव बाध्यते, एवं विद्याकर्मणो: विरोधाविरोधावपि शास्त्रगम्यौ। 'विद्याञ्चाविद्याञ्च यस्तद्वेदोभय ँ सह' इति समुच्चय: शास्त्रेण प्राप्यते। 'दूरमेते विपरीते विषूची अविद्या या च विद्येति ज्ञाता' (क० उ० १.२.४) इति श्रुते:, शास्त्रेणैव बाध्यते। 'विषूची' नानागती भिन्नफले विद्याविद्ये 'दूरं विपरीते' अतिशयेन विरुद्ध इति श्रुत्यर्थः।

ननु काठके विरोधश्रवणात् तद्गतविद्याविद्ययोरस्तुविरोध इहत्वविरोधो भविष्यतीतिचेन्न, विरोधाविरोधयो: सिद्धत्वेन विकल्पासंभवात्। [६४]उदितानुदितहोमयोर्हि पुरुषतन्त्रत्वाद्युक्तोविकल्प:। प्रकृते

जैसे 'किसीभूत-प्राणी की हिंसा न करे' इस शास्त्र से पशुके वध का निषेध प्राप्त है। शास्त्र से प्राप्त यह निषेध, 'यज्ञ में पशुवध करे' इस शास्त्र से ही वाधित किया जाता है, इसी प्रकार विद्या तथा अविद्या के विरोध तथा अविरोध दोनों ही शास्त्र से जानने योग्य हैं। 'विद्या और अविद्या को जो साथ अनुष्ठान करता है' इस शास्त्र में विद्या तथा अविद्या का सहभाव अर्थात् अविरोध प्राप्त होता है। **'दूरमेते विपरीते विषूची'** इस शास्त्र से ही वह अविरोध बाधित कर दिया जाता है। क्योंकि **'दूरमेते'** इस श्रुति में उन दोनों को अत्यन्त विरुद्ध कहा गया है।

शङ्का—कठ उपनिषद् में विद्या तथा अविद्या का विरोध श्रवण होने से उसमें स्थित विद्या का अविद्या का विरोध रहो, यह हम मानते हैं; किन्तु यहाँ माध्यन्दिनीय शाखा में अविरोध होगा।

उत्तर—विरोध तथा अविरोध तो सिद्ध है, वह किसी द्वारा किया नहीं जाता है; अत: विरोध तथा अविरोध का विकल्प नहीं हो सकता–विकल्प असंभव है। 'सूर्य के उदयकालिक तथा अनुदयकालिक होम का जिस प्रकार से विकल्प है, उसी प्रकार विरोध तथा अविरोध का भी विकल्प सम्भव है' यदि ऐसा कहा जाय तो इसका समाधान

---

६४. "उदिते जुहोति" (आप० श्रौ० ६.४.१०)

तु न विकल्पः सम्भवति। ननु तर्हि समुच्चयविधिबलादस्त्वविरोध इति चेन्न, मुख्यब्रह्मविद्याऽविद्ययोः शुक्तिविद्याऽविद्ययोरिव सह संभवानुपपत्तेः, हेतुस्वरूपफलविरोधाच्च। समुच्चयविध्यसिद्धेः, सिद्धे समुच्चयविधौ तद्बलादविरोधावगमोऽविरोधावगमाच्च समुच्चयविधिरित्यन्योन्याश्रयापातात्।

ननु सहभावानुपपत्तावपि क्रमेणैवैकाश्रये विद्याविद्ये स्यातामितिचेदत्रोच्यते—यदि पूर्वमविद्यापश्चात्तु विद्येतिक्रमस्तर्हीष्यत एव, यदि पश्चात्तर्ह्यसंभव एव। विद्योत्पत्तावविद्याया ह्यस्तत्वात्तदाश्रयेऽविद्यानुपपत्तेः। न ह्यग्निरुष्णः प्रकाशश्चेति ज्ञानं यस्मिन्नाश्रय उत्पन्नं तत्र शीतोऽग्निरप्रकाशो वेत्यविद्याया उत्पत्तिः सम्भवति। 'यस्मिन् सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद्विजानतः तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः।'

यह है कि—दोनों प्रकार के होम तो पुरुष के अधीन हैं, इसलिये विकल्प उचित है। प्रकरण में तो विद्या और अविद्या का विरोध तथा अविरोध संभव नहीं; क्योंकि विरोध तथा अविरोध पुरुष के अधीन नहीं हैं।

शङ्का—"उभयं सह" इस समुच्चय के विधान से अविरोध ही मान लेना चाहिये।

उत्तर—मुख्य ब्रह्मविद्या तथा अविद्या की साथ उत्पत्ति इस प्रकार सिद्ध नहीं होती, जिस प्रकार शुक्तिज्ञान तथा अज्ञान (अविद्या) की एककाल में उत्पत्ति संभव नहीं। विद्या तथा अविद्या के कारण, स्वरूप तथा फल का विरोध होने से भी विरोध है; अतः समुच्चयविधि असिद्ध है। समुच्चयविधि सिद्ध हो तो अविरोध सिद्ध हो, अविरोध की सिद्धि से समुच्चय की विधि सिद्ध हो। परस्पर की सिद्धि में परस्पर की अपेक्षा होने से अन्योन्याश्रय दोष की भी आपत्ति है।

शङ्का—सहभाव की असिद्धि होने पर भी क्रम से एक आश्रय में विद्या-अविद्या रहें तो क्या हानि ?

उत्तर—यहाँ पर भी यह कहना है कि यदि पहले अविद्या हो,

इति शोकाद्यसम्भवश्रुतेः । अविद्याऽसम्भवात्तदुपादनस्य कर्मणोऽप्यनुपपत्तेः । पूर्वसिद्धाया अविद्यायाः प्रध्वस्तत्वादन्यस्याश्चोत्पत्तौ कारणासंभवान्मूलाभावेन भ्रमसंशयाऽग्रहणानामपि विदुष्यसम्भवाच्च ।

ननु विद्योत्पत्तावविद्याऽभावेऽपि कर्म तु भविष्यति, विदुषोऽपि व्याख्यानभिक्षाटनादिदर्शनादिति चेन्न, चोदनाप्रयुक्तानुष्ठानस्यैव तव समुच्चिचीषितत्वात् ब्रह्मैकत्वमनुभवतो न चोदना सम्भवति कामाभावात्कामिनो हि सर्वाश्चोदनाः ।

"अकामिनः क्रिया काचिद् दृश्यते नेह कस्यचित् ।
यद्यद्धि कुरुते जन्तुस्तत्तत्कामस्य चेष्टितम् ।।"

(मनु० २.४) इति स्मृतेः ।

उसके पश्चात् विद्या हो' ऐसा क्रम है तो स्वीकार किया ही है । यदि 'विद्या पहिले हो, अविद्या पश्चात् हो', ऐसा क्रम तो असंभव है; क्योंकि विद्या की उत्पत्ति होने पर अस्वतन्त्र होने से विद्या के आश्रय में अविद्या की उत्पत्ति संभव नहीं । "अग्नि उष्ण है तथा प्रकाशरूप है" ऐसा ज्ञान जिस आश्रय (आत्मा) में उत्पन्न हो गया, उसी आश्रय में 'अग्नि शीत है अथवा अप्रकाशरूप है' ऐसी अविद्या की उत्पत्ति सम्भव नहीं है । 'सर्वभूत आत्मा ही है' ऐसे आत्मा के एकत्व के ज्ञाता पुरुष को शोक-मोह नहीं होता, ऐसा श्रुति कहती है । अर्थात् अविद्या के नष्ट होने पर शोकादिक असम्भव हैं । विद्या के उत्पन्न होने पर अविद्या असम्भव होने से, अविद्या ही जिसका कारण है, ऐसे कर्म की भी उत्पत्ति सम्भव नहीं । मूलभूत अविद्या के अभाव हो जाने से भ्रम, संशय तथा अग्रहण भी विद्वान् में असम्भव हैं ।

शङ्का—विद्या की उत्पत्ति होने पर अविद्या के न रहते भी कर्म संभव है, क्योंकि व्याख्यान तथा भिक्षाटनादिक कर्म विद्वान् के भी देखे जाते हैं ।

उत्तर—ऐसी बात नहीं; क्योंकि आपको विहितकर्म का अनुष्ठान ही समुच्चय करने को इष्ट है । ब्रह्म की एकता का अनुभव करनेवाले को तो विधि ही सम्भव नहीं । कामना से रहित पुरुष की कभी कोई क्रिया नहीं देखी जाती है । "प्राणिमात्र जो कुछ करता है, वह काम

विद्वच्छरीरस्थितिहेत्वविद्यालेशाश्रयकर्मशेषनिमित्तं तु विदुषो भिक्षाटनादिकर्म, न तदर्थचोदना किन्तु यावत्प्राणशरीरसंयोगभावि तत्कर्माभासं, विद्वान्न तत् स्वगतं मन्यते, 'नैव किञ्चित्करोमीति युक्तो मन्येत तत्त्ववित्' (५.८) इति गीतोक्तेः। कर्माध्यासोपादानाविद्याया असंभवात् ॥१४॥

वायुरनिलममृतमथेदं भस्मान्तꣳ शरीरम् ।

ॐ क्रतो स्मर क्लिबे स्मर कृतꣳ स्मर ॥१५॥

उपासना के योग से अन्तकाल में उपास्यस्मृतिलब्धयोगी प्रार्थना करता है। देवतोपासना और कर्मानुष्ठान से संस्कृतवायु अर्थात् प्राणवायुसे उपलक्षित कर्तृ-करणात्मक सूक्ष्मशरीररूप अध्यात्म अब सूत्र और हिरण्यगर्भरूप अधिदैव-सायुज्य को प्राप्त हो ! प्राण-विरहित स्थूलशरीर अन्त्येष्टि-संस्कार से सम्पन्न होकर भस्मरूपता को प्राप्त हो ! 'ॐ' यह ब्रह्म-नाम है। योगिवृन्द ब्रह्मबुद्धि से इसकी भावना करते हैं। हे ओम् ! हे संकल्पात्मक देव ! हमने ब्रह्मचर्यादि आश्रमों में आप ब्रह्मात्मक अग्नि की उपसना की है। आदरपूर्वक

(इच्छा) को ही चेष्टा है" यह स्मृति भी निष्कामपुरुष में क्रिया का अभाव वर्णन करती है।

विद्वान् के शरीर की स्थिति का हेतु जो अविद्या का लेश (लेशाविद्या) वह अविद्या जिसका आश्रय है, ऐसा प्रारब्धकर्म शेष है। उसके निमित्त से ही भिक्षाटनादिक व्यवहार होते हैं। उसके लिये विधि नहीं है; किन्तु प्राण और शरीरके संयोगसे होनेवाले जितने भी कर्माभास हैं; उन्हें विद्वान् अपने आप में नहीं मानता। गीता का कथन भी यही है कि—"तत्त्ववेत्तापुरुष ऐसा मानता है कि मैं कुछ भी नहीं करता।" आत्मा में कर्म के अध्यास का उपादान कारण जो अविद्या, वह विद्वान् में सर्वथा असम्भव होने से विद्वान् आत्मा में कर्म नहीं मानता ॥१४॥

आप से प्रार्थना करते हैं कि आप हमारी उपासना का स्मरण कर अपना सायुज्य प्रदान करें—हिरण्यगर्भ और वैश्वानररूप कार्यब्रह्म की प्राप्ति का बानक बना दें ! ॥१५॥

अथ कृतोपासनो योगी अन्तकाले प्रार्थयते । द्वे यजुषी । अथेदानीं शरीरपातानन्तरं मम वायुः प्राणः । अत्र वायुपदं सप्तदशकलिङ्गशरीरोपलक्षणार्थं, सप्तदशकलिङ्गरूपो वायुः प्राणोऽध्यात्मपरिच्छेदं हित्वाधिदैवतरूपं सर्वात्मकममृतं–मरण-धर्मरहितम्, सूत्रात्मानमनिलं वायुं प्रतिपद्यताम्, 'वायुर्वाव गौतम तत्सूत्रं वायुना गौतम सूत्रेणेदꣳ सर्वꣳ संदृब्धम्' (बृहदारण्यकोपनिषत् माध्य० ३।५।६) इति श्रुतेः ज्ञानकर्मं संस्कृतं लिङ्गमुत्क्रामत्वित्यर्थः । अथेदं स्थूलं शरीरमग्नौहुतं सत् भस्मान्तं भस्मैव भूयात् । भस्मान्तः स्वरूपं यस्य तत्कृत प्रयोजनकत्वात् । अथ योगिनोऽवलम्बनभूतमक्षरमुच्यते । ओमिति ब्रह्मणः प्रतिमा नाम वा । अस्य ब्रह्मा ऋषिः, गायत्रीच्छन्दः, परमात्मा देवता, वेदारम्भे होमे शान्तिपुष्टिकर्मसु काम्येषु नैमित्तिकेष्वपि कर्मसु विनियोगः । ओम्प्रतीकात्मकत्वात्

जिसने उपासना करली है, ऐसा योगी अन्त समय में प्रार्थना करता है । वायुः अर्थात् प्राण । मन्त्र में वायुपद कर्मेन्द्रियपञ्चक, ज्ञानेन्द्रियपञ्चक, मन-बुद्धि और प्राणपञ्चक रूप सत्रह तत्त्वात्मक सूक्ष्मदेह के उपलक्षण के लिये है । अतः यहाँ १७तत्त्वोंवाला सूक्ष्म शरीर ही वायु–प्राण है । वह मेरा प्राण अध्यात्म (जीव के स्थूलशरीरकृत) परिच्छेद (परिच्छिन्नता) को त्याग कर सर्वस्थूल जगत् के आत्मारूप मरणधर्म से रहित अधिदैवत सूत्रात्मारूपी अनिल (वायु) को प्राप्त हो जावे । उपासना तथा कर्म से संस्कृत (शुद्ध) लिंगशरीर स्थूलशरीर से निकल जावे और यह स्थूलशरीर अग्नि में डाला हुआ भस्म हो जावे । क्योंकि इसका प्रयोजन समाप्त हो गया है । योगी का अवलम्बनभूत जो प्रणव अक्षर वह कहा जाता है । ओम् यह ब्रह्म का प्रतीकात्मक नाम है । इस प्रणव अक्षर का ब्रह्मा ऋषि है, गायत्री छन्द है, परमात्मा देवता है । वेद के आरम्भ, होम, शान्ति तथा पुष्टि के हेतु कर्मों में, काम्य तथा नित्य-नैमित्तिक कर्मों में भी इसका विनियोग है ।

सत्यात्मकमग्न्याख्यकं ब्रह्माभेदेनोच्यते। हे ओम्, हे क्रतो संकल्पात्मक, स्मर यन्मम स्मर्तव्यं तस्यायं कालः प्रत्युपस्थितोऽतः स्मर। यद्ब्रह्म मया नैरन्तर्येण ध्यातं अथ प्रयाणकाले तत्स्मर। यस्त्वं ब्रह्मचर्ये गार्हपत्ये च मया परिचारितस्तत्स्मर। क्लिबे स्मर कल्प्यते भोगायेति क्लृप्लोकस्तस्मै स्मर। जसादेश आर्षः 'छन्दस्युभयथे'ति पदान्तत्वात्। मयाऽस्मै अयं लोको दातव्यस्तस्मै क्लृप्ताय लोकाय स्मर। कृतं स्मर, बाल्यप्रभृति यन्मयाऽनुष्ठितं कर्म तच्च स्मर, देवताज्ञानफलभूतं कार्यब्रह्मप्रापणमनुचिन्तय। स्मरेत्यस्यावृत्तिरादरार्था। 'क्रतो इत्यादि त्रिभिर्यजुर्भिरन्ते यज्ञान् योगी स्मारयति' (अनु० ४.६) इति कात्यायनोक्तेः।

दयानन्दः—हे क्रतो ? त्वं शरीरत्याग समये ओम् स्मर, क्लिबे परमात्मानं स्वस्वरूपं च स्मर कृतं स्मर। अत्रस्थो वायुरनिलमनिलोऽमृतं धरति। अथेदं शरीरं भस्मान्तं भवतीति विजानीतेति।

सत्यात्मक अग्नि नामवाला ब्रह्म अभेदरूप से कहा जाता है। "हे ओम्, हे संकल्पात्मक! जो मेरा स्मरण के योग्य ध्यानादिक है, उसका स्मरण करो, यह उस मेरे किये ध्यानादिक के स्मरण का समय है। इसलिये जो मैंने निरन्तर ब्रह्म का ध्यान किया है, उसको इस मेरे मरणकाल में स्मरण करो। आप ब्रह्मचर्य तथा गार्हपत्य अग्नि के रूप में मैंने जो आपकी सेवा की है, उसे स्मरण करो। मेरे द्वारा इस उपासक के लिये जो लोक देने योग्य है, उस लोक का स्मरण कीजिये। जो मैंने बाल्यावस्था से लेकर कर्म किया है, उसे स्मरण कीजिये। देवता की उपासना का फलरूप जो कार्यब्रह्म उसकी प्राप्ति का चिन्तन कीजिये।" यहाँ पर स्मरण करने को जो दो वार कहा गया है, वह देवता के आदर के लिये है।

स्वामी दयानन्द—"हे क्रतो ? तुम शरीर के त्यागने के समय ओम् स्मरण कर परमात्मा के स्वरूप तथा अपने स्वरूप का स्मरण कर तथा अपने किये कर्म का स्मरण कर। यहाँ स्थित धनञ्जयादिरूप वायु कारणरूप वायु को, कारणरूप वायु अमृत को धारण करता है। शरीर भस्म हो जाता है, ऐसा जानो।"

यह भाष्य ठीक नहीं। क्योंकि विशेषणादि का कोई मूल नहीं

तदपि यत्किञ्चित्, सम्बोधनादेर्निर्मूलत्वात्। क्रतुशब्दे क्रतुकर्ता जीव इत्यस्यापि निर्मूलत्वात्। न च लक्षणाया बीजमस्ति, अनुपपत्त्यभावात्। धनञ्जयादिरूपो वायुः कथं कारणरूपं वायुं गच्छतीत्यनुक्तेः ॥१५॥

अग्ने नय सुपथा राये अस्मान्
विश्वानि देव वयुनानि विद्वान्।
युयोध्यस्मज्जुहुराणमेनो भूयिष्ठां
ते नम उक्तिं विधेम ॥४०.१६॥

हे अग्ने ! आप सम्पूर्ण कार्यात्मक जगत् को व्याप्त करनेवाले दिव्यदर्शी अभयप्रद हिरण्यगर्भ-स्वरूप देव हैं। देवयानमार्ग सुपथ है। हम मुक्तिरूप धन के इच्छुक हैं। हमें सुपथ-देवयानमार्ग से ले चलकर समुच्चयानुष्ठान से प्राप्य अभीष्टमुक्तिरूप फल को आप प्राप्त करा दें ! दक्षिण पितृयानमार्ग से हम उपराम हो चुके हैं। हमें नहीं चाहिये पुनर्जन्म पर्यवसायी वह धूममार्ग। आप सम्पूर्ण ज्ञान (उपासना) और

है। क्रतु शब्द में क्रतु (यागकर्ता) जीव अर्थ किया जाय तो उसमें भी कोई मूल नहीं। क्योंकि क्रतुशब्द का वाच्य अर्थ जीव नहीं है। यदि कहा जाय कि यद्यपि क्रतु शब्द का वाच्य तो जीव नहीं है; किन्तु लक्ष्य तो संभव है ? यह भी उचित नहीं; क्योंकि लक्षणा का बीज, सम्बन्ध की अनुपपत्ति अथवा तात्पर्य की अनुपत्ति है, वह यहाँ नहीं है। धनञ्जयरूप वायु, कारणरूप वायु को कैसे प्राप्त होता है; इस का भी कथन न होने से दयानन्द स्वामी का भाष्य उचित नहीं ॥१५॥

कर्मों को जाननेवाले हैं। कल्याणमार्ग के प्रतिबन्धक दुरितों को दूरकर दें। जिसके फलस्वरूप हम अभीष्ट लोक को प्राप्त कर सकें। हम इस समय आपकी किसी अन्य रीति से सेवा नहीं कर सकते, केवल बार-बार नमस्कार ही निवेदित करते हैं ।।१६।।

हे अग्ने, सुपथा **देवयानेन मार्गेण** राये **मुक्तिलक्षणाय** धनायास्मान् **नय प्रापयाभीष्टलोकम् इत्युवटाचार्यः। पुनरन्येन मन्त्रेणाग्न्याख्यं ब्रह्मप्रति योगी मार्गं याचते। अगस्त्यदृष्टाग्नेयी त्रिष्टुप्**(अ० ५.क०३६)। हे देव ? **दानादि गुणक**, हे अग्ने ? अस्मान् सुपथा **शोभनेन देवयानाख्य-मार्गेण नय। सुपथेति विशेषणं दक्षिणधूममार्गनिवृत्त्यर्थम्। गतागत-लक्षणेन दक्षिणमार्गेण निर्विण्णोहमतस्त्वां याचे पुनर्गमनागमनर्वाजतेन शोभनेन पथाऽस्मान्नय। किमर्थम् ?** राये **क्रममुक्तिलक्षणाय** धनाय **समुच्चयानुष्ठानफलभोगाय। कीदृशस्त्वम्**–विश्वानिसर्वाणि वयुनानि **कर्माणि प्रज्ञानानि च** विद्वान् **जानन्। किञ्च**–जुहुराणं **कुटिलं प्रति-बन्धकं वञ्चनात्मकमेनः पापमस्मत् अस्मत्तः सकाशात्** युयोधि **पृथक्**

हे अग्नि देव ! मुक्तिरूप धन के प्रति मुझ को देवयानमार्ग से प्राप्तकरा दो। अर्थात् अभीष्ट लोक को प्राप्तकरा दो। ऐसा उव्वटा-चार्य का भाष्य है।

अग्निनामक ब्रह्म से योगी मार्ग की याचना करता है। हे दानादि गुणवाले अग्निदेव ? हमको शोभन देवयान मार्ग से ले चलो। मन्त्र में सुपथा इस मार्ग के विशेषण से दक्षिण (धूम) मार्ग की निवृत्ति (व्यावृत्ति) है। जिस मार्ग से चन्द्रलोक में जाना होता है पुनः आना भी होता है, ऐसे गमनागमनरूप दक्षिणमार्ग से यात्रा करके मैं दुःखी हो गया हूँ; अतः पुनः गमनागमन से रहित मार्ग से हमको ले चलो, ऐसी आप से प्रार्थना करता हूँ, मार्गविशेष की प्रार्थना किस लिये है ? क्रममुक्तिरूप धन की प्राप्ति के लिये अर्थात् समुच्चय के अनुष्ठान के फलभोगरूप प्रयोजन के लियें। जिस आपसे मैं प्रार्थना कर रहा हूँ, वे आप कैसे हैं ? इसे मैं जानता हूँ, अत एव आपसे प्रार्थना कर रहा हूँ। आप मेरे सर्व कर्म तथा उपासनाओं को जाननेवाले हैं। आप हमारे कल्याणमार्ग के प्रतिबन्धक पाप को हमसे अलग करिये ! पाप के पृथक् कर देने से शुद्ध हुए हम अभीष्ट लोक को प्राप्त हो

कुरु वियोजय नाशयेत्यर्थः 'हुर्च्छा कौटिल्ये' इत्यस्माच्छानचि जुहोत्यादित्वेन रूपम् । 'यु मिश्रणामिश्रणयोः' ह्वादित्वाश्छब्लोपद्वित्वे छान्दसं हेर्धित्वम् । इदानीं वयं ते न शक्नुमः परिचर्यां कर्तुं, ततो वयं विशुद्धाः सन्तः इष्टं प्राप्स्यामः । वयं ते तुभ्यं भूयिष्ठां बहुतरां नम उक्तिं नमस्कारवचनं विधेम कुर्याम ।

यद्वा—अंगति गच्छति व्याप्नोति सर्वं कार्यजातमित्यग्निः हिरण्यगर्भः । हे अग्ने सर्वव्यापिन् ईश्वर सुपथा शोभनेन पुनरावृत्तिरहितेन मार्गेणास्मानुपासकान् राये धनाय ज्ञानकर्मफलोपभोगाय नय गमय, अन्यत् पूर्ववत् ।

दयानन्दः—हे देवाग्ने परमेश्वर यतो वयं ते भूयिष्ठां नम उक्तिं विधेम तस्माद् विद्वान् त्वमस्मज्जुहुराणमेनो युयोध्यस्मान् । राये सुपथा विश्वानि वयुनानि नय प्रापय ।

तदपि यत्किञ्चित्, ज्ञानाय नयनप्रार्थनानुपयोगात् । सुपथा धर्म्येण मार्गेण नयनमपि वेदप्रदानेनैव सिद्धम् । न च परमेश्वर एव सन्मार्गेण गमयति तथात्वे केषाञ्चिदपि दुर्मार्गप्रवृत्त्यनुपपत्तेः ।।१६।।

जायेंगे। हम इस समय आपकी सेवा करने में समर्थ नहीं हैं, अतः आपके लिए बहुत से नमस्कार का वचन कहते हैं कि आपको नमस्कार है, नमस्कार है, नमस्कार है ।

अथवा जो सर्व जगत् को व्याप्त करता है, वह कहा जाता है, अग्नि अर्थात् हिरण्यगर्भ । हे अग्ने ? सर्वव्यापक ईश्वर ! शोभन पुनः आगमन से रहित मार्ग के द्वारा हम उापसकों को ज्ञान (उपासना)' तथा कर्म के फल के उपभोग के लिये ले चलो । अन्य अर्थ पहिले के ही समान है ।

स्वामिदयानन्द—हे देव परमेश्वर ? क्योंकि हमने आपके प्रति बहुत नमस्कार वचन कहे हैं, इसलिये आप हमारे पाप को दूर करो । हमको धन की प्राप्ति के लिये श्रेष्ठमार्ग से सम्पूर्ण ज्ञान प्राप्त करो ।

यह भाष्य भी कुछ नहीं। ज्ञान की प्राप्ति के लिये परमेश्वर की प्रार्थना का कोई उपयोग नहीं है । धर्मयुक्त मार्ग से ज्ञान की प्राप्ति

हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम्।

योऽसावादित्ये पुरुषः सोऽसावहम् ॥१७॥

ओ३म् खं ब्रह्म ॥
इति माध्यन्दिनीयायां वाजसनेयसंहितायां
चत्वारिंशोऽध्यायः ॥४०॥

ज्योतिर्मयमण्डलरूपपात्र से आदित्यान्तर्गत अविनाशी पुरुष-रूप सत्य का मुख-शरीर-स्वरूप आच्छादित है। वह प्राण और प्रज्ञाशक्ति से जगत् को व्याप्त कर शरीर में प्रतिष्ठित रहनेवाला और पुरुषाकार होने से 'पुरुष' कहा जाता है। अन्त में पूर्ववत् ध्यान करे कि 'ऐसा पुरुष मैं हूँ'। आकाशवत् व्यापक ब्रह्म 'ओ३म्' है ॥१७॥

पुनरादित्योपासनमाह। उष्णिग्यजुर्ब्रह्मान्ता 'उष्णिक् त्रिपादान्त्यो द्वादशक' इति वचनात्। हिरण्मयमिव हिरण्मयं ज्योतिर्मयं यत् पात्रम् पिबन्ति यत्र स्थिता रश्मयो रसानिति पात्रं मण्डलम् तेन तेजोरूपेण मण्डलेन सत्यस्यादित्यमण्डलस्थस्याविनाशिनः पुरुषस्य मुखं शरीरमपि-हितमाच्छादितं वर्तते। तथापि योऽसौ प्रत्यक्षः आदित्ये रविमण्डले पुरुषः पुरुषाकारत्वात् पूर्णमनेन प्राणबुद्धयात्मना जगत्समस्तमिति पुरुषः पुरिशयनाद्वा स मण्डलस्थः पुरुषः असौ प्रत्यक्षः कार्यकारण-

---

तो वेदप्रदान करने से ही सिद्ध है। परमेश्वर ही किसी साधन के बिना सन्मार्ग से कहीं किसी को नहीं प्राप्त कराता है। ऐसा करने पर तो किसी की दुष्ट (खोटे) मार्ग में प्रवृत्ति ही नहीं बनेगी ॥१६॥

मन्त्र पुनः सूर्य की उपासना को कहता है। हिरण्यमय अर्थात् ज्योतिर्मय पात्र से सत्य का मुख (शरीर) आच्छादित है। भाव यह है कि जिसमें स्थित होकर किरणें पृथिवी के सर्वरसों का पान करती हैं; उसे यहाँ पात्र कहा गया है। ऐसा पात्र सूर्यमण्डल है; क्योंकि सूर्य-

संघातप्रविष्टोऽहमस्मि । एतां चोपासनां कुर्यादित्यर्थः । ओम् खं ब्रह्मेति यजुषी । ओमितिनामनिर्देशो ब्रह्मणः । खं ब्रह्मेत्याकाशरूपमन्ते ब्रह्म ध्यायेत् (अनु० ४-९) । यद्यपि ब्रह्म चेतनमाकाशस्त्वचेतनस्तथाप्येकदेशे सादृश्यम् । नभोवद् व्यापकं ब्रह्म ओमिति जपन्ध्यायेदित्यर्थः । सूर्यमण्डलस्थः पुरुषोऽहमेवेत्यभेदेन चिन्तयेत् ।

मानुषदैववित्तसाध्यं फलं शास्त्रलक्षणं प्रकृतिलयान्तम् । एतावती संसारगतिः । अतः परं पूर्वोक्तमात्मैवाभूद् विजानत इति सर्वात्मभाव एव सर्वैषणा संन्यासज्ञाननिष्ठाफलम् । एवं द्विप्रकारः प्रवृत्तिनिवृत्तिलक्षणो वेदार्थः प्रकाशितः । तत्र प्रवृत्तिलक्षणस्य वेदार्थस्य विधिप्रतिषेधलक्षणस्य कृत्स्नस्य प्रकाशने प्रवर्ग्यान्तं ब्राह्मणमुपयुक्तम् । निवृत्तिलक्षणस्य वेदार्थस्य प्रकाशनेऽत ऊर्ध्वं बृहदारण्यकमुपयुक्तम् । तत्र मार्गयाचनं नापेक्षितम् 'न तस्य प्राणा उत्क्रामन्ति इहैव समवनीयन्ते' (बृह० ४.४.६)इति श्रुतेः । अपरब्रह्मविद एव मार्गयाचनोपपत्तेः ।

मण्डल में ही स्थित होकर रश्मियाँ रसों का पान करती हैं । इस ज्योतिर्मयमण्डलरूप पात्र से सत्य=आदित्यमण्डल में स्थित अविनाशी पुरुष का शरीर आच्छादित है । तथापि जो आदित्यमण्डल में प्रत्यक्ष पुरुष है, वह पुरुष के आकारवाला है अथवा इससे प्राण तथा बुद्धिरूप से समस्त जगत् पूर्ण है, इसलिये उसे पुरुष कहा गया है ।

ओम् यह ब्रह्मके नाम का निर्देश है । 'आकाश के समान स्वरूप वाले ब्रह्म का ध्यान करे'(अनु० ४.९)'ब्रह्म चेतन है,आकाश जड़ है, तब ब्रह्म को आकाश के समान कैसे कहा ?' एक देश में सादृश्य है । 'किस देश (अंश) में ?' व्यापकता अंश में सादृश्य है । अतः अर्थ हुआ कि व्यापक ब्रह्म ओम् है । अन्त में उस ब्रह्म का ध्यान करे कि सूर्य–मण्डल में स्थित पुरुष मैं ही हूँ ।

मनुष्य के तथा देवसम्बन्धी धन से प्रकृतिलयपर्यन्त फलप्राप्त होता है । शास्त्र उसमें प्रमाण है। प्रकृतिलयपर्यन्त जो फल है, यहाँ तक संसार की गति है । इससे परे पूर्व मन्त्रों में कहा सर्वात्मभाव ही है । इस प्रकार प्रवृत्ति तथा निवृत्तिरूप दो प्रकार का वेद का अर्थ प्रकाशित किया है । इस उपनिषद् के विशद अर्थ के ज्ञान के लिये बृहदारण्यक उपनिषद् उपयुक्त है । वह सर्वात्मभाव सर्व एषणाओं के

सायणाचार्यः काण्वभाष्ये 'यत्तत्सत्यमसौ आदित्य एव एतन्मण्डले पुरुषश्चायं दक्षिणेऽक्षन् पुरुषः (शतपथ ब्राह्मणम् १४.५.६.३) इति तदेतदध्यात्मं अधिदैवतञ्च यत्सत्यब्रह्मोपासनया उक्तकर्मानुष्ठानेन सह कुर्वन् आत्मनः उपास्यसत्यब्रह्मप्राप्ति द्वारं पवते हिरण्मयेन इति–हिरण्मयेन ज्योतिर्मयेन पात्रेण मण्डलरूपेण सत्यस्यादित्यमण्डलस्थस्य ब्रह्मणः मुखं द्वारमपिहितमाच्छादितम् । 'तत्त्वं पूषन्नपावृणु सत्यधर्माय दृष्टये' (ईशा० १५) इति काण्वशाखीयः पाठः । सत्यस्योपासनात् सत्यं धर्मो यस्यासौ सत्यधर्मः मण्डलान्तर्गतस्य ब्रह्मणो दर्शनाय । यद्वा–सत्यधर्मस्योपास्यस्य दर्शनायेत्यर्थः ।

दयानन्दः–"हे मनुष्याः । येन हिरण्मयेन पात्रेण मया सत्यस्यापिहितम् मुखं विकाश्यते, योऽसावादित्ये पुरुषः सोऽसावहमस्मीति खं ब्रह्मास्मीति विजानीतेति ।"

संन्यास (त्याग) पूर्वक ज्ञाननिष्ठा का फल है । सर्वात्मभाव में मार्ग के लिये प्रार्थना अपेक्षित नहीं है, क्योंकि सर्वात्मभाव को प्राप्त पुरुष के प्राणों के परलोक गमन का "न तस्य" यह श्रुति निषेध करती है; अतः अपर ब्रह्म के उपासक के लिये ही मार्ग की प्रार्थना सम्भव है । निर्गुण उपासक के लिये नहीं ।

सायणाचार्य तो काण्वशाखा के इस मन्त्रभाष्य में कहते हैं कि इस मन्त्र में 'सत्य' शब्द से कहा गया आदित्य ही है । इस प्रकार इस सूर्यमण्डल में स्थित अधिदैवपुरुष है तथा दक्षिण नेत्र में स्थित अध्यात्मपुरुष है तथा ये दोनों एक हैं ।

शास्त्रविहित कर्मों के अनुष्ठान के सहित सत्यब्रह्म की उपासना के द्वारा पूर्वोक्त अध्यात्म और अधिदैवत जो सत्यब्रह्म उसका अभेद सम्पादन करता हुआ साधक अपने उपास्य सत्यब्रह्म की प्राप्ति का द्वार शुद्ध करता है । ज्योतिर्मयमण्डल से आदित्यमण्डल में स्थित ब्रह्म का द्वार आच्छादित है । हे जगत् के पोषकदेव !, मुझ सत्यधर्मा अधिकारी को मण्डल में स्थित ब्रह्म के दर्शन के लिये उस आवरण को आप निवृत्त कर दो ।

श्रीदयानन्द– सब मनुष्यों के प्रति ईश्वर उपदेश करता है कि

तदपि यत्किञ्चित्—हिरण्मयेन ज्योतिर्मयेन पात्रेण यथार्थ-कारणस्य पिहितत्वासम्भवात् ।

ब्राह्मणाख्यं यजुर्वेदभागं शतपथाभिधम् ।
सूत्रं कात्यायनं भाष्यं सायणोवटयोरपि ।।
महीधरकृतं भाष्यं मीमांसाद्वयमेव तु ।
भारतं रामचरितं पुराणान्यागमाँस्तथा ।
विविधानि च शास्त्राणि समालोच्य प्रयत्नतः ।।
वेदार्थ पारिजाताख्यं भाष्यं सङ्कलितम्मया ।
प्रीत्यै भूयाद्भगवतोः श्रीसीतारामयोः स्फुटम् ।।

हे मनुष्यो ! जिस ज्योतिः स्वरूप रक्षक मुझ से अविनाशी यथार्थकारण के आच्छादित मुखके तुल्य उत्तम अङ्गका प्रकाश किया जाता, जो वह प्राण वा सूर्यमण्डल में पूर्ण परमात्मा है, वह परोक्षरूप से आकाश के तुल्य व्यापक सबके गुण, कर्म और स्वरूप से अधिक हूँ । सबका रक्षक जो मैं उसका ॐ ऐसा नाम जानो ।''

यह कथन भी कोई महत्त्वपूर्ण नहीं; क्योंकि हिरण्मय-ज्योति-र्मय-पात्र के द्वारा यथार्थ कारण का आच्छादित होना संभव नहीं ।।४०.१७।।

"शतपथ ब्राह्मण, कात्यायन सूत्र, श्रीसायण-उव्वट-महीधर-कृत वेदभाष्य, पूर्वोत्तर मीमांसा, महाभारत-रामचरित-पुराण-आगम (तन्त्रात्मक) तथा विविधशास्त्रों (धर्म-भक्ति-नीति-सांख्य-न्याय-वेदान्त और बौद्धादि दर्शनों से सम्बन्धित ग्रन्थों) का प्रयत्नपूर्वक अनुशीलन (सत्सम्प्रदाय परम्परा से अध्ययन और चिन्तन) कर **'वेदार्थपारिजात'** नामक यह वेदभाष्य मेरे द्वारा सङ्कलित किया गया है । इससे भगवान् श्रीसीताराम परम मुदित हों !''

सभाष्यशुक्लयजुर्वेदपरिशिष्टानि

संन्यासाश्रमः

"मोक्षमिच्छन्सदा कर्म त्यजेदेव ससाधनम्।
त्यजतैव हि तज्ज्ञेयं त्यक्तुः प्रत्यक्परं पदम् ॥"

साम्प्रतं तु 'तेन त्यक्तेन' (ईशा० १) इति मन्त्रं समवलम्ब्य केषां तावत् संन्यासाधिकारः श्रुतिसम्मत इति विविच्यते।

'शोध्यस्य मृच्च तोयञ्च [६५]संन्यासोऽथ द्विजन्मनाम्' इति याज्ञवल्क्यस्मृतेः (३.३२), 'त्रयाणां वर्णानां वेदमधीत्य चत्वार आश्रमाः' इति च्छन्दोगसूत्रकारवचनाच्च, केषाञ्चिदयमभिप्रायः यत् संन्यासाश्रमे ब्राह्मणक्षत्रियवैश्यानामप्यधिकारः प्रतीयते।

अब **'तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्यस्विद्धनम्'** (ईशा०१) इस वचन से प्राप्त संन्यास में किसका अधिकार है? इस विषय पर विचार किया जाता है।

जो लोग वेदाधिकार-सम्पन्न द्विजाति का (ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य का) संन्यास में अधिकार मानते हैं, वे इस सम्बन्ध में इस प्रकार प्रमाण प्रस्तुत करते हैं—

'शोध्यस्य' इस याज्ञवल्क्यस्मृति में **संन्यासोऽथ द्विजनाम्'** कहकर स्पष्ट ही ब्राह्मणादि तीनों वर्णों का संन्यास में अधिकार सूचित किया गया है। याज्ञवल्क्यस्मृति यतिधर्मप्रकरण ३.५६,५७ में मिताक्षरा टीकाकार के द्वारा उद्धृत **'त्रयाणां वर्णानां'** इस सूत्रकारवचन के अनुसार भी वेदाध्ययनसम्पन्नब्राह्मणादि तीनों वर्णों का ही संन्यास में अधिकार सिद्ध होता है।

---

६५. 'संन्यासेन द्विजोत्तमः' (मनु० ५.१०८)

'सतां हि सन्देहपदेषु वस्तुषु प्रमाणमन्तःकरणप्रवृत्तयः' (अभिज्ञान शाकुन्तलम् १.२०), युधिष्ठिरस्यापि [६६]'अथवैकोऽहमेकाहमेकैकस्मिन् वनस्पतौ। चरन् भैक्ष्यं मुनिर्मुण्डः क्षपयिष्ये कलेवरम् ।। पांसुभिः समभिच्छन्नः शून्यागारप्रतिश्रयः। वृक्षमूलनिकेतो वा त्यक्तसर्व प्रियाप्रियः ।।' (महा० शान्ति० ६.१२,१३) इत्यादिना संन्यासाभिरुचिर्जाता। अनेन वचनेन इदं लभ्यते यत् क्षत्रियस्यापि प्रव्रज्यायामधिकारः शास्त्रसम्मत एव। 'प्रव्रज्या वसिता यत्र त्रयो वर्णा द्विजातयः।' इति कात्यायनवचनेन इदं लभ्यते यद्वैश्यस्यापि प्रव्रज्यायामधिकारःशास्त्रसम्मत एव।

"प्रवृत्तिलक्षणं कर्म ज्ञानं संन्यासलक्षणम् ।
तस्माज्ज्ञानं पुरस्कृत्य संन्यसेदिह बुद्धिमान् ।।
यदा तु विदितं तत्त्वं परं ब्रह्म सनातनम् ।
तदैकदण्डं संगृह्य सोपवीतां शिखां त्यजेत् ।।

'सतां हि सन्देहपदेषु' इस दुष्यन्तवचन के अनुसार दीर्घकाल तक धर्मानुष्ठान से संस्कृत अन्तःकरणवाले सज्जनों की मनोवृत्ति–अभिरुचि कभी भी निषिद्धाचरण में प्रवृत्त न होने के कारण संदिग्ध-स्थल में प्रमाण होती है। धर्मराज युधिष्ठिर की **'अथवैकोऽहमेवात्र'** आदि वचनों द्वारा संन्यास के प्रति व्यक्त अभिरुचि के अनुसार भी केवल ब्राह्मण का ही संन्यास में अधिकार सिद्ध नहीं होता, अपि तु क्षत्रिय का भी सिद्ध होता है। **'प्रव्रज्या वसिता यत्र'** इस कात्यायन–वाक्य से भी ब्राह्मणादि तीनों वर्णों का ही संन्यास सूचित होता है।

'यदा तु' इन वचनों में विहित के भी त्याग का विधान ब्राह्मणादि तीनों वर्णों के लिये प्राप्त है। **'ब्राह्मणाः प्रव्रजन्ति'** (ब्राह्मण

---

६६. "अथवा मैं मननशील मुण्डी संन्यासी हो जाऊँगा और एक-एक दिन एक-एक वृक्ष से भिक्षा मांगकर अपने शरीर को सुखाता रहूँगा। शरीर पर धूल पड़ी होगी और सूने घरों में मेरा निवास होगा अथवा किसी वृक्ष के नीचे उसकी जड़ में ही पड़ा रहूँगा। प्रिय और अप्रिय का सारा विचार छोड़ दूँगा।"

परमात्मनि यो रक्तो विरक्तोऽपरमात्मनि ।
सर्वैषणाविनिर्मुक्तः स भैक्षं भोक्तुमर्हति ॥"

(नारद परिव्राजको० ३.१६-१८)

इत्यादौ विहितस्याप्यननुष्ठानमेव । 'ब्राह्मणाः प्रव्रजन्ति' (**बृहदारण्यक** ४.४.२२), 'ब्राह्मणो निर्वेदमायात्' (**मुण्डक** १.२.१२), 'अथ पुनरव्रती वा व्रती वा स्नातको वाऽस्नातको वोत्सन्नाग्निरनग्निको वा यदहरेव विरजेत्तदहरेव प्रव्रजेत्' (**नारद परिव्राजकोपनिषत्** ३.७७), 'जायमानो ब्राह्मणास्त्रिभिर्ऋणैर्ऋणवाञ्च जायते' (**बोधायनस्मृतिः** २. ६. ४१) **इत्यत्र ब्राह्मणपदं त्रैवर्णिकपरमेव । ऋणापाकरणे त्रयाणामप्यधिकारदर्शनात्** ।

"ब्राह्मणः क्षत्रियो वापि वैश्यो वा प्रव्रजेद्गृहात्"

(**कूर्म पुराण**)

"कषायं पाचयित्वाऽऽशु श्रेणिस्थानेषु च त्रिषु ।
प्रव्रजेच्च परं स्थानं पारिव्राज्यमनुत्तमम् ॥"

(**शान्तिपर्व** २४५.३.)

संन्यास लेते हैं), **'ब्राह्मणो निर्वेदमायात्'** (ब्राह्मण को उपरामता प्राप्त करनी चाहिये—निवृत्तिपरायण होना चाहिये), **'अथ पुनः'** (व्रती—अव्रती, स्नातक-अस्नातक, साग्नि-निरग्नि कोई भी क्यों न हो, जब उत्कट वैराग्य हो जाय, तभी उसे संन्यास लेना चाहिये), **'जायमानो ब्राह्मणाः'** इस बोधायनस्मृति में जैसे त्रिवर्ण के लिये उपलक्षण रूप में प्रयुक्त ब्राह्मणपद का अर्थ केवल **'ब्राह्मण'** नहीं किया जा सकता, वैसे ही **'ब्राह्मणाः प्रव्रजन्ति'** आदि वचनों में सन्निहित **'ब्राह्मण'** पद केवल ब्राह्मणवर्ण का द्योतक नहीं माना जा सकता । तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार ऋणत्रय के अपाकरण में तीनों ही वर्णों का अधिकार है, केवल ब्राह्मण का नहीं; उसी प्रकार मोक्ष के लिये अनिवार्य संन्यास में तीनों वर्णों का अधिकार है; केवल ब्राह्मण का नहीं ।

"पंक्तिक्रम से स्थित पूर्वोक्त तीन आश्रम-ब्रह्मचर्य, गृहस्थ और वानप्रस्थ में चित्त के राग-द्वेष आदि दोषों को पकाकर उन्हें नष्ट

"येन केन चिदाच्छन्नो येन केनचिदाशितः ।
यत्र क्वचनशायी च तं देवा ब्राह्मणं विदुः ।।
न क्रुद्ध्येन्न प्रहृस्येच्च मानितोऽमानितश्च यः ।
सर्वभूतेष्वभयदस्तं देवा ब्राह्मणं विदुः ।।
विमुक्तं सर्वसङ्गेभ्यो मुनिमाकाशवत् स्थितम् ।
अस्वमेकचरं शान्तं तं देवा ब्राह्मणं विदुः ।।
निराशिषमनारम्भं निर्नमस्कारमस्तुतिम् ।
निर्मुक्तं बन्धनैः सर्वैस्तं देवा ब्राह्मणं विदुः ।।"

(महा० शा० २४५.१२, १४, २२, २४)

'न कर्मणा न प्रजया धनेन त्यागेनैकेऽमृतत्वमानशुः' (**तै० आ० १०.१०, नारायणो० १२.३, कैवल्यो० ३**) **इति तैत्तिरीयश्रुत्या**, 'त्याग एव हि सर्वेषां मोक्षसाधनमुत्तमम् । त्यजतैव हि तज्ज्ञेयं त्यक्तुः प्रत्यक् परं पदम् ।।' **इति भाल्लवीय श्रुत्या**, 'अथ परिव्राड् विवर्णवासा मुण्डोऽपरिग्रह शुचिरद्रोहो भैक्ष्यमाणो ब्रह्मभूयाय कल्पते', 'यदि वेतरथा

करके शीघ्र ही सर्वोत्तम चतुर्थाश्रम–संन्यास को ग्रहण कर ले ।"

"जो किसी भी (वस्त्र, वल्कल आदि)से अपना शरीर ढक लेता है, समय पर जो भी रूखा-सूखा मिल जाय, उसी से भूख मिटा लेता है और जहाँ-कहीं भी सो रहता है, उसे देवता ब्राह्मण मानते हैं । जो सम्मान प्राप्त होने पर हर्षित, अपमानित होने पर कुपित नहीं होता तथा जिसने सम्पूर्ण प्राणियों को अभयदान कर दिया है, उसे ही देवता लोग ब्राह्मण मानते हैं । जो सब प्रकार की आसक्तियों से छूटकर मुनिवृत्ति से रहता है, आकाश की भाँति निर्लेप और स्थिर है, किसी भी वस्तु को अपनी नहीं मानता, एकाकी विचरता और शान्तभाव से रहता है, उसे देवता ब्राह्मण मानते हैं । जो कामनाओं से रहित तथा सब प्रकार के आरंभों से रहित है और स्तुतिसे दूर रहता है तथा सब प्रकार के बन्धनों से मुक्त होता है, उसे ही देवता ब्राह्मण मानते हैं ।"

'ब्राह्मणः क्षत्रियो वापि' इस कूर्मपुराण के अनुसार ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य इन तीनों ही वर्णों का संन्यास में अधिकार है । **'कषायं पाचयित्वा'** इन श्लोकों के अनुसार तो सत्त्व के उत्कर्ष से होने वाले शमादि ब्राह्मणोचित गुण ही ब्राह्मणवर्ण के परिचायक हैं, ऐसे

ब्रह्मचर्यादेव प्रव्रजेद् गृहाद्वा वनाद्वा' इति जाबालश्रुत्या (५.४) 'एवमेव प्रव्राजिनो लोकमिच्छन्तः प्रव्रजन्ति' इति बृहदारण्यक श्रुत्या(४.४.२२), 'ब्रह्मसंस्थोऽमृतत्वमेति' इति छान्दोग्यश्रुत्या (२.२३.१) च क्षत्रियवैश्ययोरपि संन्याससिद्धिः। विविदिषावाक्ये ब्राह्मणग्रहणं त्रैवर्णिकोपलक्षणार्थम्। ब्राह्मणग्रहणञ्चात्र द्विजानामुपलक्षणम्, अविशिष्टाधिकारित्वात्। 'सर्वेषामात्मबोधने' इति वार्तिकवचनाच्च।

गुण क्षत्रियादि में भी प्रसक्त होने के कारण उनका भी संन्यास में अधिकार सिद्ध है। **'न कर्मणा'** ('कर्म, प्रजा या धन से नहीं; त्याग से ही अमृतत्व की उपलब्धि संभव है'), **'त्याग एव हि'** ('निःसन्देह त्याग ही मोक्ष का उत्तम साधन है। ऐसा त्याग जिस क्षण सध पाता है, उसी क्षण त्यागनेवाले का मृग्य-परमपद साक्षात् प्रत्यगात्मा होकर ही स्फुरित होता है।'), **'अथ परिव्राड्'** ('शुद्ध, द्रोहरहित, परिग्रहरहित, सौन्दर्यप्रसाधनों से सुदूर संन्यासी भिक्षान्न का सेवन करता हुआ ब्रह्म-होने में समर्थ होता है।)', **'यदिवेतरथा'** ('सबके लिये क्रमसंन्यास ही अपेक्षित हो, ऐसा नहीं; उत्कट वैराग्य होने पर आश्रमों की अवधि पूर्ण किये बिना भी संन्यास ग्रहण करे'), **'एवमेव'** (संन्यासियों को प्राप्त होने योग्य लोक की इच्छा करते हुए संन्यास ग्रहण करते हैं'), **'ब्रह्मसंस्थः'** ('ब्रह्मसाक्षात्कारसम्पन्न मोक्षलाभ करता है') इन श्रुतियों के अनुसार क्षत्रिय-वैश्य का भी संन्यास में अधिकार सिद्ध होता है।

यद्यपि **'ब्राह्मण'** पद के प्रयोग से संन्यास में केवल ब्राह्मण का अधिकार माना जा सकता है; परन्तु इन स्थलों में विविदिषावाक्य में पठित **'ब्राह्मण'** पद वस्तुतः तीनों वर्णों के उपलक्षण के लिये है, अर्थात् ब्राह्मणपद ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य इन तीनों वर्णों का द्योतक (ग्राहक) है। **'ब्राह्मणाः—ब्राह्मणग्रहणमुपलक्षणार्थम्; अविशिष्टो हि अधिकारः त्रयाणां वर्णानाम्'** (शाङ्करभाष्य ४.४.२२ बृहदारण्यकोपनिषत्)।

उक्त कथन 'पूर्वाचार्यों से समर्थित न होने के कारण अमान्य है', ऐसा भी नहीं कहा जा सकता; क्योंकि वार्तिककार श्रीसुरेश्वर ने **'सर्वेषामात्मबोधने'** आदि वचनों द्वारा तीनों वर्णों का संन्यास में अधिकार सिद्ध किया है। वार्तिककार का वचन मुक्तिहीन होने से

इति चेन्न। श्रुतिषु क्षत्रियवैश्यपदाभावात्। सामान्यवचनानां 'ब्राह्मणाः प्रव्रजन्ति' (बृह० ४.४.२२) इत्यादि विविदिषावचनैरेकवाक्यतया शाब्दबोधे हि ब्राह्मणानामेव संन्यासाधिकारः सिद्धयति, क्षत्रियवैश्ययोस्तदसिद्धेः।

'यद्वै किञ्च मनुरवदत्तद्भेषजमि'ति (तै० सं० २.२.१.२) [६७]**श्रुतिसमादृतमनुस्मृतिविरोधाच्च।** 'ब्राह्मणः क्षत्रियो वापि वैश्यो वा प्रव्रजेद्गृहात्' **इति प्रव्रजतेर्गृहत्याग एवार्थः।**

अमान्य है' ऐसा भी नहीं कहा जा सकता; क्योंकि **'अविशिष्टाधिकारित्वात्'** यह प्रबल युक्ति है। जब तीनों ही वर्णों को यज्ञोपवीत, वेद और अग्निहोत्रादि में अधिकार प्राप्त है, तब 'केवल एक (ब्राह्मण) का ही इनके त्याग में अधिकार है, शेष दो का नहीं, यह कथन भला कैसे सङ्गत हो सकता है ?

परन्तु उक्त वचनों के अनुसार ब्राह्मणेतर–क्षत्रियादि का संन्यास में अधिकार सिद्ध नहीं होता। कारण यह है कि श्रुति के अनुकूल स्मृत्यादि का प्रामाण्य मान्य है। श्रुतियों में क्षत्रिय और वैश्य पद का अभाव है। शाब्दबोध में **'भैक्षाणो ब्रह्मभूयाय कल्पते'** (जाबालो० ५) आदि सामान्यवचनों का **'ब्राह्मणो निर्वेदमायात्'** (मुण्डक उप० १.२.१२), **'ब्राह्मणाः पुत्रैषणायाश्च वित्तैषणायाश्च लोकैषणायाश्च व्युत्थायाथ भिक्षाचर्यं चरन्ति'** (बृह० उप० ३.५.१), **'ब्राह्मणाः प्रव्रजन्ति'** (बृह० ४.४.२२) आदि विशेष-वचनों से एकवाक्यता होने के कारण ब्राह्मणों का ही संन्यास में अधिकार सिद्ध होता है। साथ ही स्मृतियों में मनुस्मृति की प्रधानता है। मनुस्मृति के अनुकूल ही अन्य स्मृतियों का प्रामाण्य मान्य है। कहा भी है **'मन्वर्थ विपरीता तु या स्मृतिः सा न शस्यते** (संवर्त)', 'तैत्तिरीय संहिता' स्वयं ही मनु के समस्त वचनों को भेषजतुल्य हितकर बताती है। मनु ने स्पष्ट

---

६७. श्रुत्या यदुक्तं परमार्थमेव तत्संशयो नात्र ततः समस्तम्।
श्रुत्या विरोधे न भवेत्प्रमाणं भवेदनार्थाय विना प्रमाणम्॥
(ब्रह्मविद्योपनिषत् ३२)

न च श्रुत्यन्तरेषु ब्राह्मणपदोपलक्षणत्वाभावसिद्धौ तद्बलेन केवलब्राह्मणस्याधिकारसिद्धिर्ब्राह्मणस्याधिकारसिद्धौ चोपलक्षणत्वाभावसिद्धेरन्योन्याश्रयत्वमिति वाच्यम्। ब्राह्मणपदेनैव ब्राह्मणाधिकारसिद्ध्या प्रमाणाभावादेवोपलक्षणत्वाभावसिद्धेरन्योन्याश्रयत्वायोगात्। न च पुराणादिवचनैस्ततसिद्धिरिति वाच्यम्, पुराणादीनां श्रुत्यर्थानुगुण्येनैव नेतव्यत्वात्। न च वार्तिकवचनानुसारेण [६८]ब्राह्मणपदस्यैवोपलक्षणत्वमेवेति वाच्यम्। भाष्यविरोधेन वार्तिकस्यैव भाष्यानुगुण्येन नेयत्वात्।

ही ब्राह्मण का संन्यास में अधिकार माना है—**'आत्मन्यग्नीन्समारोप्य ब्राह्मणः प्रव्रजेद्गृहात्'** (६.३८)। इस रीति से **'संन्यासेन द्विजोत्तमः'** (मनु ५.१०८) इस शुद्धि-सन्दर्भ में भी **'द्विजोत्तम'** का अभिप्राय **'ब्राह्मण'** ही सिद्ध होता है। श्रुतिसमादृत मनुस्मृति से विरुद्ध होने के कारण क्षत्रियादि का संन्यास में अधिकार असिद्ध है। **'ब्राह्मणः क्षत्रियो वापि'** इन स्मृतियों में (स्मृति-पुराणादि में) **'प्रव्रजेत्'** का अर्थ गृहत्यागरूप संन्यास ही अपेक्षित है, न कि सूत्रत्याग पूर्वक लिङ्ग (दण्ड, काषाय वस्त्रादि) ग्रहण रूप संन्यास।

यह भी नहीं कहा जा सकता कि 'अन्य श्रुतियों में ब्राह्मणपद उपलक्षणत्वाभाव वाला है, यह सिद्ध होने पर उसके बल से ब्राह्मण का संन्यास में अधिकार सिद्ध होता है और ब्राह्मण का संन्यास में अधिकार सिद्ध होने पर ब्राह्मण पद में उपलक्षणत्वाभाव सिद्ध होता है, अर्थात् (ब्राह्मण पद में) उपलक्षणत्वाभाव और (संन्यास में) ब्राह्मणत्वाधिकार में अन्योन्याश्रय है।'; क्योंकि प्रमाणाभाव के कारण ही उपलक्षणत्वाभाव सिद्ध होने से अन्योन्याश्रयत्वाभाव है। 'उपनिषदों से न सही, पुराणादि वचनों से उपलक्षणत्व की सिद्धि हो जाने पर अन्योन्याश्रयदोष की प्राप्ति पुनः हो जाती है' यह कहना भी उपयुक्त नहीं;

---

६८. **'ब्राह्मण एव संन्यासिनो न त्वितरः'**, **'ब्राह्मणानामेवाधिकारो व्युत्थानेऽतो ब्राह्मणग्रहणम्'** (शाङ्करभाष्य बृह० ३.५.१), **'न हि क्षत्रियवैश्ययोः पारिव्राज्यप्रतिपत्तिरस्ति'** (शा० भा० बृह० ४.५.१५)

ननु 'जायमानो वै ब्राह्मणस्त्रिभिर्ऋणैर्ऋणवान् जायते' (बोधायन स्मृतिः २.९.९) इत्यत्रैव संन्यासविधायकेषु वाक्येषु ब्राह्मणग्रहणमुपलक्षणार्थमिति चेन्न, 'राजा राजसूयेन यजेत' (आप० श्रौ० १०.८.

क्योंकि पुराणादि वचनों की सङ्गति श्रुतिसिद्ध अर्थ के अनुगुण ही साधनी चाहिये, श्रुत्यर्थ के विरुद्ध नहीं। यह कहना उपयुक्त नहीं कि 'उत्तरोत्तर ऋषियों का अधिक प्रामाण्य होने के कारण वार्तिकवचनानुसार ब्राह्मण पद ही उपलक्षणत्व का द्योतक है', क्योंकि श्रुत्यनुरूप भाष्य के विरुद्ध वार्तिकवचन ही भाष्यानुगुण साधने योग्य हैं। अभिप्राय यह कि भाष्य श्रुति के सर्वथा अनुकूल है; अतः वार्तिक की संगति भाष्य के अनुरूप ही साधनी चाहिये।

यह कहना कि "**जायमानो वै ब्राह्मणः**' इस बोधायन-स्मृति में जिस प्रकार ब्राह्मण ग्रहण उपलक्षणार्थ है, उसी प्रकार '**ब्राह्मणाः प्रव्रजन्ति**' इत्यादि संन्यासविधायकवाक्यों में ब्राह्मणग्रहण उपलक्षणार्थ है" अनुपयुक्त है; क्योकि '**राजा राजसूयेन यजेत**' यहाँ जिस प्रकार 'राज' पद 'क्षत्रिय होते हुए राजा' के लिये रूढ़ होने से 'क्षत्रिय राजा का ही ग्राहक है, उसी प्रकार '**ब्राह्मणाः प्रव्रजन्ति**', '**ब्राह्मणःप्रव्रजेद्गृहात्**' आदि स्थलों में 'ब्राह्मण पद लोक-वेद प्रसिद्ध ब्राह्मण का ही द्योतक होने से स्वार्थ पर्यवसायी है, अतः उपलक्षण (लक्षणा के द्वारा क्षत्रिय, वैश्य का उद्बोधक-प्रापक) नहीं हो सकता। '**न विधौ परः शब्दः**' इस रीति से विधि में लक्षणा मान्य नहीं। बृहदारण्यक आदि श्रुतिसिद्ध ब्राह्मणाधिकार को प्रशस्त मानकर '**अथ परिव्राड्**', '**यदि वेतरथा**' आदि जाबालादि श्रुतियों में संन्यास विधान है; अतः '**ब्राह्मण**' पद तीनों वर्णों का उपलक्षण नहीं हो सकता।

विशेष—इस प्रकार श्रुति में प्रयुक्त '**ब्राह्मण**' पद के प्रयोग से, मनुस्मृति आदि में भी ब्राह्मण पद का ही उल्लेख होने से, भाष्यकार शङ्कराचार्य के द्वारा भी एवकार घटित ब्राह्मण पद का प्रयोग होने से और जन्मना ब्राह्मणों में ही सलिंग संन्यास की परम्परा का अन्यत्र उल्लेख होने से ब्राह्मणों का ही संन्यास में अधिकार सिद्ध है। वेदाध्ययन कराने तथा यज्ञ कराने का अधिकार ब्राह्मण को ही प्राप्त है

१,४) इत्यत्र राजपदस्येव ब्राह्मणपदस्यापि स्वार्थपर्यवसायित्वेनोपलक्षणत्वायोगात्। 'न विधौ परः शब्दार्थः' (शाबरभाष्य पृ० १४१) इति रीत्या विधौ लक्षणायोगात्। जाबालादिश्रुतिषु च श्रुत्यन्तरसिद्धं

से मुख्य श्रोत्रियत्व और आचार्यत्व चरमवर्ण ब्राह्मण में ही प्रतिष्ठित है। इसी दृष्टि से ब्राह्मण का ही संन्यास में प्रशस्त अधिकार है।

संन्यासाधिकार के प्रसङ्ग में श्रुतियों में जहाँ **'एष पन्था ब्राह्मणाः'** (जाबालो० ५), **'तमेतं ब्राह्मणाः'** (सुबालो० ६), **'संन्यसेद-कृतोद्वाहो ब्राह्मणो ब्रह्मचर्यवान्'** (नारद परिव्राजको० ३.१४), **'तदेत-द्विज्ञाय ब्राह्मणः परिव्रज्य'** (नारद परि० ३.८६) इन स्थलों में 'ब्राह्मण' पद का प्रयोग है, वहाँ **'बहिःसूत्रं त्यजेद्विप्रः'** (परब्रह्मोपनिषत् ५), **'बहिरन्तश्चोपवीती विप्रः संन्यस्तुमर्हति'** (परब्रह्मो० १४) **'त्रिदण्डं वैष्णवं लिङ्गं विप्राणां मुक्तिसाधनम्'** (शाट्यायनी० १०) इन स्थलों में 'विप्र' पद का प्रयोग है।

'ब्राह्मणः प्रव्रजेद् गृहात्' (मनु० ६.३८) इस मनुस्मृति के अनुसार और **'विप्रस्य वै संन्यसतः'** (भागवत ११.१८.१४) इस भागवत-पुराण के अनुसार भी ब्राह्मण का ही संन्यास में अधिकार सिद्ध होता है। सत्त्वगुण के उत्कर्ष से अभिव्यक्त गीतोक्त शमादिरूप ब्रह्मकर्म की स्वाभाविक प्रतिष्ठा होने से भी ब्राह्मणवर्ण के उपयुक्त संन्यासाश्रम है। क्षत्रिय-वैश्य के संन्यासाश्रम का निषेध भी ब्राह्मणवर्ण के संन्यासाश्रम का प्रबल पोषक है। यथा —

"मुखजानामयं धर्मो यद् विष्णोर्लिङ्गधारणम्।
राजन्यवैश्ययोर्नेति दत्तात्रेयमुनेर्वचः ॥"
"ब्राह्मणस्य तु चत्वारस्त्वाश्रमा विहिताः प्रभो।
वर्णास्तान् नानुवर्तन्ते त्रयो भारतसत्तम ॥"
(महा० शान्ति० ६२.२)

"चत्वारो ब्राह्मणस्योक्ता आश्रमाः श्रुतिचोदिताः।
क्षत्रियस्य त्रयः प्रोक्ता द्वावेकौ वैश्यशूद्रयोः ॥"
(यो० या० सं० १.२८)

ब्राह्मणाधिकारं सिद्धवत्कृत्वा संन्यासविधानान्न ब्राह्मणग्रहणं त्रैवर्णिकोपलक्षणपरम् ।

यत्तु यौगिकाश्रयेण ब्राह्मणस्य ब्रह्मवित्परत्वमिति वाच्यम्, तदपि तुच्छम् । 'ब्राह्मोऽजातौ' (पा० सू० ६.४.१७१) इति जातावेव ब्राह्मणपदसिद्धेः । 'रूढिर्योगाद् बलीयसी' इति न्यायेन 'रथकार-न्यायेन' च योगासिद्धेः । 'ब्राह्मणा एव संन्यासिनो न त्वितरः' इति श्री-

---

'ब्राह्मणस्याश्रमाश्चत्वारः, क्षत्रियस्याद्यास्त्रयः, वैश्स्ययाद्यौ ।' (वैखा० ध० सू० १.१.१०–१२) । प्रामाणिक आचार्यों ने भी इसी तथ्य को प्रकट किया है —

(१) अत्र च श्लोके ब्राह्मणस्य चतुराश्रम्योपदेशाद् ब्राह्मणः प्रव्रजेदिति पूर्वमभिधानाद् ब्राह्मणस्यैव प्रव्रज्याधिकारः ।

(श्रीकुल्लूकभट्ट, मनु० ६.९७)

(२) इति क्षत्रियवैश्ययोः संन्यासाभाव उक्तः भगवता भाष्यकृता ब्राह्मणस्यैव संन्यासो नान्यस्येति निर्णीतम् ।

(भगवद्गीता ३.२० मधुसूदनी टीका)

(३) (क्षत्रियस्य) भैक्ष्यचर्यायामनधिकारात् ।

(भगवद्गीता ३.८ नीलकण्ठी)

शास्त्रों में पूर्वकर्मानुसार जन्म, जन्मनियन्त्रित वर्ण और वर्ण-नियन्त्रित आश्रम की व्यवस्था का प्रतिपादन है। स्व-वर्ण और आश्रमानुसार व्यवहार से व्यक्तिका परमकल्याण सुनिश्चित है । प्रज्ञा और प्राणशक्ति के आवेश या आवेग में शास्त्रीयपथ का परित्याग अशोभनीय है । अनात्मपदार्थों में स्वाभाविक अहंता-ममता को शास्त्रीय अभिमान की स्वीकृति के विना दूर कर पाना दुर्लभ है । सब तरह से सबके कल्याणकारक शास्त्रीयतथ्यों को राग-द्वेष और अज्ञानमूलक बताकर स्वयं के और सबके पतन का पथप्रशस्त करना अनुचित है ।

"यौगिकरीति का आश्रय लेने पर 'ब्राह्मण' शब्द का अर्थ 'ब्रह्मवित्' परक सिद्ध होता है ।" ऐसा कहना भी उपयुक्त नहीं; क्योंकि 'ब्राह्मो जातौ' (पा० सू० ६.४.१७१) इस के अनुसार जाति में ही ब्राह्मण

शङ्कराचार्यवचनगत 'ब्राह्मण' पदस्य त्रैवर्णिकोपलक्षणपरत्ववर्णनं त्वतीव मन्दम्। 'नेतरः' इति विरोधात्। यदपि भाष्यनिर्माणतः पूर्वं ब्राह्मणादित्रैवर्णिकचतुर्थाश्रमस्य सत्त्वासत्त्वाभ्यां व्याघातकथनम्, तदप्यसङ्गतम्। शूद्रकर्तृकवेदाध्ययननिषेधसमानयोगक्षेमत्वात्। तत्रापि निषेधवचनात्प्राग्वेदाध्ययनस्य सत्त्वासत्त्वाभ्यां व्याघातस्य वक्तुं शक्यत्वात्।

यदपि विशेष्यवाचकपदाव्यवहितोत्तरवर्तिन एवकारस्यान्ययोग-व्यवच्छेदार्थकत्वात् 'पार्थ एव धनुर्धरः' इत्यत्र भीष्मादीनामपि धनुर्ध-

---

पद की सिद्धि होती है। **'रूढि योग से बलवती है'** इस न्याय से और इसी का उपोद्‌बलक (पोषक) **'रथकारन्याय'** से योग का ऐसे स्थलों में आलम्बन अनुपयुक्त है। **'ब्राह्मणा एव संन्यासिनो न त्वितरः'** (ब्राह्मण ही संन्यासी हैं, न कि कोई अन्य) इस श्रीशङ्कराचार्य के वचन में प्रयुक्त **'ब्राह्मण'** पद तीनों वर्णों का उपलक्षण है, यह कथन तो अति ही मन्द है। भाष्यगत **'एव'** पद के प्रयोग से सिद्ध **'नेतरः'** से उक्त कथन का खण्डन सुस्पष्ट हो जाता है।

"भाष्यनिर्माण से पूर्व ब्राह्मणादि त्रैवर्णिक चतुर्थाश्रम (संन्यास) के सत्त्वासत्त्व को लेकर विनिगमकाभावबलात् व्याघात-दोष" कथन तो स्पष्ट ही असंगत है। शूद्रकर्तृक वेदाध्ययननिषेध तुल्यबल है। उक्त रीति से तो "शूद्रकर्तृक वेदाध्ययन के सत्त्वासत्त्व को लेकर व्याघातदोष की प्राप्ति है।" यह कथन भी सङ्गत होने लगेगा, परन्तु वस्तुस्थिति यह है कि 'शूद्रकर्तृक वेदाध्ययननिषेध-परकवचन से पूर्व' यह कथन ही असङ्गत है; क्योंकि वेदानुकूल ही मन्वादिस्मृतियों की प्रवृत्ति होने से विधि-निषेध अनादि अपौरुषेय वेद-वेद्य हैं। ऐसी स्थितिमें 'अनादि वचनसे पूर्व' यह कथन ही व्याघातयुक्त है। अभिप्राय यह कि भाष्य में जो कुछ कहा गया है, वह तो पूर्वोक्त रीति से श्रुतिसम्मत ही है, क्योंकि श्रुति अनादि अपौरुषेय है; अतः संन्यास सम्बन्धी अधिकारप्रशस्ति भी अनादि ही है। अनादि प्राप्त वस्तुस्थिति के सम्बन्ध में 'उससे पूर्व' कथन ही व्याघातदोषयुक्त होने से असङ्गत है।

"ब्राह्मणा एव संन्यासिनः" विशेष्यवाचकपद से व्यवधानशून्य

राणामुपलम्भादुत्कृष्ट धनुर्धरे लक्षणा स्वीक्रियते, तथापि (तद्वदत्रापि) एवकारस्य विशेष्यान्वितत्वेन संन्यासस्योत्कृष्टसंन्यासे लक्षणा, तथा च ब्राह्मणकृत तुर्याश्रम उत्कृष्ट इत्यर्थः, इत्यपि यत्किञ्चित् । 'नेतरः' इति भाष्यांशस्य तद्बाधकत्वात् ।

किञ्च तत्रान्ययोगव्यवच्छेदे प्रत्यक्षविरोधः । प्रकृते तु अधिकारानधिकार विवेचनम् । तत्र न प्रत्यक्षं क्रमते, शास्त्रीयविधिनिषेधयोः प्रत्यक्षानुमानाविषयत्वात् । तदुक्तम् —

"प्रत्यक्षेणानुमित्यावा यस्तूपायो न विद्यते ।
एनं विदन्ति वेदेन तस्माद्वेदस्य वेदता ॥"

इति वचनम् । सिद्धान्तलेशसंग्रहे 'ब्राह्मणो निर्वेदमायात्' (मुण्डक १.२.१२) 'ब्राह्मणा व्युत्थाय' (बृह० ३.५.१) 'ब्राह्मणः प्रव्रजेत्' (मनुस्मृतिः ६.३८) इत्यादि संन्यासविधिषु ब्राह्मणग्रहणात् क्षत्रियवैश्ययोः कथं वेदान्तश्रवणाद्यनुष्ठानम् ।

उत्तरवर्ती एवकार अन्ययोगव्यवच्छेदार्थक होने से 'पार्थ (अर्जुन) ही (एव) धनुर्धर है' यहाँ भीष्मादि भी धनुर्धरों में मान्य हैं, अतः 'उत्कृष्ट धनुर्धर' में 'धनुर्धर' पद की लक्षणा स्वीकृत है, तद्वत् विशेष्यान्वित एवकार होने से 'उत्कृष्ट संन्यास' में 'संन्यास' पद की लक्षणा है" यह कथन भी कोई महत्त्वपूर्ण नहीं, क्योंकि **'नेतरः'** यह पद अन्यों में संन्यास की प्रसक्ति का वारक है । फिर यह भी ध्यान रखना आवश्यक है कि पार्थातिरिक्तों में धनुर्धरता सिद्ध होने से केवल पार्थ को ही धनुर्धर कहने में प्रत्यक्ष विरोध है; अतः लक्षणा स्वीकृत है । प्राप्त-प्रसङ्ग में तो अधिकारानधिकार विवेचन है । इसमें प्रत्यक्ष की गति नहीं; क्योंकि शास्त्रीय विधि-निषेध प्रत्यक्ष और अनुमान के विषय ही नहीं । कहा भी है —

'प्रत्यक्ष अथवा अनुमानप्रमाण से जो उपाय नहीं जाना जाता है, वेदवेत्ता उसे वेद से जानते हैं । प्रत्यक्ष तथा अनुमान से अज्ञात अर्थ का बोधक होने से ही वेद की वेदता (वेदत्व) है ।' यह आचार्यों का वचन है । भाव यह कि प्रत्यक्ष तथा अनुमान से अज्ञात अर्थ का निर्णय

कैश्चिदुक्तम्, 'यदि वेतरथा ब्रह्मचर्यादेव प्रव्रजेत् गृहाद्वा वनाद्वा' **(जाबालोप० ४) इतिश्रुत्या,**

"ब्राह्मणः क्षत्रियो वाऽपि वैश्यो वा प्रव्रजेद्गृहात् ।
त्रयाणामपि वर्णानाममी चत्वार आश्रमाः ॥"

स्मृत्यनुग्रहीततया क्षत्रियवैश्ययोरपि संन्यासाधिकारसिद्धेः श्रुत्यन्तरेषु ब्राह्मणग्रहणं त्रयाणामुपलक्षणम् । अत एव [६६]'अधिकारिविशेषस्य' **इति श्लोकेन वार्तिकेऽपि भाष्याभिप्रायमुक्त्वा —**

"त्रयाणामविशेषेण संन्यासः श्रूयते श्रुतौ ।
यदोपलक्षणार्थं स्याद्ब्राह्मणग्रहणं तदा ॥" ८६

इत्यनन्तरश्लोकेन स्वमते क्षत्रियवैश्ययोरपि संन्यासाधिकारो दर्शितः । तेनैव तयोरपि श्रवणाद्यधिकारसिद्धिरुक्ता ।

वेद तथा उससे अविरुद्धस्मृति से करना चाहिये । 'सिद्धान्तलेश-संग्रहग्रन्थ' में **'ब्राह्मणो निर्वेदमायात्'** इत्यादिक वेद के मूर्धन्य भाग–उपनिषदोकी श्रुतियों तथा उपनिषदों के अनुकूल मनुस्मृति में विद्यमान संन्यास के विधानों में **'ब्राह्मण'** शब्द का ही ग्रहण होने से क्षत्रिय और वैश्य के लिये संन्यास का विधान नहीं है । अन्यथा वेदान्त के श्रवण-मननादि के अनुष्ठान में अधिकारी विशेष के ज्ञान के लिये संन्यास के विधायकवाक्यों में ब्राह्मणशब्द का ग्रहण कैसे संभव था ? अतः संन्यास में ब्राह्मण का ही अधिकार है ।

किसी ने यह कहा कि—'तीनों वर्णों के लिए चारों आश्रम हैं' इस स्मृति से अनुगृहीत, **'यदि वेतरथा'** इस जाबालश्रुति से क्षत्रिय-वैश्य का भी संन्यास सिद्ध है । अतः जाबाल से अन्यश्रुतियों में ब्राह्मण शब्द का ग्रहण, तीनों वर्णों का उपलक्षण है । अर्थात् ब्राह्मण शब्द तीनों वर्णों के संन्यास का बोधक है । इसलिये ही **'अधिकारविशेषः'** इस

---

६६. 'अधिकारिविशेषस्य ज्ञानाय ब्राह्मणग्रहः ।
न संन्यासविधिर्यस्माच्छ्रुतौ क्षत्रियवैश्ययोः ॥'
(वार्तिक ३.५.८८ बृह०)

भाष्यानुयायिनां रीत्या तु अनेकेषु संन्यासविधिवाक्येषु ब्राह्मण-ग्रहणात्, उदाहृतजाबालश्रुतौ संन्यासविधिवाक्ये ब्राह्मणग्रहणाभावेऽपि श्रुत्यन्तरसिद्धं ब्राह्मणाधिकारमेव सिद्धं कृत्वा 'संन्यासावस्थायामयज्ञोपवीती कथं ब्राह्मणः' **(नारदपरि० ३.७७) इति ब्राह्मणपरामर्शाच्च ब्राह्मणस्यैव संन्यासाधिकारः।** [७०]'विरोधे त्वनपेक्ष्यं स्यादसति ह्यनुमानम्' **(पूर्व० अ० १, पा० ३, अधि० २) इति विरोधाधिकरणन्यायेन श्रुत्यविरुद्धस्यैव स्मृत्यर्थस्य सङ्ग्राह्यत्वात्।**

श्लोक से भाष्य का अभिप्राय कहकर **'त्रयाणामप्यविशेषेण'** इस बाद के श्लोक से अपने मत में क्षत्रिय, वैश्य का भी सन्यास में अधिकार दिखा दिया है। सन्यास में अधिकार होने से ही क्षत्रिय और वैश्य की भी श्रवणादि के अधिकार की सिद्धि कही गई है।

श्रीशंकराचार्यभाष्य का अनुसरण करनेवाले विद्वानों की रीति से तो, अनेक सन्यास के विधायक वाक्यों में ब्राह्मण शब्द का ही ग्रहण है तथा जाबालश्रुति में सन्यास के विधायक **'यदि वेतरथा'** इस वाक्य में ब्राह्मणपद के ग्रहण न होने पर भी अन्य श्रुतियों से सिद्ध ब्राह्मण का ही सन्यास में अधिकार को सिद्ध मानकर सन्यासावस्था में "यज्ञोपवीत से रहित ब्राह्मण कैसे ?" इस प्रश्नार्थकवाक्य में सन्यासी के लिये ब्राह्मण शब्द का परामर्श किया है। भाव यह है कि यज्ञोपवीत से रहित सन्यासी के लिये ब्राह्मण शब्द का प्रयोग उपनिषद् में किया, तो वहाँ प्रश्न किया गया है कि यज्ञोपवीत से रहित सन्यासी के लिये ब्राह्मण शब्द का प्रयोग क्यों किया ? इस प्रश्नवाक्य में यज्ञोपवीतधारी जातितः ब्राह्मण के लिये ही ब्राह्मणशब्द का प्रयोग किया है, जो 'ब्रह्म को जानता है, सो ब्राह्मण है' इस ब्रह्मवेत्तारूप ब्राह्मण के अभिप्राय से नहीं किया है। क्योंकि पुराणादिवाक्यों के श्रवण से तो शूद्र भी ब्रह्मवेत्ता हो सकता है। ऐसे ब्रह्मवेत्ता को तो

---

७०. सूत्र का अर्थ-स्मृति का श्रुति से विरोध होने पर स्मृति का अर्थ अग्राह्य होता है। श्रुति से स्मृति का विरोध न होने पर, स्मृति से श्रुति का अनुमान कर लिया जाता है। प्रसंग में त्रैवर्णिक संन्यास की प्रतिपादिका स्मृति का ब्राह्मण के ही संन्यास के

यत्तु संन्यासस्य सर्वाधिकारित्वेन वार्तिकवचनं तत्तु विद्वत्संन्यासविषयम्, न त्वातुरविविदिषादिसंन्यासे भाष्याभिप्रायविरुद्धसर्वाधिकारप्रतिपादनपरम् ।

[७१]"सर्वाधिकारविच्छेदि विज्ञानं चेदुपेयते ।
कुतोऽधिकारनियमो व्युत्थाने क्रियते बलात् ॥" ९०

यज्ञोपवीत की प्राप्ति ही संभव नहीं, तब यज्ञोपवीत से रहित को ब्राह्मण कैसे कहा ? यह प्रश्न ही संभव नहीं । यह प्रश्न तो उसी सन्यासी के लिये संभव है, जिसके सन्यास से पूर्व ब्राह्मणत्व का उपलक्षण यज्ञापवीत है । श्रुतियों में सन्यास के विधायकवाक्यों में ब्राह्मण शब्द का प्रयोग है तथा प्रश्नवाक्य में संन्यासी के लिये ब्राह्मणशब्द का परामर्श है; अतः सन्यास में ब्राह्मण का अधिकार है ।

तीनों वर्णों के सन्यास का बोधन करनेवाली स्मृति को जाबालश्रुति का अनुग्राहक कहना भी संभव नहीं, क्योंकि **'विरोधे तु'** इस विरोधाधिकरण के सूत्र के अनुसार श्रुति से अविरुद्ध ही स्मृति का अर्थ ही ग्राह्य होता है । सर्व के अधिकार को कहनेवाला जो वार्तिक का वाक्य है, वह तो विद्वत्सन्यास का बोधक है । आतुर तथा विविदिषा आदिक संन्यास में सर्व के अधिकार प्रतिपादन का बोधक नहीं है ।

प्रतिपादक श्रुतिवाक्य से विरोध है । क्योंकि श्रुति, ब्राह्मण के ही सन्यास में अधिकार की प्रतिपादक है, स्मृति तीनों वर्णोंके सन्यास के अधिकार की प्रतिपादिका है, अतः परस्पर विरोध है । श्रुति से विरुद्धस्मृति का अर्थ ही जब ग्राह्य नहीं तो स्मृति जाबालश्रुति की अनुग्राहक कैसे हो सकती है ? स्मृति के अनुग्रह बिना जाबाल उपनिषद् की सामान्यश्रुति त्रैवर्णिक सन्यास की प्रतिपादिका कैसे भी हो सकती नहीं । अतः सन्यास में ब्राह्मण का ही अधिकार है ।

७१. यदि ज्ञान सम्पूर्णाधिकारों का समाप्त करनेवाला माना जाता है, तब ज्ञान हो जाने पर संन्यास के ग्रहण का नियम क्यों थोपा जाता है ?

इत्यनन्तरश्लोकेन ब्रह्मज्ञानोदयानन्तरं जीवन्मुक्तिकाले विद्वत्संन्यास एवाधिकारनियमनिराकरणात् । तेन ब्राह्मणानामेव श्रवणाद्यनुष्ठाने संन्यासोऽङ्गम्; क्षत्रियवैश्ययोः संन्यासनिरपेक्ष एव श्रवणाद्यधिकारः। क्रममुक्तिफलक सगुणोपासनया देवभावं प्राप्तस्य श्रवणादौ संन्यासनैरपेक्ष्यस्यावश्यं वक्तव्यत्वाद् देवानां कर्मानुष्ठानाप्रसक्त्या तत्त्यागरूपस्य संन्यासस्य तेष्वसम्भवादित्याहुः । विद्वत्संन्यासोऽपि क्षत्रियवैश्ययोरलिङ्ग एव —

[७२]"मुखजानामयं धर्मो यद्विष्णोर्लिङ्गधारणम् ।
बाहुजातोरुजातानां नायं धर्मः प्रशस्यते ॥"

इतिस्मरणात् (देवलदत्तात्रेय वचनम्) ।

क्योंकि ऐसा प्रतिपादन भाष्य के अभिप्राय से विरुद्ध है । भाष्य के अभिप्राय से विरुद्ध वार्तिककार का प्रतिपादन संभव नहीं है ।

'सर्वाधिकारविच्छेदि' इस आगे के श्लोक से वार्तिककार ने ब्रह्मज्ञान की उत्पत्ति के पश्चात् जीवन्मुक्तिकाल में विद्वत्सन्यास के अधिकार के नियम का निराकरण किया है । अतः विद्वत्सन्यास में ही सर्व का अधिकार है । विविदिषा सन्यास में अधिकार न होने से सन्यास की अपेक्षा के बिना ही क्षत्रिय तथा वैश्य का वेदान्तश्रवण में अधिकार है । ब्राह्मण के समान वेदान्तश्रवण के लिये क्षत्रिय तथा वैश्य को सन्यास की अपेक्षा नहीं । क्रममुक्ति ही जिसका फल है, देवोपासना से देवभाव को प्राप्त अधिकारी को जिज्ञासा होने पर श्रवण के लिये संन्यास की अपेक्षा नहीं है, ऐसा अवश्य कहना होगा । क्योंकि देवताओं को कर्मानुष्ठान की अप्राप्ति होने से, उस कर्मानुष्ठान का विधिपूर्वक त्यागरूप सन्यास भी असंभव है । अतः देवताओं का सन्यास के बिना ही श्रवण में अधिकार है । अतः वेदान्त के श्रवण के लिये सन्यास का नियम न होने से क्षत्रिय तथा वैश्य का सन्यास के बिना भी वेदान्तश्रवण संभव है ।

---

७२. मुख से उत्पन्न ब्राह्मण का ही यह धर्म है कि वह विष्णु (नारायण) भगवान् का चिह्न दण्डादिक धारण करे । बाहु से उत्पन्न क्षत्रिय तथा ऊरु से उत्पन्न वैश्य का यह धर्म नहीं है ।

[७३]"न त्यागो न पुनर्यज्ञो न तपो मनुजेश्वर।
क्षत्रियस्य विधीयन्ते न परस्वोपजीवनम् ॥"

(शान्तिपर्वणि २२।७)

[७४]"न हि गार्हस्थ्यमुत्सृज्य तवारण्यं विधीयते।"

(शान्तिपर्वणि २३।३)

वस्तुतस्तु —

"संन्यसेद्ब्राह्मणः सम्यग्वानप्रस्थो भवेन्नृपः ।
गृहस्थश्च भवेद्वैश्य एवं वर्णक्रमः स्मृतः ॥"

"चत्वारो ब्राह्मणस्योक्ता आश्रमाः श्रुतिचोदिताः।
क्षत्रियस्य त्रयो द्वावेको वैश्यशूद्रयोः ॥"

(वृद्धयाज्ञवल्क्यः)

क्षत्रिय तथा वैश्य का विद्वत्सन्यास भी दण्डादि से रहित ही होता है। क्योंकि **'मुखजानामयं'** इस स्मृतिवचन से क्षत्रिय तथा वैश्य के लिए दण्डादिलिङ्गपूर्वक सन्यास का निषेध किया गया है। शान्तिपर्व में भी **'न त्यागो'** इत्यादि दो श्लोकों से क्षत्रिय के संन्यास का निषेध किया है।

वस्तुतः **'सन्यसेद्ब्राह्मणः'** इत्यादिक अन्य स्मृतियों में भी श्रुति से विहित चार आश्रम ब्राह्मण के, तीन क्षत्रिय के, दो वैश्य के कहे हैं तथा एक आश्रम ही शूद्र का कहा है। इन स्मृतियों के कथन के अनुसार ही अन्य स्मृतियों का अर्थ जानना चाहिये।

---

७३. हे राजन्! क्षत्रिय के लिये त्याग, यज्ञ, तप और दूसरे के धनं से (भिक्षा से) जीवन व्यतीत करना यह सर्व विहित नहीं है।

७४. हे राजन्! गृहस्थ आश्रम का त्यागकर आपके लिये अरण्य (संन्यास) विहित नहीं है।

"ब्राह्मणस्य तु चत्वारस्त्वाश्रमा विहिताः प्रभो ।
वर्णास्तान्नानुवर्तन्ते त्रयो भारतसत्तम ॥"

(शान्ति० ६२.२)

इत्यादि स्मृत्यन्तरे ब्राह्मणस्य चत्वार आश्रमाः, राजन्यस्य त्रयः, वैश्यस्य द्वौ शूद्रस्यैक इत्युक्तत्वात् तदविरोधेनैवार्थो वेदितव्यः ।

यत्तु —

[७५]"वानप्रस्थं द्विजातीनां त्रयाणामुपदिश्यते ।
सर्वेषामेव वर्णानां गार्हस्थ्यं तद्विधीयते ॥"

(महा० आश्व० ३५.४३)

[७६]"शुश्रूषोः कृतकार्यस्य कृतसन्तानकर्मणः ।
अभ्यनुज्ञातराजस्य शूद्रस्य जगतीपते ॥

'वानप्रस्थं द्विजातीनां', 'शुश्रूषोः कृतकार्यस्य' इस स्मृति में जो शूद्र के लिये एक ब्रह्मचर्य आश्रम कहा है, वह मैथुन का त्यागरूप ही है न कि वेदाध्ययनादिक । क्योंकि वेद का अध्ययन आदिक शूद्र के लिये निषिद्ध है । वैश्य के लिये वानप्रस्थ का उल्लेख भी वन में वास तथा ग्राम के भोजन के त्याग के अभिप्राय से है, न कि वानप्रस्थ आश्रम के । उसी प्रकार क्षत्रिय, वैश्य के लिये कहीं संन्यास का कथन हो तो वहाँ भी संन्यास शब्द का अर्थ विक्षेप देनेवाले कर्मों का परित्याग ही समझना चाहिये न कि लिङ्गसन्यास । ब्राह्मण से अतिरिक्त के लिये श्रुति तथा स्मृतियों में सलिंग-सन्यास का निषेध है ।

---

७५. ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य तीनों वर्णों के लिये वानप्रस्थ का उपदेश है । गृहस्थाश्रम का विधान तो शूद्र-पर्यन्त चारों ही वर्णों के लिये है ।

७६. "पृथ्वीनाथ ! जो शूद्र तीनों वर्णों की सेवा करके कृतार्थ हो गया है, जिसने पुत्र उत्पन्न कर लिया है, शौच और सदाचार की दृष्टि से जिसमें अन्य त्रैर्वणिकों की अपेक्षा वहुत ही कम अन्तर रह गया है अथवा जो मनुप्रोक्त धृति, क्षमा, मनोनिग्रह,

अल्पान्तरगतस्यापि दशधर्मगतस्य वा ।
आश्रमा विहिताः सर्वे वर्जयित्वा निराशिषम् ।।
भैक्ष्यचर्यां ततः प्राहुस्तस्य तद्धर्मचारिणः ।
तथा वैश्यस्य राजेन्द्र राजपुत्रस्य चैव हि ।।
कृतकृत्यो वयोऽतीतो राज्ञः कृतपरिश्रमः ।
वैश्यो गच्छेदनुज्ञातो नृपेणाश्रमसंश्रयम् ।।"

(महा० शान्ति० ६३.१२–१५)

तत्तु, मैथुनत्याग एव ब्रह्मचर्यं न वेदाध्ययनादिकं, तस्य निषिद्धत्वात् । वानप्रस्थपदेनापि ग्राम्यभोजनत्यागरूप एव, तथैव सकलकर्मत्यागरूप विक्षेपनिवारण एव संन्यासः संन्यासपदेन ग्राह्यो न तु चतुर्थाश्रमरूपः, श्रुतिस्मृतिनिषिद्धत्वात् । 'अत्र निराशिषं शान्तिदान्त्यादिकल्याणगुणरहितम्' इति नीलकण्ठः ।

शूद्रोऽपि नैष्ठिकं ब्रह्मचर्यं वानप्रस्थं वा सकलविक्षेपककर्मत्यागरूपं सन्यासं वाऽनुतिष्ठेदेव —

शूद्र भी नैष्ठिकब्रह्मचर्य, वानप्रस्थ अथवा विक्षेपदायक सर्वकर्मों का त्यागरूप सन्यास को करे; क्योंकि **'आश्रमा विहिताः सर्वे'** इस

चोरी का त्याग, बाहर-भीतर की पवित्रता, इन्द्रियों का निग्रह, सात्त्विकबुद्धि, सात्त्विकज्ञान, सत्यभाषण और क्रोध का अभाव दशधर्मों के पालन में तत्पर रहा है, वह शूद्र यदि राजा की आज्ञा-अनुमति प्राप्त कर ले तो उसके लिये संन्यास को छोड़ कर शेष सभी आश्रम विहित हैं । राजेन्द्र ! पूर्वोक्त धर्मों का आचरण करनेवाले शूद्र के लिये तथा वैश्य और क्षत्रिय के लिये भी भिक्षा माँगकर निर्वाह करने का विधान है । अपने वर्णधर्म का दृढ़तापूर्वक पालन करके कृतकृत्य हुआ वैश्य अधिक अवस्था व्यतीत हो जाने पर राजा की आज्ञा लेकर क्षत्रियोचित वानप्रस्थ आश्रम का ग्रहण करे ।

विशेष—उक्त अनुज्ञा से भी यही तथ्य ध्वनित होता है कि जैसे अध्ययनादि क्षत्रियादि के लिये प्रशस्त नहीं, वैसे ही संन्यासादि उच्चवर्णों के लिये विहित आश्रम का ग्रहण भी प्रशस्त नहीं ।

'आश्रमा विहिताः सर्वे वर्जयित्वा निराशिषम् ।'

(शान्तिपर्वणि ६३.१३)

अत्र 'निराशिषं' 'सन्यासं वर्जयित्वा अन्ये आश्रमा विहिताः' इति स्पष्टार्थः ।

'वेदानधीत्य धर्मेण राजशास्त्राणि चानघ ।
सन्तानादीनिकर्माणि कृत्वा सोमं निषेव्य च ।।
पालयित्वा प्रजाः सर्वा धर्मेण वदतांवर ।
राजसूयाश्वमेधादीन्मखानन्याँस्तथैव च ।।
आनयित्वा यथापाठं विप्रेभ्यो दत्तदक्षिणः ।
संग्रामे विजयं प्राप्य तथाऽल्पं यदि वा बहु ।।
स्थापयित्वा प्रजापालं पुत्रं राज्ये च पाण्डव ।
अन्यगोत्रं प्रशस्तं वा क्षत्रियं क्षत्रियर्षभ ।।
अर्चयित्वा पितॄन् सम्यक् पितृयज्ञैर्यथाविधि ।
देवान्यज्ञैर्ऋषीन्वेदैरर्चयित्वा तु यत्नतः ।।''

श्लोक में सन्यास को छोड़कर सर्व आश्रमों का स्पष्ट विधान है ।

"हे निष्पाप राजन् ! राजा को चाहिये कि पहले धर्माचरण-पूर्वक वेदों तथा राजशास्त्रों का अध्ययन करे ! फिर सन्तानोत्पादन आदि कर्म करके यज्ञ में सोमरस का सेवन करे ।"

"समस्त प्रजाओं का धर्म के अनुसार पालन करके राजसूय, अश्वमेध तथा दूसरे-दूसरे यज्ञों का अनुष्ठान करे ।"

"शास्त्रों की आज्ञा के अनुसार सर्व सामग्री एकत्र करके ब्राह्मणों को दक्षिणा दे । संग्राम में अल्प अथवा महान् विजय पाकर राज्य पर प्रजा की रक्षा के लिये अपने पुत्र को स्थापित करदे । पुत्र न हो तो दूसरे गोत्र के किसी श्रेष्ठ क्षत्रिय को राज्य सिंहासन पर अभिषिक्त कर दे ।"

"पितृयज्ञों द्वारा विधिपूर्वक पितरों का, देवयज्ञों द्वारा देवताओं का तथा वेदों के स्वाध्याय द्वारा ऋषियों का पूजन करके अन्त काल आने पर जो क्षत्रिय दूसरे आश्रमों को ग्रहण करने की इच्छा

अन्तकाले च सम्प्राप्ते य इच्छेदाश्रमान्तरम् ।
सोऽनुपूर्व्याश्रमान् राजन् गत्वा सिद्धिमवाप्नुयात् ।।
राजर्षित्वेन राजेन्द्र भैक्ष्यचर्यां न सेवया ।
अपेतगृहधर्मोऽपि चरेज्जीवितकाम्यया ।।
न चैतन्नैष्ठिकं कर्म त्रयाणां भूरिदक्षिण ।
चतुर्णां राजशार्दूल प्राहुराश्रमवासिनाम् ।।"

(शान्तिपर्व० ६३.१६-२३)

राजा ऋषित्वेन मन्त्रार्थद्रष्टृत्वेन वेदान्तश्रवणकर्तृत्वेन हेतुना भैक्षचर्यामिच्छेत् । न तु सेवया श्रवणमकुर्वन्नान्नमात्रार्थम् । तत्कुर्वंस्तु जीवितकांक्षया भैक्ष्यचर्यां चरेदेव । एतद् भैक्ष्यं त्रयाणां राजादीनां नैष्ठिकं नित्यं, तेषामाश्रमसन्यासो नित्यो नास्ति, अपि तु विक्षेपक-कर्मत्यागरूपः काम्य एवास्तीत्यर्थः । स च चतुर्णामप्याश्रमाणा-मस्तीतिप्राहुः ।

"अभयं सर्वभूतेभ्यो दत्त्वा यः प्रव्रजेद्द्विजः ।
लोकास्तेजोमयास्तस्य प्रेत्य चानन्त्यमश्नुते ।।"

(शान्ति० २४४।२८)

करता है, वह क्रमशः आश्रमों को अपना कर परमसिद्धि को प्राप्त होता है।"

"गृहस्थधर्म का त्यागकर देनेपर भी क्षत्रिय को ऋषिभाव से वेदान्तश्रवणादि सन्यासधर्म का पालन करते हुए जीवनरक्षा के लिये भिक्षा का आश्रय लेना चाहिए, सेवा कराने के लिये नहीं।"

"पर्याप्त दक्षिणा देनेवाले राजेन्द्र! यह भैक्ष्यचर्या क्षत्रिय आदि तीन वर्णों के लिये नित्यकर्म अथवा अनिवार्यकर्म नहीं है। चारों आश्रमवासियों के लिये उनका यह कर्म ऐच्छिक ही बताया गया है।"

क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र के लिये भिक्षाचरण नित्य अथवा अवश्य कर्तव्य नहीं है, अर्थात् उनके लिये आश्रम संन्यास नित्य नहीं है। विक्षेप देनेवाले कर्मों का त्यागरूप संन्यास भी काम्य ही है। ऐसा संन्यास तो चारों वर्णों को ही है, ऐसा विद्वान् कहते हैं।

"कषायं पाचयित्वाऽऽशु श्रेणिस्थानेषु च त्रिषु ।
प्रव्रजेच्च परं स्थानं पारिव्राज्यमनुत्तमम् ॥"

(महा० शान्ति० २४५.३)

इत्यत्र तु द्विजः[७७] ब्राह्मण एव, 'ब्राह्मणः प्रव्रजेदि'त्यादि श्रुतिभ्यः । यतः क्षत्रिय वैश्यादीनां संन्यासबोधिका श्रुतिः काचिन्नोपलभ्यते ।

सिद्धान्तलेशसङ्ग्रहेऽपि स्मृतिरेव त्रैवर्णिकानां संन्यासबोधिकोक्ता । तस्या अपि श्रुत्यनुसारेणैव नयनमुक्तम् । राजधर्मोक्त सर्वाश्रम-

---

"जो ब्राह्मण सम्पूर्ण प्राणियों को अभयदान देकर संन्यासी हो जाता है, वह मरने के पश्चात् तेजोमय लोकों में जाता है और अन्त में मोक्ष प्राप्त कर लेता है ।"

"पङ्क्तिक्रम से स्थित पूर्वोक्त तीन आश्रम ब्रह्मचर्य, गृहस्थ और वानप्रस्थ में चित्त के राग-द्वेष आदि दोषों को पकाकर—उन्हें नष्ट करके शीघ्र ही सर्वोत्तम चतुर्थ आश्रम संन्यास को ग्रहण कर ले ।"

सिद्धान्तलेशग्रंथ में भी त्रैवर्णिकसंन्यास की बोधिका स्मृति ही कही है, श्रुति नहीं कही । उस स्मृति की भी श्रुति के अनुसार ही गति

---

७७. महाभारत में इससे पूर्व परिव्राजकों के आचार का वर्णन करके विप्र अर्थात् ब्राह्मण के लिये ही संन्यास का वर्णन किया गया है—परिव्राजकानां पुनराचारः—तद् यथा विमुच्याग्नि धनकलत्रपरिवर्हणं. संगेष्वात्मनः स्नेहपाशानवधूय परिव्रजन्ति । ....

भवति चात्र श्लोकः —

अभयं सर्वभूतेभ्यो दत्त्वा यश्चरते मुनिः ।
न तस्य सर्वभूतेभ्यो 'भयमुत्पद्यते क्वचित् ॥
कृत्वाग्निहोत्रं स्वशरीरसंस्थं शारीरमग्निं स्वमुखे जुहोति ।
विप्रस्तु भैक्ष्योपगतैर्हविर्भिश्चिताग्निनां स व्रजते हि लोकम् ॥

(महा० शान्ति० १९२.३-५)

विधानन्तु नीलकण्ठीयव्याख्यानुसारेण भैक्ष्यं विक्षेपककर्मत्यागरूपमेव न तु संन्यासरूपम् ।

भिक्षुकीतिपदेन जीवनयात्रार्थं भिक्षाचर्या ध्यानधारणादिकमेव सिद्ध्यति न तु दण्डग्रहणादिकम्, श्रुतिविरुद्धत्वात् ।

सुलभाया दण्डस्मरणमप्यलीकमेव । गो-सर्पनिवारणार्थं नील-कण्ठचतुर्धरेण भिक्षुकीतिस्मरणादेव [७८]तत्कल्पितम् (महा० शान्ति० ३२०.१५,१६) ।

कह दी है । राजधर्म में सर्वाश्रम का विधान है, परन्तु वहाँ भैक्ष्यशब्द का अर्थ नीलकण्ठ जी की, की हुई व्याख्या के अनुसार विक्षेप देनेवाले कर्मों का त्यागरूप ही है; संन्यासरूप नहीं ।

'सुलभा' के लिये जो भिक्षुकी पद का प्रयोग हुआ है, उस भिक्षुकी पद से जीवनयात्रा के लिये भिक्षा का आचरण तथा ध्यान-धारणादिक ही सिद्ध होता है, दण्डग्रहणादिपूर्वक सन्यास सिद्ध नहीं होता; क्योंकि दण्डधारणादि श्रुति से विरुद्ध अर्थ को महाभारत का 'भिक्षुकी'पद नहीं कह सकता ।

---

७८. महाभारत के इस प्रसंग से यह विदित होता है कि 'सुलभा' प्रधान नामक राजर्षि के कुल में व्यक्त हुई थी । सुकुमारता, सौन्दर्य, मनोहरशरीर और उत्तम-वय होने पर भी स्वानुरूप वर न मिलने के कारण उसने मोक्षधर्म की शिक्षा ग्रहण की । वह मुनिव्रत धारण करके अकेली विचरण करती थी । एक तो वह धर्मयुग था और दूसरा तथ्य यह था कि वह योगसिद्धि से सम्पन्न थी और अखण्ड ब्रह्मचर्य का पालन करनेवाली थी । भिक्षावृत्ति से जीवननिर्वाह करती थी । 'त्रिदण्डके' (श्लोक १६) कहने से ऐसा ध्वनित-सा होता है कि वह त्रिदण्डी थी । यदा-कदा त्रिदण्डी स्वामियों से मोक्षधर्म की चर्चा भी करती थी । उन्हीं स्वामियों के श्रीमुख से राजर्षि जनक की मोक्षधर्म में आस्था को सुनकर उनके पास आयी । उनसे सत्कृत होकर उनके शरीर में सूने घर में संन्यासी के तुल्य एक रात रुककर अभीष्टस्थान की ओर चली गयी ।

राजा जनक के शरीर में जब वह नेत्रमार्ग से योगबल का आलम्बन लेकर प्रविष्ट हुई तब उन्होंने उसके उग्र कृत्यपर कई प्रकार की आपत्ति की। यथा —

(१) यदि आप वर्णों में श्रेष्ठ ब्राह्मणकुल की कन्या हैं तो मेरे शरीर में प्रवेशकर–मेरे साथ संयुक्त होकर, **'वर्ण-संकर-दोष'** को चरितार्थ कर रही हैं।

(२) मोक्षधर्म के अनुसार बर्ताव करनेवाली होने से आप आश्रमश्रेष्ठ हैं। मुझ गृहस्थ से संयुक्त होकर कष्टकर **'आश्रम-संकर-दोष'** को मत चरितार्थ करें।

(३) कदाचित् आप सगोत्रा हैं, तब तो आपने स्पष्ट ही **'गोत्र-संकर-दोष'** को जन्म दिया है।

(४–५) कहीं आप विधवा तो नहीं हैं? कहीं पति-सानिध्य-प्राप्त अथवा प्रोषित-भर्तृका (पति के परदेश चले जाने की स्थिति में) विवाहिता होती हुई भी आपने मेरा स्पर्श किया है, तब तो स्पष्ट ही **'धर्म-संकर-दोष'** से आप दूषित हो रही हैं।

(६–७) आपने योगतुल्य अमृत के साथ भोगतुल्य विषसेवन कर **'योग–भोग–सांकर्य–दोष'** को जन्म दिया है। माना कि आप मेरी इच्छा करती हैं, पर मैं तो आपको इस दृष्टि से नहीं चाहता, फिर संयोगसुख के रहस्य को न जानकर उतावली होकर जो मेरा स्पर्श किया है, वह अमृत और विष-सम्मिश्रण तुल्य **'सुरति-सांकर्य-दोष'** है।

विज्ञ विचारकों को विचार करना चाहिये कि यदि जनक की दृष्टि में 'सुलभा' सर्वथा संन्यासी (संन्यासिनी) ही होती–उसका वेषादि सर्वथा संन्यासाश्रमोचित ही होता, तो विज्ञ धर्मज्ञ जनक का यह प्रश्न कदापि नहीं बनता कि 'कहीं आप प्रोषित-भर्तृका या पति सानिध्य-प्राप्त होने पर भी पतिविमुख होकर मेरे शरीर में प्रवेश तो नहीं कर गयी हैं (६१)?' तब इतर दोषों का उल्लेख ही उचित होता।

इससे स्पष्ट सिद्ध है कि वैधव्य प्राप्त या प्रोषितभर्तृका अथवा अविवाहिता के तुल्य गार्हस्थ्य जीवन से विलक्षणजीवन के द्योतक काषाय (मलिन) वस्त्रादि बाह्य चिह्नों से ही वह युक्त थी। जब

स्त्रियोंका गुरुकुल वास ही नहीं है, तब विवाह से पूर्व ब्रह्मचर्याश्रमोचित दण्डादिका परिग्रह भी सम्भव नहीं। जब यज्ञोपवीत ही नहीं, तब उसके अत्याग या त्याग से सम्पन्न कुटीचक, बहूदक और हंस-परमहंस कोटिका सन्यास भी स्त्रियों के लिये सम्भव नहीं। रही बात त्रिदण्ड की। वह तो तिल से निष्पन्न तेल के लिये ही प्रयुक्त होने योग्य 'तैल' शब्द जैसे सरसों आदि से निर्मित तेल के लिये भी प्रशस्त है; तद्वत् 'त्रिदण्ड' पथकी दुर्गमता के वारण के लिये और गृहस्थोचित जीवन से विलक्षण जीवन के सूचन के लिये ही गृहीत मान्य है। संस्कृतत्रिदण्ड के अर्थ में वह प्रयुक्त नहीं है। अभिनय के लिये गृहीत दण्ड भी अभिनय काल में सन्यास का ही सूचक होता है। फिर **विधिविरुद्ध या अपवाद कोटिके ऐतिह्य तथ्य को प्रमाण मानकर प्रशस्त और प्रामाणिक तथ्य का अपलाप सर्वथा अनुपयुक्त है।** ऐसी स्थिति में श्रीचतुर्धर जी का निम्नलिखित वचन फलवलकल्प्य होने पर भी स्पष्टवचन के अननुरूप है और पूर्वनिर्णीत तथ्य के विरूप भी—'भिक्षुकी' इति अनेन स्त्रीणामपि प्राग् विवाहाद्वैधव्यादूर्ध्वं वा, संन्यासेऽधिकारोऽस्ति इति दर्शितम्। तेन भिक्षाचर्यं मोक्षशास्त्रश्रवणं, एकान्ते आत्मध्यानं च ताभिरपि कर्तव्यम्, त्रिदण्डादिकं च धार्यम् (महा० शान्ति० ३२०.७ नीलकण्ठी)।

'ननु क्षत्रियस्य संन्यासेऽधिकारो नास्ति इति चेत्, लिङ्गधारणाऽभावेऽपि भरतऋषभादिवद् विक्षेपकर्मत्यागमात्रेऽधिकारात् (नीलकण्ठी, गीता ३.२०)।

इसी रीति से 'जीवन्मुक्तिविवेक' कारके निम्नलिखित वचन की सङ्गति भी साधनी चाहिये—

"भिक्षुकीत्यनेन स्त्रीणामपि प्राग्विवाहाद्वावैधव्यादूर्ध्वं संन्यासेऽधिकारोऽस्तीति दर्शितम्। तेन भिक्षाचर्यं, मोक्षशास्त्रश्रवणम्, एकान्त आत्मध्यानं च ताभिः कर्तव्यं, त्रिदंण्डादिकं च धार्यम्। इति मोक्षधर्मे चतुर्धरी टीकायां सुलभाजनकसंवादः। शारीरकभाष्ये वाचक्नवीत्यादि श्रूयते। देवताधिकरणन्यायेन विधुरस्याधिकारप्रसङ्गत्वेन तृतीयाध्याये चतुर्थपादे (जीवन्मुक्तिप्रमाणप्रकरणम्)।"

कात्यायनवचनं न कात्यायन श्रौतसूत्रादावुपलभ्यते। कोशादावुपलम्भेऽपि श्रुतिविरोधात् सिद्धान्तलेशोक्त स्मृत्यनुसारिण्येव तस्यापि गतिः।

यत्तु कूर्मे वंशकीर्तनप्रस्तावे द्वादशाध्याये श्वेताश्वतरमुनिना सुशीलो राजा शिष्यत्वेन गृहीत इत्युक्तम्, यथा —

सोऽनुगृह्याथ राजानं सुशीलं शीलसंयुतम्।
शिष्यत्वे परिजग्राह तपसा क्षीणकल्मषम्॥
संन्यासिकं विधिं कृत्स्नं कारयित्वा विचक्षण।
ददौ तदैश्वरं ज्ञानं स्वशाखाविहितं व्रतम्॥

त्रैवर्णिकसंन्यास का बोधक कात्यायनऋषि का वचन भी कात्यायनश्रौतसूत्रादिस्थल में नहीं मिलता है। कोशादिकों में त्रैवर्णिकसंन्यास का बोधकवचन मिलने पर भी श्रुति से विरोध होने से सिद्धान्तलेश में कथन की गई स्मृति के अनुसार ही उस वचन की भी गति समझलेनी चाहिये। अर्थात् श्रुतिसे विरुद्ध होने से अग्राह्य है।

ध्यान रहे, आनन्दाश्रमसंस्कृतग्रन्थावलिः ग्रंथांकः २० पृ० ३ के अनुसार ये पक्तियाँ प्रक्षिप्त मानी गई हैं। प्रामाणिक चार प्रतियों में ये नहीं हैं। ×क. ख. ग.घ. **पुस्तकेषु भिक्षुकीत्यारभ्यात एव चतुर्थपाद इत्यन्तो ग्रन्थो नहि। अयं चाधिकोऽसंगतश्च।**

वस्तुतः यह आख्यायिका पञ्चशिख–जनकसंवाद के प्रसंग में 'स्थूलदेह से ही नहीं, अपितु सूक्ष्मदेह से भी आत्मा अतीत–अतिरिक्त ही है।' इस तथ्य के प्रतिपादन में प्रयुक्त है। इसी संदर्भ में राजा के शरीर में सुलभा का प्रवेश और निवास भी चरितार्थ है। अभिप्राय यह है कि एक घर में जैसे दो व्यक्ति का निवास संभव है, वैसे ही सूक्ष्मदेह में भी दो जीव का अवस्थान संभव है। आत्मा देहद्वय से भिन्न ही है।

एतदाख्यानतात्पर्यं तु एकस्मिन्गेहे इव लिङ्गदेहेऽपि द्वयोर्जीवयोरवस्थानं भवति तेन स्थूलसूक्ष्मदेहौ गृहवज्जीवस्यानात्मानावित्युक्तम्।" (नीलकण्ठी शान्ति० ३३०।२०)

७९"अशेषवेदसारं तत् पशुपाशविमोचनम् ।
अत्याश्रम इति ख्यातं ब्रह्मादिभिरनुष्ठितम् ॥"

इत्यादि पृथुपुत्रे सुशीले क्षत्रियप्रवरे विधिना सन्यासोपन्यास-श्रवणं मोक्षधर्मे सुलभायाः क्षत्रियायाः दण्डधारणश्रवणं चेति तदपि यत्किञ्चित् । तत्र संन्यासपदेन पाशुपतव्रतस्यैवोक्तत्वात् । सन्यास-दीक्षा संन्यासिनैव दीयते । प्रकृते तु संन्यासदाता श्वेताश्वतरो न संन्यासी तस्य यज्ञोपवीतित्वस्मरणात् —

"श्वेताश्वतरनामानं महापाशुपतोत्तमम् ।
भस्मसन्दिग्धसर्वाङ्गं कौपीनाच्छादनान्वितम् ॥

और जो कूर्मपुराण में वंश के कथन के प्रसंगमें बारहवें अध्याय में यह कहा है कि श्वेताश्वतरमुनि ने सुशील नामक राजा को अपना शिष्य वनाया है, जैसा कि **'सोऽनुगृह्य'** इत्यादि श्लोक से सिद्ध है । "हे विचक्षण ! श्वेताश्वतरमुनि ने अनुग्रह करके तप से नष्ट पापवाले शीलयुक्त सुशील नामवाले राजा को अपने शिष्यरूप में ग्रहण किया । सम्पूर्ण संन्यास की विधि को कराकर शिव सम्बन्धिज्ञान तथा अपनी शाखा में विधान किया हुआ व्रत प्रदान किया ।"

पृथुमहाराज के पुत्र, क्षत्रिय श्रेष्ठ, सुशील राजा विषयक संन्यास का श्रवण तथा मोक्षधर्म में क्षत्रियजाति वाली सुलभा का दण्डधारण करने का श्रवण है, वह भी ब्राह्मण से अतिरिक्त के संन्यासग्रहण करने में साधक नहीं । क्योंकि राजा सुशील के प्रकरण में संन्यासशब्द से पाशुपतव्रत ही कहा गया है, न कि वैदिक संन्यास । संन्यास की दीक्षा तो संन्यासी के ही द्वारा दी जाती है । राजा के प्रकरण में तो सन्यास देनेवाले श्वेताश्वतरमुनि सन्यासी नहीं थे, क्योंकि **'तपसा दर्शितात्मानं शुक्ल यज्ञोपवीतिनम्'** इस श्लोक में उनको यज्ञोपवीत

---

७९. राजा सुशील को व्रतादि के सहित पाशुपत दीक्षापूर्वक जो शिव सम्बन्धि ज्ञान दिया था, वह सर्व वेदों का सार तथा जीवों को बन्धन से मुक्त करनेवाला था । उसका ही अत्याश्रम नाम था, वह ब्रह्मादि के द्वारा भी पालन किया गया है ।

"तपसा दर्शितात्मानं शुक्लयज्ञोपवीतिनम् ।
समाप्यसंस्तवं शम्भोरानन्दाश्रुविचक्षणः ॥"

इत्यादि सन्दर्भे "'शुक्लयज्ञोपवीतिनमि'ति पाठदर्शनात् । न हि संन्यासी यज्ञोपवीती भवति तत्र पाशुपतदीक्षाविधानमेव संन्यासविधित्वमितिमन्तव्यम् । अत्याश्रमपदमपि तत्रैव प्रयुक्तमिति मन्तव्यम् ।

धारण करनेवाला कहा गया है। सन्यासी यज्ञोपवीत धारण करने वाला होता नहीं। राजा के प्रकरण में पाशुपतदीक्षा का विधान ही सन्यासविधि माननी चाहिये। अत्याश्रमपद भी पाशुपत दीक्षा के विधान के लिये ही प्रयोग किया गया है, ऐसा मानना चाहिये। रघु आदि राजाओं के सन्यास का श्रवण पुराणादिकों में मिलता नहीं है। इसलिये ही कालिदास जी ने शरीरान्त के समय रघु आदि परम धर्मात्मा राजाओं को योग से ही शरीर त्यागनेवाला कहा है, सन्यास लेकर शरीर त्यागनेवाला नहीं कहा। अतः सिद्ध होता है कि क्षत्रियों को सन्यास का विधान नहीं। सुलभा का दण्डग्रहण भी निष्प्रमाण है।

---

८०. **'संन्यासावस्थायामयज्ञोपवीती कथं ब्राह्मणः'** (नारद परिव्रा० ३.७७) इस श्रुति के अनुसार संन्यासी यज्ञोपवीती नहीं होता। कदाचित् **'कुटीचको शिखा यज्ञोपवीती दण्डकमण्डलुधरः'**(नारद परि० ५.१), **'शिखी यज्ञोपवीतीस्यात्त्रिदण्डी सकमण्डलुः'** (सूत संहिता २.६.३-५) इन वचनों के अनुसार यज्ञोपवीती कुटीचकादिको और अयज्ञोपवीती हंसादिको मानें तो भी ब्राह्मण का ही सन्यास में अधिकार सिद्ध होता है। **'कथं ब्राह्मणः'** से यह स्पष्ट है कि यदि प्रकृत में क्षत्रिय और वैश्य का भी संन्यास में अधिकार होता तो अयग्योपवीती ब्राह्मण के लिये **'कथं ब्राह्मणः'** के समान **'कथं क्षत्रियः'**, **'कथं वैश्यः'** ऐसा भी सुना जाता। क्योंकि ऐसा नहीं सुना जाता है, अतः उनका संन्यास में अधिकार नहीं है। ऐसी स्थिति में श्वेतयज्ञोपवीत धारण करने के कारण श्वेताश्वतर गृहस्थ ही मान्य हैं। कदाचित् वे कुटीचक कोटि के संन्यासी मान भी लिये जाँय तो भी ब्राह्मणेतर का संन्यास में अधिकार न होने से शिष्य पाशुपतदीक्षा नामक

रघ्वादीनामपि राज्ञां न सन्यासश्रवणम्। अत एव कालिदासेनापि [८१]'योगेनान्ते तनुत्यजाम्' (रघु० १.८) इत्युक्तम्।

किञ्च महाभारते निर्वेदाद्युधिष्ठिरेण राज्यनिराचिकीर्षता यदुक्तम् —

[८२]"अथवैकोऽहमेवात्र वनेष्वस्मिन् वनस्पतौ।
चरन्भैक्ष्यं मुनिर्मुण्डः क्षपयिष्ये कलेवरम्॥

उनके जिस दण्ड का वर्णन है वह तो गो-सर्प के निवारण के लिये नीलकण्ठचतुर्धर ने भिक्षुकी शब्द के आधार पर कल्पना किया है। वस्तुतः सुलभा ने दण्ड नहीं लिया।

संन्यासदीक्षा से ही सम्पन्न मान्य है। 'यज्ञोपवीती ब्राह्मण भी संन्यास की दीक्षा दे सकता है' यह कथन अप्रशस्त होने से अश्लाघ्य है। शास्त्रों में अवरवर्ण और आश्रम के व्यक्ति को गुरु बनाना उत्कृष्ट नहीं माना गया है (द्रष्टव्य महा० शान्ति० ३२०,५९.६०, सूतसंहिता ३.५)। 'कुटीचक और बहूदक ब्राह्मणेतर भी हो सकता है।' यह कथन भी उचित नहीं। **'न्यसेद्विप्रः कुटीचके'** (सूत० २.४.३०)='मुमुक्षा हीन और अशक्त ब्राह्मण कुटीचक संन्यास ग्रहण करे।' इस वचन के अनुसार कुटीचक और बहूदक यद्यपि शिखासूत्रधारी होते हैं; परन्तु वर्ण से ब्राह्मण ही।

८१. "शैशवेऽभ्यस्तविद्यानां यौवने विषयैषिणाम्।
वार्धके मुनिवृत्तीनां योगेनान्ते तनुत्यजाम्॥"
(रघुवंश १.८)

"(रघुवंशी राजा लोग) बालकपन में विद्याभ्यास करनेवाले, युवावस्था में भोग की इच्छावाले, वृद्धावस्था में मुनिवृत्तिवाले और अन्त में योग से शरीर त्याग करनेवाले होते थे॥"

८२. अथवा मैं मूड़ मुड़ाकर मननशील संन्यासी हो जाऊँगा एक-एक दिन एक-एक वृक्ष से भिक्षा माँगकर अपने शरीर को सुखा दूँगा।

[८३]पांसुभिः समभिच्छन्नः शून्यागारप्रतिश्रयः ।
वृक्षमूलनिकेतो वा त्यक्तसर्वप्रियाप्रियः ॥
[८४]न शोचन्न प्रहृष्यँश्च तुल्यनिन्दात्मसंस्तुतिः ।
निराशीर्निर्ममो भूत्वा निर्द्वन्द्वो निष्परिग्रहः ॥
[८५]आत्मारामः प्रसन्नात्मा जडान्धबधिराकृतिः ।
अकुर्वाणः परैः काञ्चित्संविदं जातुकैरपि ॥
[८६]जङ्गमाजङ्गमान्सर्वानविहिंसँश्चतुर्विधान् ।

(शान्तिपर्व ९.१२-१५½)

तत्तु अर्जुनस्येव तस्यापि दुःखान्मोहाद्वा तथोक्तिः । अत एव त्रयोविंशेऽध्याये व्यासवचनम् —

महाभारत में वैराग्य के कारण राज्य न चाहनेवाले युधिष्ठिर ने 'अथवैकोहं' इत्यादि श्लोक से जो कुछ कहा है, वह अर्जुन की तरह दुःख तथा मोह के कारण है न कि यथार्थ । इसलिये ही २३वें अध्याय में व्यास का वचन है कि–'हे युधिष्ठिर गृहस्थ का परित्याग करके आपके लिए संन्यास का विधान है नहीं ।' तथा 'हे राजेन्द्र ! क्षत्रिय का धर्म दण्ड देना है। मुण्डन (संन्यास) क्षत्रिय का धर्म नहीं है।'

---

८३. धूल से आच्छन्न किसी शून्य स्थान अथवा वृक्ष की जड़ को ही अपने रहने का स्थान बनाऊँगा। सर्व प्रिय तथा अप्रिय का त्यागी होकर रहूँगा।

८४. शोक-मोह को त्यागकर स्तुति तथा निन्दा को समान मानता हुआ, आशा और ममता को त्यागकर निर्द्वन्द्व हो जाऊँगा तथा कभी किसी वस्तु का, संग्रह नहीं करूँगा।

८५. आत्मा के चिन्तन में ही सुख का अनुभव करूँगा। मनको सदा प्रसन्न रखूँगा। कभी किसी दूसरे के साथ कोई बातचीत नहीं करूँगा। गूँगे, अन्धों और बहिरों के समान न किसी से कुछ कहूँगा, न किसी को देखूँगा और न किसी की सुनूँगा।

८६. चार प्रकार के समस्त चराचर प्राणियों में से किसी की हिंसा नहीं करूँगा।

"न हि गार्हस्थ्यमुत्सृज्य तवारण्यं विधीयते।"
(शान्तिपर्व २३।३)

तथा —

"दण्ड एव हि राजेन्द्र क्षत्रधर्मो न मुण्डनम्।"
(शान्तिपर्व २३।४७)

यदुक्तम् —

"आतुराणाञ्च सन्यासे न विधिर्नैव च क्रिया।
प्रैषमात्रं समुच्चार्य सन्यासं तच्च पूरयेत् ॥"

इति भारतवाक्यम्, तदसत्। भारते तदर्शनात्[८७]। श्रुतिष्वातुरेऽपि विधिर्दर्शनाच्च—'आतुरो जीवति चेत्क्रमसंन्यासः कर्तव्यः।' (नारद परि० ५, संन्यासोप० ५६)।

'यद्यातुरः स्यान्मनसा वाचा संन्यसेत्' (जाबालोप० ५), "कर्मसंन्यासोऽपि द्विविधः निमित्तसंन्यासोऽनिमित्तसंन्यासश्चेति। निमित्तस्त्वातुरः, अनिमित्तः क्रमसन्यासः। आतुरः सर्वकर्मलोपः प्राणस्योत्क्रमणकालसंन्यासः सनिमित्तसंन्यासः।"
(नारदपरिव्राजकोपनिषत् ५)

जो यह कहा कि—**'आतुराणां'** इत्यादि महाभारतवचन, आतुरसन्यास में विधि और क्रियाका निषेध करनेवाला है, यह कहना भी असत्य है, क्योंकि महाभारत में यह वचन नहीं देखा गया है तथा **'आतुरेऽपि'** इत्यादि श्रुतियों में आतुरसंन्यास में भी विधि देखी गई है।

---

८७. कदाचित् महाभारत के किसी संस्करण में या अन्य किसी ग्रंथ में इस प्रकार का वचन उपलब्ध भी हो तो भी आतुर-संन्यास में विधि और क्रिया का प्रतिपादन करनेवाली श्रुतियों को मुख्य प्रमाण मानकर ही इस प्रकार के कथन की संगति साधनी चाहिये।

आतुरकालः कथमार्यसंमतः —

"प्राणस्योत्क्रमणासन्नकालस्त्वातुरसंज्ञकः ।
नेतरस्त्वातुरः कालो मुक्तिमार्गप्रवर्तकः ॥[८८]
आतुरेऽपि च सन्यासे तत्तन्मन्त्रपुरःसरम् ।
मन्त्रावृत्तिं च कृत्वैव सन्यसेद्विधिवद्बुधः ॥[८९]
आतुरेऽपि क्रमे वाऽपि प्रैषभेदो न कुत्रचित् ।
न मन्त्रं कर्मरहितं कर्म मन्त्रमपेक्षते ॥[९०]
अकर्म मन्त्ररहितं नातो मन्त्रं परित्यजेत् ।
मन्त्रं विना कर्म कुर्याद् भस्मन्याहुतिवद्भवेत् ॥[९१]
विध्युक्तकर्मसंक्षेपात्सन्यासस्त्वातुरः स्मृतः ।
तस्मादातुरसन्यासे मन्त्रावृत्तिर्विधिर्मुने ॥[९२]

(नारदपरिव्राजकोपनिषत् ३.४-८)

'यद्यातुरोवाग्निं न विन्देदप्सु जुहुयात् । आपो वै सर्वा देवताः ।'[९३] (परमहंस परिव्राजकोपनिषत्) ।

---

८८. प्राणों के निकलने के समीप काल को आतुरकाल नाम दिया है । इससे अतिरिक्त और कोई काल, मुक्तिमार्ग प्रवर्तक आतुर-काल नहीं है ।

८९. आतुरसन्यास में भी उस-उस मन्त्रपूर्वक तथा मन्त्रों की आवृत्ति करके विद्वान् विधिसहित सन्यास करे ।

९०. आतुरसन्यास अथवा क्रमसंन्यास में कहीं भी प्रैष का भेद नहीं है । कोई मन्त्र कर्मरहित नहीं है तथा कर्म भी मन्त्र की अपेक्षा करता है ।

९१. मन्त्र से रहित कर्म अकर्म (निष्फल) होता है । इसलिये कर्म में मन्त्र का परित्याग न करे, यदि मन्त्र के बिना करे तो वह भस्म में आहुति के समान निष्फल होता है ।

९२. विधान किये कर्मों के संक्षेप होने से आतुर सन्यास कहा गया है । इसलिये हे मुने ! आतुर-सन्यास में मन्त्रों की आवृत्ति का विधान है ।

९३. यदि आतुरपुरुष अग्नि को न प्राप्त कर सके तो जल में ही हवन करे; क्योंकि जल सर्वदेवमय है ।

यदुक्तम्—

त्याग एव हि सर्वेषां मोक्षसाधनमुत्तमम् ।
त्यजतैव हि विज्ञेयं त्यक्तुः प्रत्यक्परंपदम् ॥

इति भाल्लविश्रुतेः, तदपि श्रुतिषु नोपलभ्यते । उपलम्भे तु 'ब्राह्मणाः प्रव्रजन्ती'ति विशेषानुसारेणैव नयनमुचितम् ।[९४]

जो यह कहा कि—'सर्व के लिये त्याग (सन्यास) ही उत्तम मोक्ष का साधन है, त्यागनेवाले के द्वारा ही त्यागकर्ता का अन्तरात्मा-रूप परमपद विज्ञेय (जानने योग्य) है' इस भाल्लविश्रुति से सर्व का सन्यास सिद्ध होता है ।

---

९४. श्रीभगवत्पादशङ्कर के द्वारा उद्धृत श्लोक (मन्त्र) में आरम्भ के दो चरण भिन्न हैं । यथा —

"मोक्षमिच्छन्सदा कर्म त्यजेदेव ससाधनम् ।
त्यजतैव हि तज्ज्ञेयं त्यक्तुः प्रत्यक्परं पदम् ॥"

(केनोपनिषत् ४.७ शां. पदभाष्य)

श्रीआनन्दगिरिजी के द्वारा उद्धृतवचनों में अन्तिम दो चरण उपलब्ध हैं । द्रष्टव्य ईशावास्योपनिषत् १ व्याख्या ।

ध्यान रहे, दोनों प्रकार के वचन त्याग के अद्भुत-माहात्म्य बताने में प्रयुक्त हैं । इन वचनों के आधार पर 'सबके लिये संन्यास-आश्रम विहित है' ऐसा सिद्ध नहीं होता । अविद्या और काम के त्याग से भी सर्वत्याग मान लिया जाता है । अविद्या और काम अर्थात् कर्मासक्ति, फलासक्ति, अहंकृति, नानात्वबुद्धि और अभिनिवेशविरहित कर्म 'अकर्म' हो जाते हैं—**'कर्मण्यकर्म यः पश्येत्'** (भगवद्गीता ४.१८), **'तस्य कार्यं न विद्यते'** (भगवद्गीता ३.१७) । तत्त्वज्ञ द्वारा अविद्या और काम के साथ ही नित्य-नैमित्तिक और प्रायश्चित्तरूप कर्मों का ऋषभादि की तरह स्वरूपतः त्याग किये जाने पर भी बाह्याभ्यन्तर त्याग के कारण उक्त-वचनों की सार्थकता हो जाती है । ऐसा होने पर भी 'सर्व वर्णों का सलिङ्गसंन्यास में अधिकार है' यह सिद्ध नहीं होता;

'अथ परिव्राड्विवर्णवासो मुण्डोऽपरिग्रही शुचिरद्रोही भैक्षाणो ब्रह्मभूयाय कल्पते (भवति)' इति **जाबालश्रुतिः (जाबालोपनिषत् ५)**

"ऋणत्रयमपाकृत्य निर्ममो निरहंकृतः ।
ब्राह्मणः क्षत्रियो वाऽथ वैश्यो वा प्रव्रजेद्गृहात् ।।[९५]
त्रैवर्णिकानां सन्यासो विद्यते नात्र संशयः ।
शिखायज्ञोपवीतानां त्यागपूर्वकदण्डयुक् ।।"[९६]

यह वचन, श्रुतियों में मिलता ही नहीं है। यदि मिले भी तो इसका भी नयन (गति) **'ब्राह्मणाः प्रव्रजन्ति'** इस विशेषवाक्य के अनुसार ही करना उचित है । इसी प्रकार **'अथ परिव्राड्'** यह सामान्य जाबालश्रुति भी विशेषश्रुति की अनुसारिणी है, ऐसा समझना चाहिये। **'ऋणत्रयमपाकृत्य'** इत्यादिक ब्रह्माण्डपुराण के वचन, त्रैवर्णिक सन्यास की सिद्धि में कहे जाते हैं। वे वचन ब्रह्माण्डपुराण में न मिलने से ही अर्थशून्य हैं । त्रैवार्णिकसन्यास के साधक नहीं हैं । विदुर जी तो तत्त्वज्ञाननिष्ठ थे, इसलिये 'ज्ञान ही सन्यास का लक्षण है ।' इस रीति से विदुरजी का तो ज्ञाननिष्ठारूप ही सन्यास था । लिङ्ग

क्योंकि नारदपरिव्राजकोपनिषत् में जहाँ त्याग की महिमा का प्रतिपादन है, वहीं 'ब्राह्मण का संन्यास में अधिकार है' ऐसा भी । यथा—

"यदा मनसि संजातं वैतृष्ण्यं सर्ववस्तुषु ।
तदा संन्यासमिच्छेत पतितः स्याद्विपर्यये ।।
विरक्तः प्रव्रजेद्धीमान्सरक्तस्तु गृहे वसेत् ।
सरागो नरकं याति प्रव्रजन्हि **द्विजाधमः** ।।
यस्यैतानि सुगुप्तानि जिह्वोपस्थोदरं करः ।
संन्यसेदकृतोद्वाहो **ब्राह्मणो** ब्रह्मचर्यवान् ।।"

(नारदपरिव्राजकोपनिषत् ३.१२–१४)

९५. तीनों ऋणों को निवृत्त करके ममता तथा अहंकार से रहित ब्राह्मण, क्षत्रिय अथवा वैश्य गृहस्थाश्रम से सन्यास ग्रहण करले।

९६. शिखा तथा यज्ञोपवीत के त्यागपूर्वक, एक दण्ड से युक्त सन्यास तीनों वर्णों को है, इसमें कोई संशय नहीं ।

इति ब्रह्माण्डपुराणवचनन्त्वनुपलम्भपराहतम् । विदुरस्तु तत्त्वनिष्ठ एव आसीदिति [६७]'ज्ञानं सन्यासलक्षणमि' (नारदपरि० ३.१६) ति रीत्या तस्य ज्ञाननिष्ठैव संन्यासः । तदुक्तम् —

'ज्ञानदग्धशरीराणां पुनर्दाहो न विद्यते ।'
दग्धस्य दहनं नास्ति पक्वस्य पचनं यथा ।
ज्ञानाग्निदग्धदेहस्य न च श्राद्धं न च क्रिया ।।[६८]

(पैङ्गलोपनिषत् ४.७)

तत एव —

धर्मराजश्च तत्रैनं संचस्कारयिषुस्तदा ।
दग्धुकामोऽभवद्विद्वानथवागभ्यभाषत ।।
भो भो राजन् न दग्धव्यमेतद्विदुरसंज्ञकम् ।
कलेवरमिहैवं ते धर्म एष सनातनः ।।
यतिधर्ममवाप्तोऽसौ नैव शोच्यः परन्तप ।।

(आश्रमवासिक० २६.३१-३३)

सन्यास नहीं था । 'ज्ञानाग्नि से दग्ध शरीरवाले पुरुष की दाह तथा श्राद्धादिक क्रिया आवश्यक नहीं' ऐसा पैङ्गलोपनिषदादि में कहा है ।

इसलिये ही "विद्वान् धर्मराज युधिष्ठिर ने जैसे ही विदुर के शरीर के संस्कार करने की इच्छा की वैसे ही आकाशवाणी हुई । हे राजन् ! विदुरनामवाला यह शरीर जलाना नहीं चाहिये । यही आपका सनातन धर्म है । यह तो यतिधर्म (ज्ञाननिष्ठा) को प्राप्त हो

---

६७. "प्रवृत्तिलक्षणं कर्म ज्ञानं संन्यासलक्षणम् ।
तस्माज्ज्ञानं पुरस्कृत्य संन्यसेदिह बुद्धिमान् ।।"

(नारदपरिव्राजको० ३.१६)

६८. ज्ञान से दग्ध शरीरवाले ज्ञानियों के शरीर का पुनः दाह नहीं होता । जिस प्रकार पकाए हुए को पुनः नहीं पकाया जाता, उसी प्रकार ज्ञानाग्नि से दग्ध का पुनः दाह नहीं होता । ज्ञानाग्नि से दग्ध देहवाले ज्ञानीपुरुष की क्रिया तथा श्राद्ध नहीं होता ।

तावताऽपि न शूद्राणां वैधलिङ्गसन्यासः शक्यसमर्थनः। सन्यासविधायकवाक्येषु ब्राह्मणग्रहणेन राजसूये क्षत्रियाणामिव ब्राह्मणानामेव सन्यासेऽधिकारात्।

यत्तु—

सा त्वेनमब्रवीद्राजन् क्रियतां मदनुग्रहः।
प्राव्राज्यमहमिच्छामि तपस्तप्स्यामि दुश्चरम्॥

(उद्योग पर्व० १७५।४१) इत्यादिभिरपि न स्त्रीणां सन्यासः सिद्ध्यति तत्र प्राव्राज्यपदेन निवृत्तेरेव विवक्षितत्वात्। अत एव दुश्चरतपश्चर्यैवोक्ता। 'स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम्।' इति भगवद्वाक्येऽपि भगवदुक्त्या स्त्र्यादीनामपि सद्गतिरेवोक्ता न सन्यासविधानम् (भगवद्गीता ९.३२)।

गया है। अतः यह शोक करने के योग्य भी नहीं है।" इस आश्रमवासिकपर्व के वचनों के अनुसार ज्ञाननिष्ठ होने से आकाशवाणी ने विदुर को अदाह्य तथा अशोच्य कहा है, न कि सन्यासी होने के कारण। अत एव श्लोक में 'यति हो गया है' ऐसा न कहकर 'यतिधर्म (ज्ञाननिष्ठा) को प्राप्त हो गया है' ऐसा ही कहा है। इस विदुर के प्रसंग से भी शूद्रों के लिये सलिंगसन्यास विहित है, यह समर्थन नहीं किया जा सकता।

उसने कहा "हे राजन्! मेरे ऊपर अनुग्रह कीजिये। मैं प्राव्राज्य (निवृत्ति) चाहती हूँ; क्योंकि मैं कठोर तपस्या करूँगी।" इत्यादि उद्योगपर्व के वचनों से भी स्त्रियों का सन्यास सिद्ध नहीं होता। इसलिए उसने कठोर तपस्या करने को कहा है। सन्यास तपस्या के लिये नहीं होता; अपि तु ज्ञाननिष्ठा के लिये लिया जाता है। अतः श्लोक में '**प्रव्रज्या**' शब्द का अर्थ सन्यास नहीं; अपितु निवृत्ति ही विवक्षित है।

"स्त्री, शूद्र तथा वैश्य भी परमगति को प्राप्त हो जाते हैं" इस गीता के वाक्य में भी भगवान् ने स्त्री, शूद्र आदिकों की सद्गति तो कही है, सन्यास का विधान नहीं किया है। यदि स्त्री, शूद्रादि को भी ब्राह्मण के समान परमगति (सद्गति) के लिये सन्यास की अपेक्षा होती तो भगवान् उनके लिये भी सन्यास का विधान अवश्य करते।

यत्तु —

"प्रव्रज्यावसिता यत्र त्रयो वर्णा द्विजातयः।
विवासं कारयेद्विप्रं दास्यं क्षत्रियवैश्ययोः ॥"

इति कात्यायनवाक्यविहितप्रायश्चित्तसंसूचितार्थापत्तेः, उक्त बहुस्मृतिप्रामाण्यान्यथानुपपत्तिप्रसूतार्थस्य क्षत्रियकृततुर्याश्रमस्यानुपपत्तेश्च सत्त्वात् तत्सिद्धिरिति तदपि यत्किञ्चित्। कात्यायनसूत्रस्मृत्यादौ तद्वचनानुपलम्भात्। तादृशस्मृतीनां सिद्धान्तानुसारेण श्रुत्यनुसारेणैव नेयत्वात्। श्रुतयस्तु तथाविधाः नोपलभ्यन्ते।

और जो यह कहा गया है कि "प्रव्रज्यावसिता" इस कात्यायन के वाक्य से सन्यास से पतन हो जाने पर तीनों वर्णों के लिये प्रायश्चित्त कथन किया गया है, वह तभी संभव है जबकि तीनों वर्णों के सन्यास का विधान हो तथा बहुत-सी उन स्मृतियों का जिनमें क्षत्रिय को सन्यास लेना कहा है, प्रामाण्य तभी संभव है, जबकि क्षत्रियों का सन्यास स्वीकार किया जाय। तीनों वर्णों के संन्यास की विधि के विना प्रायश्चित्त की अनुपपत्ति तथा क्षत्रियों को सन्यास की बोधक स्मृतियों के प्रामाण्य की अनुपपत्ति से त्रैवर्णिक सन्यास की सिद्धि होती है।" यह कहना भी सारयुक्त नहीं है, क्योंकि–कात्यायन मुनि के नामसे

---

८९. श्रुतिविरुद्धस्यापि स्मार्तवचननिचयस्य सर्वथाऽप्रामाण्यपरिजिहीर्षया श्रुत्यनुकूल एवार्थः परिकल्पनीयः। तत्र **'त्रयाणां वर्णानां वेदमधीत्य चत्वार आश्रमाः'** इति छन्दोगसूत्रस्यायमर्थः—त्रयाणां वर्णानां यथोदितं चत्वार आश्रमा इति औचित्यं श्रुत्यविरोधाय ब्राह्मणस्यैव तुर्याश्रमाधिकारविधौ नान्यत्रैवर्णिकानां संन्यासो विद्यते, नात्र संशयः **"शिखायज्ञोपवीतानां त्यागपूर्वकदण्डयुक्"** इति ब्रह्माण्डपुराणमपि छन्दोगसूत्रसमानार्थम्। यच्च ब्रह्मवैवर्तवचनम्—**"वैराग्योत्पत्तिमानेव संन्यासे परियुज्यते,। रागवान्न तु ,विप्रोपि वेदवेदांगवित्तमः ॥"** इति वेदवेदाङ्गवित्तमोपि विप्रो रागवांश्चेत्तर्हि संन्यासे न युज्यत इत्यन्वयः। एवञ्च–विरक्तस्य विप्रस्यैवाधिकारोऽभिहितो न क्षत्रियादेः। यच्च स्मृत्यन्तरम्—**"ऋणत्रयमपाकृत्य निर्ममो निरहंकृतः। ब्राह्मणः क्षत्रियो वाथ वैश्यो वा प्रव्रजेद्गृहात् ॥"** इति तस्या-

यत्तु 'अथ पुनरव्रती वा व्रती वा स्नातकोऽस्नातको वोत्सन्नाग्निको वाऽनग्निको वा यदहरेव विरेजेत्तदहरेव प्रव्रजेत्' (**नारदपरिव्राजकोपनिषद् ३.७७**) **इति द्विजातीनां सर्वेषां सन्यासाधिकारः सिध्यतीति तदपि यत्किञ्चित् । तस्या अपि श्रुतेर्ब्राह्मणविषयकत्वोक्तेः ।**

यत्तु —

"सत्यं दानं क्षमा शीलमानृशंस्यं तपो घृणा ।
दृश्यन्ते यत्र नागेन्द्र स ब्राह्मण इति स्मृतः ।।"

उद्धृत किया प्रायश्चित्त बोधकवाक्य, कात्यायनसूत्र तथा कात्यायन-स्मृति में मिलता ही नहीं, तब उससे त्रैवर्णिकसन्यास की सिद्धि तो अत्यन्त दूर है। जो स्मृतियाँ क्षत्रिय के सन्यास का बोधक हैं, उनका प्रामाण्य श्रुति से विरुद्ध होने से ही समाप्त है। श्रुति ऐसी मिलती नहीं, जिसमें क्षत्रिय आदिकों के सन्यास का विधान हो। तथा जो **"अथ पुनरव्रती वा"** इस नारदपरिव्राजक उपनिषद् की सामान्यश्रुति से त्रैवणिक सन्यास की सिद्धि होती है, ऐसा कहा गया है, वह कथन भी बलहीन है। वह श्रुति भी ब्राह्मण को ही सन्यास

यमभिप्रायः—गृहात् प्रव्रजेद्वानप्रस्थाश्रमं गच्छेत् । प्रव्रज्या शब्दो यद्यपि संन्यासे रूढस्तथाप्यत्र श्रुतिविरोधपरिहाराय तृतीयाश्रम परस्याऽपि वैराग्य हेतुकत्वात् । यद्वा-यदा ब्राह्मणः स्ववृत्तावजीवन्क्षत्रियवृत्तिमाश्रितस्तत्राप्यजीवन्वैश्यवृत्तिं ततस्तामापदं निस्तीर्यापि न वर्णान्तरवृत्तिं परित्यजति किन्तु तत्रैवावस्थितस्तदा तत्तत्क्षत्रियादिवृत्तिजीवनेन स एव ब्राह्मणः क्षत्रिय वैश्य इति च व्यपदिश्यते शास्त्राननुज्ञातकालेऽपि क्षत्रियादिवृत्तिनिरतत्वात्तस्यापि प्रव्रजेदिति प्रव्रज्याधिकारं दर्शयति । अत एव—**"ब्राह्मणः क्षत्रियो वाथ वैश्यो वा प्रव्रजेद्गृहात्"** इत्यत्राथशब्द उपात्तः, ब्राह्मण एवाथानन्तरं क्षत्रियवृत्त्याश्रयणात् क्षत्रियः, अथ वैश्य इत्यानन्तर्यप्रतिपादनादयमर्थो गम्यत इत्यर्थः । एतेन **"ब्राह्मणः क्षत्रियो वैश्यस्ततो गच्छेद्वनं गृही । संन्यसेद्वाथ वा शान्तः ।"** इत्येतदपि व्याख्यातम् । एवञ्च मनुदत्तात्रेयादिवचनान्यप्यनुकूलानि भवेयुः । तस्माच्छ्रुतिविरोधपरिहारायान्यान्यपि विरुद्धवचनानि नेयानि (**वंशीधरी भागवत ११.१८.४१**) ।

"यत्रैतन्न भवेत्सर्वं तं शूद्रमिति निर्दिशेत् ॥"

(महाभा० वनपर्व० १८०.२१, २६)

इति ब्राह्मणलक्षणलक्षितस्य त्रैवर्णिकस्य सन्याससिद्धचर्थमेव सन्यासविधायकवाक्येषु ब्राह्मणग्रहणमिति, तदपि यत्किञ्चित्। तथा सति कर्मणा वर्णव्यवस्थापत्तेः। न चेष्टापत्तिः 'चातुर्वर्ण्य-संस्कृतिविमर्शे' विस्तरेण तत्खण्डितत्वात्।

यदपि 'ब्रह्मभवितुकामस्य मुमुक्षोरेव ब्राह्मणपदार्थत्वमि'ति तदपि यत्किञ्चित्, निर्मूलत्वात्। 'ब्राह्मोऽजातौ, इति रीत्याऽजात्यर्थे 'ब्राह्मण' पदस्यैवासिद्धेः। यदपि विद्वत्सन्यासपक्षे "ब्रह्मविदेव ब्राह्मणः" इति तदपि यत्किञ्चित्।[१००] निर्मूलत्वात् ब्रह्मविदि ब्राह्मणशब्द-

---

कह रही है, क्योंकि 'ब्राह्मणः', 'द्विजः' (३.१२-१४) कहने से इस श्रुति में और अन्य श्रुतियों में स्पष्ट ब्राह्मण शब्द है; अतः यह भी ब्राह्मण का ही सन्यास कह रही है। जो वनपर्व में यह लिखा है कि "जिसमें सत्य, दान, क्षमा, शील, अहिंसा, तप तथा दया आदिक सद्गुण दिखाई देते हैं, वह ब्राह्मण है। जिसमें दया, क्षमा, दानादिक सर्वगुणों का समुदाय न हो, उसको 'शूद्र' ऐसा निर्देश करे। पूर्वोक्त दया, दानादि लक्षणों से युक्त त्रैवर्णिक ब्राह्मण के सन्यास की सिद्धि के लिये ही सन्यास की विधि करनेवाले वाक्यों में ब्राह्मण का ग्रहण किया है, इससे भी त्रैवर्णिक सन्यास सिद्ध होता है।" यह कथन भी सारहीन है। क्योंकि ऐसा मानने पर कर्म से वर्णव्यवस्था माननी पड़ जायगी। यदि कहा जाय कि 'कर्म से वर्णव्यवस्था मानना तो इष्ट है' यह कहना उचित नहीं; क्योंकि कर्म से वर्णव्यवस्था पक्ष का "चातुर्वर्ण्य संस्कृति विमर्श" ग्रंथ में (मेरे द्वारा) विस्तार से खण्डन किया गया है।

---

१००. ननु यदि भवेद्ब्राह्मणशब्दस्य ब्राह्मणत्वजातिर्वाच्योर्थ-स्तर्हि तस्योद्देश्यत्वेन विवक्षितत्वात् क्षत्रिय वैश्ययोः प्रव्रज्यायां मा भूदधिकारः। न च तथा ब्राह्मणत्वजातिरर्थः, अपि तु ब्रह्मवेदस्तन्नि-ष्ठास्तदध्ययनवन्तो ब्राह्मणा इति वेदाध्ययनवत्त्वमेकोनुगतो धर्मः स च ब्राह्मणशब्दस्यार्थः। तथा च वेदाध्ययनवत्त्वरूपेणैकेनोपाधिना ब्राह्मणक्षत्रियवैश्यास्त्रयोऽपि क्रोडीकृताः स्युः। एवं च ब्राह्मणोद्देश्येन

स्याशक्तत्वात्। "जन्मना जायते शूद्रः ब्रह्मज्ञानाच्च ब्राह्मणः" इति वाक्यन्तु कुत्रापि प्रामाणिकस्मृतिषु नोपलभ्यते।

'जो यह कहा जाता है कि 'ब्रह्म होने की इच्छावाला मुमुक्षु को ही ब्राह्मण कहा गया है' यह कहना भी सारहीन है; क्योंकि जाति से भिन्न अर्थ में ब्राह्मण पद व्याकरण से ही सिद्ध नहीं तथा अतिरिक्त कोई प्रमाण भी नहीं है। जो विद्वत्सन्यास पक्ष में कहा गया है कि— 'ब्रह्मवेत्ता ही ब्राह्मण है। यह भी उचित नहीं, क्योंकि इस कथन का कोई मूल नहीं तथा ब्राह्मण शब्द की ब्रह्मवेत्ता में शक्ति भी नहीं है।

प्रव्रज्याविधानात् त्रयाणामपि वर्णानां प्रव्रज्याधिकारोस्त्विति चेत्।

मैवं, यथा क्षत्रियशब्दस्य क्षत्रियत्वं वैश्यशब्दस्य वैश्यत्वं गोशब्दस्य गोत्वं तथा ब्राह्मणशब्दस्य ब्राह्मणत्वमेवार्थ इति शेषजैमिनि-बादरायणादिभिरङ्गीकृतं, तद्व्याहन्येत तथा चोक्तव्याघातभयाद् ब्राह्मणशब्दस्य ब्राह्मणत्वं वेदाध्ययनवत्त्वं चोभयमपि वाच्यत्वेन परि-कल्प्येत तदा **'अन्यायश्चानेकार्थत्वम्'** इति तान्त्रिकैरेकस्यानेकार्थत्वं विरुद्धं तेन न्यायेन सह विरोधः स्यात्।

अथैवं ब्रूषे—**'अन्यायश्चानेकार्थत्वम्'** इति न्याये जाग्रत्यपि गवादिशब्दानां यथानेकार्थत्वं तथा ब्राह्मणशब्दस्याप्यनेकार्थत्वम-स्त्विति,

न चैतदुचितम्। अगतिका हीयं गतिर्यदनेकशक्तिकल्पनयाप्यने-कार्थत्वस्वीकरणम्। शब्दार्थज्ञाने वृद्धव्यवहारः प्रमाणम्। वृद्धा हि गवादिशब्दानामनेकशक्तिकल्पनयानेकार्थत्वमङ्गीकुर्वते न ब्राह्मण-शब्दस्य, अत एवाभिधानकारैरपि गवादिशब्दा अनेकार्थवर्गे पठिता-स्तेषामपि व्यवहारः शब्दश्लेषादिष्वेव न शास्त्रार्थनिर्णये। शास्त्रार्थ-परिज्ञाने तु प्रसिद्धार्थस्यैव ग्रहणं नेतरस्य, इतरस्यापि ग्रहणे गोपशु-विधायकवाक्ये प्रतिग्रहनिवृत्तये गां दद्यादित्येवं रूपे सास्नाद्युपेतगोपिण्ड-व्यतिरिक्तस्यापि दिग्दृष्ट्यादेरपि ग्रहणं स्यान्न च गृह्यते, तस्माच्छा-स्त्रार्थनिर्णयेषु प्रसिद्धार्थस्यैव ग्रहणं युक्तं विपरीतार्थद्योतकवाक्यशेषा-द्यभावे, अतोऽनेकशक्तिकल्पनाभयाद् ब्राह्मणशब्दस्य ब्राह्मणत्वजाति-रेवार्थः। (वंशीधरी भागवत ११.१६.४३)

"जन्मना ब्राह्मणो ज्ञेयः संस्काराद्द्विज उच्यते ।
विद्यया याति विप्रत्वं त्रिभिः श्रोत्रिय उच्यते ।।"

(मनु० १०.७४)

'जन्मना ब्राह्मणः श्रेयान्', 'जन्मतो ब्राह्मणः प्रभुः' (भविष्य० २.५.१), 'जन्मनो नाम भगवान् जन्मप्रभृति पूज्यते ।' (शान्ति० २६९.१२) इत्यादि **विपरीतस्मृत्युपलम्भाच्च । क्वचित् सत्त्वे शूद्रसम एव तदर्थः । न हि जन्मना शूद्रस्य संस्कारोऽपि सम्भवति ।** 'वसन्ते ब्राह्मण-मुपनयीत' **इत्यादिषु शूद्राणामुपनयनकल्पनाया अपरामर्शात् ।**

१०१"न यस्य जन्मकर्मभ्यां न वर्णाश्रमजातिभिः ।
सज्जतेऽस्मिन्नहंभावस्तं देवा ब्राह्मणं विदुः ।।"

अर्थात् ब्राह्मणशब्द ब्रह्मवेत्ता का वाचक नहीं है । 'जन्म से शूद्र ही पैदा होता है, ब्रह्मज्ञान से ब्राह्मण होता है' यह वाक्य भी प्रामाणिक स्मृतियों में नहीं मिलता, साथ ही जन्म से शूद्र मान लेने पर तो संस्कार भी संभव नहीं है । क्योंकि 'वसन्तऋतु में ब्राह्मण का उपनयन करावे', इत्यादिक वेदवाक्यों में ब्राह्मण का तो वसन्त ऋतु में उपनयन का विधान है, शूद्र का नहीं । यदि जन्म से कोई ब्राह्मण होता ही नहीं है, जन्म से सर्व शूद्र ही होते हैं, तो 'शूद्र का वसन्त ऋतु में उपनयन करावे' ऐसा विधान होना चाहिए था, किन्तु ऐसा विधान कहीं नहीं, अतः सिद्ध होता है कि ब्राह्मण आदिक जातियाँ जन्म से ही हैं ।

यद्यपि **'न यस्य जन्मकर्मभ्यां'** इस वाक्य में जन्म-कर्म-जाति आदि के अभिमान से रहित पुरुष को ब्राह्मण कहा है, तथापि इसमें भी सार नहीं है; क्योंकि ऐसा ब्राह्मणपना प्राप्त हो जाने पर तो "मैं ब्राह्मण हूँ, मैं सन्यासी बनूँ" ऐसा उसको अभिमान नहीं, न इच्छा ही है तो शास्त्रविधि से सन्यास लेने में प्रवृति ही संभव नहीं, न वेषमात्र के सन्यास लेने में ही प्रवृत्ति संभव है । स्मृतियों में ब्राह्मणों के भी

---

१०१. "न यस्य जन्मकर्मभ्यां न वर्णाश्रमजातिभिः ।
सज्जतेऽस्मिन्नहंभावो देहे वै स हरेः प्रियः ।।"
(भागवत० ११.२.५१)

इत्यपि यत्किञ्चित् । तादृशे ब्राह्मण्ये लब्धे शास्त्रीयाधिकारमुल्लंघ्य वेषसन्यासधारणे प्रवृत्त्यनुपपत्तेः । स्मृतिषु ब्राह्मणेष्वेव दशविधत्वमुक्तम् । ब्राह्मणशूद्रब्राह्मणवैश्यब्राह्मणराजन्यब्राह्मणब्राह्मणादिभेदा उक्ताः ।

तथा च न जातिमात्रेण मुख्यं ब्राह्मण्यं किन्तु यस्य जन्मकर्मणादिभिर्देहादावहंभावो न सज्जते तमेव देवा मुख्यं ब्राह्मणं विदुः । यदपि 'जायमानो ह वै ब्राह्मणस्त्रिभिर्ऋणैर्ऋणवान् जायते' (बोधायनस्मृतिः २.६.४१) इत्यत्र ब्राह्मणशब्दो यथा वर्णत्रयोपलक्षकस्तथैव सन्यासप्रसंगेऽपि ब्राह्मणशब्दो वर्णत्रयोपलक्षक इति तदपि यत्किञ्चित्[१०२]। ऋणापाकरणहेतु यज्ञाध्ययनदानादिषु राजन्यवैश्ययोः स्वशब्देनापि तत्र तत्रा-

---

ब्राह्मणशूद्र, ब्राह्मणवैश्य, ब्राह्मणक्षत्रिय, ब्राह्मणब्राह्मणादि अनेकभेद कहे हैं। अतः जहाँ चारों वर्णों के लिये सन्यासविधि हो भी तो वहाँ चारों प्रकार के ब्राह्मणों के लिये ही समझना चाहिये ।

जो ऐसा कहना है कि "जातिमात्र से ब्राह्मण नहीं होता; किन्तु जन्म,कर्म,जाति आदिके अभिमान से रहित को ही ब्राह्मण कहा जाता है तथा 'उत्पन्न हुआ ब्राह्मण तीन ऋणोंसे युक्त ही उत्पन्न होता है' इस वाक्य में ब्राह्मणशब्द तीनों वर्णों का उपलक्षक है, उसी प्रकार सन्यास के प्रसंग में भी तीनों वर्णों का उपलक्षक है; अतः तीनों वर्णों का संन्यास सिद्ध होता है।" यह कथन भी उचित नहीं । क्योंकि ऋण की निवृत्ति के कारण यज्ञ, अध्ययनादि कर्मों में अधिकार क्षत्रिय तथा वैश्य का शास्त्र में स्पष्ट श्रवण होता है। अतः ऋण बोधकवचन में

---

१०२. दृष्टान्तदर्ष्टान्तिकयोर्वैषम्यात् । तथाहि-'**ब्रह्मचर्येणर्षिभ्यो यज्ञेन देवेभ्यः प्रजया पितृभ्यः**' इति, वाक्यशेषे ब्रह्मचर्यादिभिर्ऋण्याद्यृणत्रयीपाकरणप्रतीतेर्ब्रह्मचर्यादिषु च त्रैवर्णिकस्याधिकारात्फलचमसवत् । यथा सोमपाने स्थाने ब्राह्मणेतरयोः क्षत्रियवैश्ययोः फलचमसयोर्विहितत्वेनाधिकारस्तथात्राप्यस्त्वित्यर्थः । शाखांतरे-'**यजमानो वै ब्राह्मणः**' इत्यत्रापि त्रैवर्णिकानुप्रवेशाद्युज्यते तत्र त्रैवर्णिकपरत्वं, प्रकृते तु वाक्यशेषाद्यभावान्न त्रैवर्णिकपरत्वम्(वंशीधरी, भागवत ११.१८.४२)।

धिकारश्रवणात् युक्तं ऋणबोधकवचने ब्राह्मणशब्दस्य वर्णत्रयोपलक्षकत्वम् । सन्यासे तु क्वचिदपि श्रुतौ राजन्यवैश्ययोरधिकाराश्रवणात् कथं ब्राह्मणपदं तदुपलक्षकं स्यात् ? अन्यथा कुतो न 'राजा राजसूयेन यजेत' इत्यत्रापि राजपदस्यापि ब्राह्मणवैश्ययोरुपलक्षकत्वं न स्यात् ।

ननु "राजधर्मेषु वर्णधर्मप्रस्तावे—'तथा वैश्यस्य राजेन्द्र राजपुत्रस्य चैव हि' (शान्तिपर्व० ६२.१४) इति क्षत्रियवैश्ययोः सन्यासं प्रतिज्ञाय —

कृतकृत्यो वयोऽतीतो राज्ञः कृतपरिश्रमः ।
वैश्यो गच्छेदनुज्ञातो नृपेणाश्रमसंश्रयम् ॥
(शा० पर्व० ६३।१५)

इति वैश्यस्य सन्यासं विधाय -

"वेदानधीत्य धर्मेण राजशास्त्राणि चानघ ।"
(शान्तिपर्व० ६३।१६)

इत्यादिकमुक्त्वा -

"अन्तकाले च सम्प्राप्ते य इच्छेदाश्रमान्तरम् ।
सोऽनुपूर्व्याश्रमान्राजन् गत्वा सिद्धिमवाप्नुयात् ॥"
(शान्तिपर्व० ६३।२१)

ब्राह्मणशब्द को तीनों वर्णों का उपलक्षण मानना उचित है। सन्यास के विषय में तो कहीं भी श्रुति में क्षत्रिय तथा वैश्य का अधिकार श्रवण है नहीं; अतः ब्राह्मणपद तीनों वर्णों के सन्यास का उपलक्षक कैसे हो सकता है ? क्षत्रिय तथा वैश्य का सन्यास के अधिकार का श्रुति में स्पष्ट कथन न होने पर भी ब्राह्मणशब्द को तीनों वर्णों के सन्यास का उपलक्षण मानने पर तो 'राजा राजसूय यज्ञ करे' इस श्रुतिवाक्य में स्थित राजाशब्द को भी ब्राह्मणादि तीनों वर्णोंका उपलक्षण मानने की आपत्ति हो जायगी; ऐसा किसी प्रकार उचित नहीं ! क्यों कि शास्त्र में राजाशब्द का केवल क्षत्रियजाति के राजा के लिये ही प्रयोग स्वीकार किया है।

इत्यनेन क्षत्रियस्य सन्यासं विदधाति स्म स एव भगवान् व्यासः" इति, तदपि यत्किञ्चित् । उक्त प्रघट्टके न कस्यापि सन्यासविधानम् । क्षत्रियस्याश्रमान्तरपदेन वानप्रस्थाश्रमो युज्यते । 'क्षत्रधर्मो-न मुण्डनम्' (शान्ति० २३.४७), 'मुखजानामयं धर्मः' (देवलदत्तात्रेयवचनम्), 'नान्यवर्णस्य कस्यचित् ।'

ब्राह्मणस्य तु चत्वारस्त्वाश्रमा विहिताः प्रभो ।
वर्णास्तान्नानुवर्तन्ते त्रयो भारतसत्तम ॥

(महा० शान्ति० ६२.२)

इति निषेधस्य बलवत्त्वात् ।

[103]वहिः सूत्रं त्यजेद्विप्रो योगविज्ञानतत्परः ।
ब्रह्मभावमिदं सूत्रं धारयेद्यःस मुक्तिभाक् ॥

(परब्रह्मोपनिषत् ५)

[104]बहिरन्तश्चोपवीती विप्रः सन्यस्तुमर्हति ।
एकयज्ञोपवीती तु नैव सन्यस्तुमर्हति ॥

(परब्रह्मोपनिषत् १४)

"राजधर्मों में वर्णधर्म के प्रसङ्ग में क्षत्रिय तथा वैश्यों के सन्यास की प्रतिज्ञा करके **'कृतकृत्यः'** इस श्लोक से वैश्य के सन्यास का विधान करने के पश्चात् **'अन्तकाले'** इस श्लोक से भगवान् व्यास जी क्षत्रिय के सन्यास का विधान करते हैं। अतः तीनों वर्णों का सन्यास सिद्ध होता है ।" यह कथन भी सारहीन है । क्योंकि उक्त प्रसंग में किसी के भी लिये सन्यास का विधान नहीं । क्षत्रिय के लिये

---

१०३. योगविज्ञान में तत्पर विप्र (ब्राह्मण) ब्राह्यसूत्र (यज्ञोपवीत) का त्याग करदे । ब्रह्मभावरूपसूत्र (यज्ञोपवीत) को जो ब्राह्मण धारण करता है, वह मुक्ति का भागी होता है ।

१०४. बाह्य तथा अन्तः उपवीती ब्राह्मण सन्यास का अधिकारी है । एक यज्ञोपवीतवाला सन्यास का अधिकारी नहीं है ।

[१०५]विरक्तः प्रव्रजेद्धीमान्सरक्तस्तु गृहे वसेत् ।
सरागो नरकं याति प्रव्रजन्हि द्विजाधमः ।।

[१०६]यस्यैतानि सुगुप्तानि जिह्वोपस्थोदरं करः ।
सन्यसेदकृतोद्वाहो ब्राह्मणो ब्रह्मचर्यवान् ।।

(नारदपरि० ३।१३,१४)

[१०७]सन्यासिनं द्विजं दृष्ट्वा स्थानाच्चलति भास्करः ।
एष मे मण्डलं भित्वा परं ब्रह्माधिगच्छति ।।

(सन्यासोपनिषत् २।६)

[१०८]त्रिदण्डं वैष्णवं लिङ्गं विप्राणां मुक्तिसाधनम् ।
निर्वाणं सर्वधर्माणामितिवेदानुशासनम् ।।

आश्रमान्तर का विधान किया है सो आश्रमान्तर पद से यहाँ वानप्रस्थ आश्रम का ग्रहण ही उचित है, न कि सन्यास का। क्योंकि 'क्षत्रिय का मुण्डन (सन्यास) धर्म नहीं', 'लिंग सन्यास ब्राह्मण का धर्म है', 'अन्य किसी वर्ण का नहीं,' इत्यादिक निषेध वलवान् हैं, अतः यहाँ क्षत्रिय-वैश्य के सन्यास का विधान नहीं है।

---

१०५. बुद्धिमान् विरक्त ब्राह्मण ही संन्यास ग्रहण करे, यदि रागवान् है तो गृह में ही रहे। रागयुक्त संन्यासलेनेवाला ब्राह्मणाधम निश्चित नरक को जाता है।

१०६. जिस ब्राह्मण के जिह्वा, उपस्थ, उदर तथा कर भली प्रकार संयत हैं, वह ब्रह्मचर्यवान् जिसने विवाह नहीं किया है, ऐसा ब्राह्मण सन्यासग्रहण करे।

१०७. सन्यासी ब्राह्मण को देखकर सूर्यभगवान् स्थान से हट जाते हैं। यह सन्यासी ब्राह्मण मेरे मण्डल का भेदन करके परब्रह्म को प्राप्त हो रहा है।

१०८. विष्णुभगवान् का लिङ्ग (चिह्न) त्रिदण्ड ब्राह्मणों की मुक्ति का साधन है तथा सर्व धर्मों का निर्वाण–संन्यास है, ऐसा वेद का उपदेश है।

[१०९]त्यक्त्वा विष्णोर्लिङ्गमन्तर्वहिर्बा यः स्वाश्रमं सेवते नाश्रमं वा ।
प्रत्यापत्तिं भजते वातिमूढो नैषां गतिः कल्पकोटचाऽपि दृष्टा ॥
(शाटचायनीयोपनिषत् १०,२७)

इत्यादि सन्यासविधायकवाक्येषु ब्राह्मणग्रहणस्य जागरूकत्वाच्च । 'ब्रह्मवेदस्तन्निष्ठस्तदध्ययनवान् ब्राह्मणः' इति व्युत्पत्तौ 'ब्राह्मोऽजातौ' इति वचनमेव बाधकम् । अन्यथा राजपदस्यापि राज्यकर्तृत्वेन वैश्यब्राह्मणयोरपि सम्भवेन राजसूयादावपिसमेषामधिकारापत्तेः । तच्चानिष्टमेव, सनातनपारम्पर्यलोपप्रसङ्गात् । समाजिमतप्रवेशापत्तेश्च । 'रूढिर्योगाद्बलीयसी', 'रूढिर्योगमपहरति' इति न्यायस्य सर्वत्रैव बलीयस्त्वमेव ।

'बहिः सूत्रं' इत्यादिक सन्यास का विधान करने वाले वाक्यों में ब्राह्मण का ग्रहण होने से क्षत्रिय तथा वैश्यको सन्यास का विधान नहीं है । यदि ब्राह्मणशब्द की ऐसी व्युत्पत्ति की जाय कि 'ब्रह्म नाम वेद का है वेद में निष्ठावान् अर्थात् वेद के अध्ययन करनेवाला ब्राह्मण है' तो इस व्युत्पत्ति के अनुसार वेद के अध्ययन करनेवाले तीनों वर्ण ही ब्राह्मण हैं; अतः ऐसे तीनों वर्णरूप ब्राह्मणों का सन्यास में अधिकार सिद्ध होता है । इस कथनका बाधक 'ब्राह्मोऽजातौ' यह वचन है । अतः तीनों वर्णों का संन्यास सिद्ध नहीं होता । अन्यथा राजाशब्द को राज्य करनेवाले वैश्य तथा ब्राह्मण का वाचक मानलेने पर तो क्षत्रियोचित राजसूयादिक कर्मों में ब्राह्मण तथा वैश्य के अधिकार की आपत्ति हो जायगी । ऐसा मानना अनिष्ट ही है, क्योंकि इस प्रकार तो समस्त सनातनमर्यादा का ही लोप हो जायगा तथा समाजियों के मत में प्रवेश की भी आपत्ति हो जाएगी । योगवृत्ति से ब्राह्मणशब्द वेद के अध्ययनकर्ता का वाचक होता है तथा रूढिवृत्ति से ब्राह्मणजाति का

---

१०९. विष्णुलिंग (दण्डादि) का–बाहर दण्डादिरूप अथवा अन्दर संयम और ज्ञानादिरूप का त्यागकर अपने आश्रम का सेवन करता है अथवा नहीं करता, पर जो अत्यन्तमूढ़ प्रत्यापत्ति को प्राप्त हो जाता है, ऐसे पुरुषों की गति करोड़ों कल्प में भी नहीं देखी है ।

न च रूढिवृत्तेरगत्या रथकारन्यायेन यागादिविषय एव चारितार्थ्यमितिवाच्यम्, रूढेरन्यत्र योगवृत्तेरपि चरितार्थत्वाविशेषात् । रूढिप्रसंगे तु यौगिकार्थस्य विलम्बोपस्थितिकत्वेन समुदायार्थस्य शीघ्रोपस्थितिकत्वेन रूढेः सर्वत्रैव प्राबल्यात् ।[११०]

यत्तु पैङ्गीरहस्यब्राह्मणे ऋषभादीन् क्षत्रियवरानुद्दिश्य 'यदि मृत्योः परं शान्तमनामयं शाश्वतं पदमिच्छुरसि तत्परमहंसो भव' इति सन्यासविधायकं वचनमस्तीति तदपि न ।

वाचक है । रूढिवृत्ति, योगवृत्ति से बलवती होती है,' 'रूढिवृत्ति, योगवृत्ति का बाध कर देती है' यह नियम सर्वत्र बलवान् है । अतः रूढिवृत्ति से ब्राह्मणशब्द ब्राह्मणजाति का ही वाचक है ।

'रथकार इष्टि का अधिकारी रथ बनानेवाला किसी भी जाति का पुरुष है अथवा रथकार जाति वाला पुरुष ?' ऐसा प्रश्न होने पर उपर्युक्तनियम से रथकारशब्द को रथकार जातिवाले का वाचक माना है । क्योंकि वहाँ और कोई प्रकार संभव नहीं था; अतः यज्ञ के विषय में रूढ़िशक्ति की चरितार्थता हो जाने से यज्ञ में सावकाशरूढ़िवृत्ति से, यज्ञ से अन्यत्र सन्यासविधायकादिवाक्यों में निरवकाश योगवृत्ति बलवती होकर रूढि का बाध कर देगी; अतः सन्यासविधायक वाक्यों में प्रयुक्त ब्राह्मणशब्द का अर्थ योगवृत्ति से ही करना उचित है; योगवृत्ति से ब्राह्मणपद का अर्थ वेद का अध्ययन करनेवाला ही होगा । वेद के अध्ययन करनेवाले तीनों वर्ण हैं, तीनों ही वर्ण ब्राह्मणपद के वाच्य हो जायेंगे; अतः तीनों वर्णों को संन्यास का अधिकार है, यह सिद्ध होता है ।'' ऐसा कथन भी उचित नहीं; क्योंकि रूढ़ि के प्रयोगों से

---

११०. यावताकालेनावयवव्युत्पत्त्या लक्षणया वा क्षत्रियवैश्यौ ब्राह्मणशब्देन प्रत्यायेते ततः प्रागेव 'रूढिर्योगमपहरति' इति न्यायाल्लब्धात्मिकाया रूढ़ेः प्राबल्यादनुपपत्त्यभावाच्च रूढ्या ब्राह्मणत्वमेव प्रत्याय्यते । अतः प्रथमप्रतीतब्राह्मणोद्देश्येन प्रव्रज्याविधेश्चरितार्थत्वान्न चरमप्रतीतयौगिकार्थस्वीकरण-मुचितम् ।

[111]तथात्वे सिद्धान्तलेशकृता तदुपस्थाप्येत। न चोपस्थापितं, तेन विप्रतिपन्नमेव तादृग्वचनम्। तथात्वे भाष्यकारोऽपि ब्राह्मण-सन्यासमेव कथं समर्थयेत्। सत्त्वेऽपि यथा 'सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज। अहंत्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥" (भगवद्गीता १८.६६) इत्युक्तिर्नार्जुनं प्रति, किन्तु तद्व्याजेनाधिकारिणं प्रत्येव तदुक्तेः अर्जुनं निमित्तीकृत्य यथाऽधिकारं तत्प्रतिपादनात् तथैव तदुपपत्तेः।

अतिरिक्त स्थलों में पाचक आदिक शब्दों के अर्थ करने के लिये योगवृत्ति की भी चरितार्थता समान ही है, भाव यह है कि पाचक आदि स्थलों में योगवृत्ति को सावकाश होने से अन्यत्र स्थलों में निरवकाश रूढ़ि ही बलवती सिद्ध होगी। रूढ़ि से अर्थ करने पर ब्राह्मणशब्द जाति का ही वाचक होगा, अतः ब्राह्मण जातिवाले पुरुष का ही सन्यास में अधिकार सिद्ध होता है। वस्तुतः जहाँ रूढ़ि की भी प्राप्ति होती है वहाँ सर्वत्र यौगिक अर्थ की विलम्ब से उपस्थिति होती है, रूढ़ अर्थ (समुदायार्थ) की शीघ्र उपस्थिति हो जाती है; अतः रूढ़ि ही बलवती होती है। ब्राह्मणशब्द से ब्राह्मण जाति की शीघ्र उपस्थिति होने से जातितः ब्राह्मण ही सन्यास का अधिकारी सिद्ध होता है।

"पैङ्गिरहस्य ब्राह्मण में ऋषभ आदिक क्षत्रिय श्रेष्ठों को उद्देश्य बनाकर 'यदि मृत्यु के पार, शान्त, सर्वरोगों से मुक्त, सदा रहने वाले पद के इच्छुक हो तो परमहंस हो जाओ' यह सन्यासविधायक वचन है।" यह भी कथन संभव नहीं 'पैङ्गीरहस्य ब्राह्मण में इस वचन के विद्यमान होने पर तो सिद्धान्तलेश के कर्ता इस वचन को अवश्य उपस्थापित करते, उपस्थापित नहीं किया है; अतः यह वचन विवादग्रस्त है। इस वचन के विद्यमान रहने पर तो भाष्यकार भी

---

१११. अत्रेदं चिन्त्यं किं जडभरतं (भरतं) प्रत्ययमुपदेशः उत लक्षणया क्षत्रियमात्रं प्रति। आद्ये—भरतस्यैव नेतरक्षत्रियप्राप्तिः। किंच भरतोऽपि प्रैषोच्चारणपूर्वकमाश्रमं गृहीतवानिति न क्वापि श्रूयते। अतः **'ब्राह्मणाः प्रव्रजन्ति'** (बृह० ४.४.२२) इत्यनुरोधात् 'परमहंसो भव' इत्यस्यायमर्थः—**'परमहंसो भव निर्ममो भव।'**

यदपि शिष्टशिरोमणि ऋषभजडभरतनिदाघरैवतपृथुसुशील देवरातिजनकप्रभृतिभिः राजभिस्तदभिमानत्यागात्मके पञ्चमाश्रमे प्रवृत्तिरिति तदपि यत्किञ्चित्; तेषां ब्रह्मनिष्ठावैशेष्यमेव विज्ञायते। न तत्राश्रमरूपः सन्यासः, तादृशानां विधिनिषेधातीतत्वात्।

ब्राह्मण के सन्यास का ही समर्थन कैसे करते ? ऐसे वचन के होने पर भी "सर्वधर्मों का परित्याग कर एक मेरी शरण में प्राप्त होवो। मैं

न द्वितीयः अत्र हि लक्षणा, सा च न युक्ता **'न विधौ लक्षणा'** इति भट्टगुरुप्रभृतिभिर्विधौ लक्षणानिषेधात्। किञ्च लक्षणावदन्वादी प्रष्टव्यः किं विशिष्टविधिरुत् प्राप्ते कर्मण्यधिकारविधिरिति ? पक्षद्वयेऽपि लक्षणा, दुर्वारा। ननूद्देश्ये लक्षणा न विध्यंशेऽतो न दोष इति चेत्तर्युद्देश्येपि न युक्तेति ब्रूमः। तथा हि—सम्बन्धानुपपत्तिभ्यां हि लक्षणा, न चानुपपत्तिः पूर्वोक्तरीत्या वाक्यस्यार्थांतरपरत्वेनाप्युपपत्तेः। या च जावालश्रुतिर्जनकयाज्ञवल्क्यसंवादे तत्र परमहंस इति अहन्ताममतयोरभावात्परमहंसा इति व्यपदिश्यन्त इति।

ध्यान रहे, 'भिक्षुकोपनिषत्' में जहाँ गौतम, भरद्वाज, याज्ञवल्क्य, वसिष्ठ प्रभृति को कुटीचक माना गया है, वहाँ काषाय और दण्डादिग्रहण का उल्लेख नहीं है, साथ ही ये सब ब्राह्मण ही मान्य हैं—**'कुटीचका नाम गौतमभरद्वाजयाज्ञवल्क्यवसिष्ठप्रभृतयः'**; इसी प्रकार संवर्तक, अरुणि, श्वेतकेतु, जडभरत, दत्तात्रेय, शुक, वामदेव, हारीतक प्रभृति ब्राह्मणप्रवरों को ही परमहंस कहा गया है—

"अथ परमहंसा नाम संवर्तकारुणिश्वेतकेतुजडभरतदत्तात्रेयशुकवामदेवहारीतकप्रभृतयः।"

"तत्र परमहंसानाम संवर्तकारुणिश्वेतकेतुदुर्वासऋभुनिदाघजडभरतदत्तात्रेयरैवतकप्रभृतयः" (जाबालोपनिषत् ६)

जहाँ कहीं कूर्म पुराणादि की शैली में राजा सुशीलादि के संन्यास का वर्णन है, वह आश्रम संन्यास का द्योतक न होकर दीक्षा विशेष का ही द्योतक है। **'अत्याश्रम इति ख्यातं ब्रह्मादिभिरनुष्ठितम्'** (कौर्मे १२) इस वचन में प्रयुक्त ब्रह्मादि द्वारा अत्याश्रम का अनुष्ठान औपचारिक ही है।

यदुक्तम् —

"न जातिर्नकुलं राजन् न स्वाध्यायः श्रुतं न च ।
कारणानि द्विजत्वस्य वृत्तमेव हि कारणम् ॥
किं कुलं वृत्तहीनस्य करिष्यति दुरात्मनः ।"

इत्यादिभिस्तु वृत्तस्य प्रशंसैव विवक्षिता । न च तत्र ब्राह्मणादिजात्यपलापः । न हि वृत्तं ब्राह्मणेतराणामेव भवति, न ब्राह्मणानामिति नियमः ।

"कपालस्थं यथा तोयं श्वदृतौ च यथा पयः ।
दूष्यं स्यात्स्थानदोषेण वृत्तहीनं तथा श्रुतम् ॥
चतुर्वेदोऽपि दुर्वृत्तः शूद्रादल्पतरः स्मृतः ।"

इत्याद्यपि वृत्तप्रशंसा परमेव । शास्त्रादि सिद्धाया जातेरपलापासंभवात् ।

यत्तु तत्त्वज्ञानानन्तरं 'श्रीशंकराचार्यदृष्टया सन्यासोऽनिवार्यः' इति तदपि यत्किञ्चित् । ब्रह्मनिष्ठालक्षणस्य सन्यासस्यैवानिवार्थत्वात् । तदर्थमेव निम्नोक्तानि तदीयानि वचनानि —

तुमको सर्व पापों से मुक्त कर दूँगा, तुम शोक मत करो ।" जैसे यह भगवान् का वाक्य अर्जुन के लिये नहीं है; किन्तु अर्जुन के बहाने से इस साधना के अधिकारी के लिये ही यह वचन है । क्योंकि अर्जुन को निमित्त बनाकर अधिकार के अनुसार ही शरण का प्रतिपादन है; वैसे ही समाधान कर लेना चाहिये ।

जो यह कहा जाता है कि—"शिष्ट शिरोमणि ऋषभ, जड़भरत, निदाघ, रैवत, पृथु, सुशील, देवराति तथा जनक आदिक राजाओं ने सर्वकर्तृत्वादि के अभिमान का त्यागरूप पंचमाश्रम में प्रवृत्ति की है" यह भी कुछ नहीं । क्योंकि उनकी ब्रह्मनिष्ठा का ही बोधन किया गया है, आश्रमरूप सन्यास वहाँ नहीं कहा है । क्योंकि ऐसे ब्रह्मनिष्ठ पुरुष तो विधि-निषेध से परे होते हैं ।

यह जो कहा कि—"हे राजन् जाति, कुल, स्वाध्याय तथा शास्त्रों का श्रवण, ये ब्राह्मणत्व के कारण नहीं हैं; किन्तु सदाचरण ही ब्राह्मणत्व का कारण है । आचरणहीन दुरात्मा का कुल क्या करेगा ?" इत्यादि वचनों से तो सदाचार की प्रशंसा ही कहने को इष्ट है । उक्त वाक्यों में ब्राह्मणादि जातियों का अपलाप (निराकरण) नहीं है । यह

'यदि ते जनकादयः प्राप्तसम्यग्दर्शनास्ततो लोकसंग्रहार्थं प्रारब्धकर्मत्वात् कर्मणा सहैवासन्यस्यैव संसिद्धिमास्थिता इत्यर्थः। अथाप्राप्तसम्यग्दर्शना जनकादयस्तदा कर्मणा सत्त्वशुद्धिसाधनभूतेन क्रमेण संसिद्धिमास्थिता इति व्याख्येयः श्लोकः। अथ मन्यसे पूर्वैरपि जनकादिभिरप्यजानद्भिरेव कर्तव्यं कर्म कृतं तावता नावश्यमन्येन कर्तव्यं सम्यग्दर्शनवता कृतार्थेनेति, तथापि प्रारब्धकर्मायत्तस्त्वं लोकसंग्रहमेवापि लोकस्योन्मार्गप्रवृत्तिनिवारणं लोकसंग्रहस्तमेवापि प्रयोजनं सम्पश्यन् कर्तुमर्हसि।' (भगवद्गीता ३.२०)

"लोकसङ्ग्रहः किमर्थं कर्तव्य इत्युच्यते" —

"यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः।
स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते॥
न मे पार्थास्ति कर्तव्यं त्रिषु लोकेषु किञ्चन।
नानवाप्तमवाप्तव्यं वर्त एव च कर्मणि॥
यदि ह्यहं न वर्तेयं जातु कर्मण्यतन्द्रितः।
मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः॥
उत्सीयेदेयुरिमेलोका न कुर्यां कर्म चेदहम्!
संकरस्य च कर्तास्यामुपहन्यामिमाः प्रजाः॥"

(भगवद्गीता ३।२१-२४)

नियम भी नहीं है कि 'ब्राह्मण से अतिरिक्त वर्णों में तो सदाचार रहता है, ब्राह्मणों में नहीं रहता।' ,मनुष्य के कपाल में स्थित जल तथा कुत्ते की खाल के पात्र में स्थित दुग्ध, स्थान के दोष से त्याज्य है तथा आचरण से हीन सत्-शास्त्र का श्रवण भी ग्राह्य नहीं होता, इसी प्रकार चार वेदों का ज्ञाता यदि दुराचारी है, तो वह शूद्र से भी निकृष्ट है, इन कथनों का तात्पर्य भी सदाचार की प्रशंसा में है। जाति के अपलाप में तात्पर्य नहीं है। क्योंकि शास्त्र से सिद्ध जाति का शास्त्र के द्वारा अपलाप संभव नहीं है।

जो यह कहा कि 'तत्त्वज्ञान के अनन्तर श्रीशंकराचार्य जी की दृष्टि से सन्यास अनिवार्य है', अर्थात् तत्त्वज्ञान के अनन्तर जब संन्यास अनिवार्य है तो तत्त्वज्ञान तो सर्व वर्णों को ही संभव है, तब तो सर्ववर्णों का ही सन्यास सिद्ध होता है, 'वर्णत्रय का होता है' इसका तो कहना

यदि पुनरहमिव त्वं कृतार्थबुद्धिरात्मविदन्यो वा तस्याप्यात्मनः कर्तव्याभावेऽपि परानुग्रह एव कर्तव्य इत्याह —

"सक्ताः कर्मण्यविद्वांसो यथा कुर्वन्ति भारत ।
कुर्याद्विद्वाँस्तथाऽसक्तश्चिकीर्षुर्लोकसंग्रहम् ॥"

(भगवद्गीता ३.२५)

एवं लोकसंग्रहं चिकीर्षोर्न ममात्मविदः कर्तव्यमस्त्यन्यस्य वा लोकसंग्रहं मुक्त्वा । ततस्तस्यात्मविद इत्युपदिश्यते —

ही क्या ? यह भी कथन उचित नहीं। क्योंकि शंकराचार्यजी तत्त्वज्ञान के पश्चात् जिस सन्यास की अनिवार्यता कह रहे हैं, वह ज्ञाननिष्ठारूप सन्यास है, न कि आश्रमरूप। उस ज्ञाननिष्ठारूप सन्यास के ही विषय में शंकराचार्य जी के ये वचन भी हैं—यदि जनकादिक सम्यक्ज्ञानी थे तव तो प्रारब्ध कर्म शेष रहने से लोकसंग्रह के लिये ही कर्म के साथ ही अर्थात् विना सन्यास लिये ही संसिद्धि (ज्ञाननिष्ठा) को प्राप्त हुए। **'कर्मणैव हि संसिद्धमास्थिताः जनकादयः'** इस गीताश्लोक का यह अर्थ है—यदि ऐसा अर्थ मानते हो कि "तत्त्वज्ञान को प्राप्त किये विना ही पूर्वज जनकादिकों ने कर्म किया है, तब तो यह आवश्यक नहीं, कि अन्य कृतार्थ यथार्थ ज्ञानी के द्वारा कर्म करना ही है।" फिर भी तुम प्रारब्धकर्म के आधीन हो, अतः लोकसंग्रहरूप प्रयोजन को देखते हुए कर्म करो। शास्त्रविहित मार्ग को त्यागकर स्वतन्त्र प्रवृत्ति के निवारण को लोकसंग्रह कहते हैं।

लोकसंग्रह किसलिये करना चाहिये ? इसका उत्तर कहा जाता है कि—"श्रेष्ठपुरुष राजादि जिस शुभ अथवा अशुभ कर्म को करता है, उसीको अन्य साधारण उनका अनुगामी पुरुष भी करता है। वह श्रेष्ठ पुरुष जिसको प्रमाण मानता है, लोक भी उसी को प्रमाण मानता है।

भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं, कि "यदि मैं कर्म न करूँ तो ये लोक भी नष्ट हो जायेंगे। मैं ही वर्णसंकर का कर्ता हो जाऊँगा, इस प्रकार धर्म के लोप के द्वारा मैं ही इन प्रजाओं का नाश करनेवाला सिद्ध हो जाऊँगा।

न बुद्धिभेदं जनयेदज्ञानां कर्मसङ्गिनाम् ।
जोषयेत्सर्वकर्माणि विद्वान्युक्तः समाचरन् ॥
(भगवद्गीता ३.२६)

बुद्धिर्भेदो बुद्धिभेदो मयेदं कर्तव्यं भोक्तव्यं चास्य कर्मणः फलमिति निश्चितरूपाया बुद्धेर्भेदनं चालनं बुद्धिभेदस्तं न जनयेन्नोत्पादयेदज्ञानामविवेकिनां कर्मसंगिनां कर्मण्यासक्तानामासंगवताम् । किन्तु कुर्यात् जोषयेत् कारयेत् सर्वकर्माणि विद्वान् स्वयं तदेवाविदुषां कर्म युक्तोऽभियुक्तः समाचरन् ।

येषां तु कर्मणां कर्तारं मां मन्यसे परमार्थतस्तेषामकर्तैवाहम्, यतः 'न मां कर्माणिलिम्पन्ति' (भगवद्गीता ४.१४), 'नाहं कर्ता, न मे कर्मफले स्पृहेति ।', एवं ज्ञात्वा कृतं कर्म पूर्वैरप्यतिक्रान्तैर्मुमुक्षुभिः (भगवद्गीता ४.१५) कुरु तेन कर्मैव त्वं न तूष्णीमासनं नापि सन्यासः

यदि मेरे समान तुम तथा अन्य भी कोई आत्मतत्त्ववेत्ता हो तो, उसको अपने लिये कर्तव्य का अभाव होने पर भी दूसरे के ऊपर तो अनुग्रह करना ही चाहिए। ऐसा ही भगवान् कहते हैंकि "अविद्वान् पुरुष कर्म के फल में आसक्त पुरुष जैसे लगन से कार्य करता है, लोकसंग्रह के करने की इच्छावाला फल की आसक्ति से रहित विद्वान् (ज्ञानी) पुरुष भी उसी प्रकार लगन से कार्य करें।"

लोकसंग्रह के इच्छुक मुझ को अथवा मुझ से अन्य आत्मवेत्ता पुरुष को लोकसंग्रह के विना और कोई कर्तव्य नहीं है। इसलिये आत्मवेत्ता को लोकसंग्रह का उपदेश दिया गया है। "कर्म में आसक्त अज्ञानी पुरुषों की बुद्धि को अकर्ता आत्मा के उपदेश से विचलित न करे; किन्तु विद्वान् पुरुष संलग्न हुआ स्वयं कर्म करता हुआ अविद्वानों के लिये सर्व कर्म करे तथा करावे।"

हे अर्जुन ! जिन कर्मों का तुम मुझे कर्ता मानते हो वास्तव से मैं उनका अकर्ता ही हूँ। क्योंकि "कर्म मुझे लेप नहीं करते, अर्थात् देह प्रदान करके मुझे बन्धन में नहीं डालते हैं। इसलिये न मैं कर्मों का कर्ता हूँ, न मुझे कर्म के फल की इच्छा ही है। 'अकर्ता आत्मा को कर्म

कर्तव्यस्तस्मात् पूर्वैरप्यनुष्ठिततत्वाद् यद्यनात्मज्ञस्त्वं तदा आत्मशुद्धयर्थम्, तत्त्वविच्चेल्लोकसंग्रहार्थम्, पूर्वैर्जनकादिभिः पूर्वतरं कृतं नाधुनातनं कृतं निर्वर्तितम् (४.१५)।

यस्त्वकर्मादिदर्शी सोऽकर्मादिदर्शनादेव निष्कर्मा सन्यासी जीवनमात्रार्थचेष्टः सन् कर्मणि न प्रवर्तते, यद्यपि प्राग्विवेकतः प्रवृत्तः। यस्तु प्रारब्धकर्मा सन्नुत्तरकालमुत्पन्नात्मसम्यग्दर्शनः स्यात् स कर्मणि प्रयोजनमपश्यन् ससाधनं कर्म परित्यजत्येव। स कुतश्चिन्निमित्तात्कर्मपरित्यागासंभवेऽपि सति कर्मणि तत्फले च संगरहिततया स्वप्रयोजनाभावाल्लोकसंग्रहार्थं पूर्ववत् कर्मणि प्रवृत्तोऽपि 'नैव किञ्चित्करोति', ज्ञानाग्निदग्धकर्मत्वात्तदीयं कर्माकर्मैव सम्पद्यते, इत्येतमर्थं दर्शयिष्यन्नाह—'त्यक्त्वा कर्मफलासङ्गम्' (४.२०)

विदुषा क्रियमाणं कर्म परमार्थतः अकर्मैव, तस्य निष्क्रियात्म-

का लेप नहीं होता है', ऐसा जानकर भूतकालीन मुमुक्षुओं ने कर्म किया है, इसलिये ही तुम भी कर्म करो, चुप न बैठो, न सन्यास ही करो; क्योंकि तुम्हारे पूर्वजों ने भी कर्म ही किया है।" (भगवद्गीता ४-१५) यदि तुम अनात्मज्ञ हो तो अन्तःकरण की शुद्धि के लिये कर्म करो। तत्त्ववेत्ता हो तो लोकसंग्रह के लिये करो। क्योंकि पूर्वकालिक जनकादिक मान्यपुरुषों ने भी पूर्वकाल में कर्म किये हैं।

जो आत्मा को कर्मरहित प्रत्यक्ष अनुभव करता है, वह पुरुष तो आत्मा में कर्म अनुभव नहीं करता। ऐसा अकर्ता आत्मा का ज्ञाता तो आत्मा में अकर्म दर्शन करने से ही कर्मरहित सन्यासी होता है। उसकी तो जीवनमात्र के लिये ही चेष्टा होती है। ऐसा हुआ ही कर्म में जीवनयात्रा के लिये प्रवृत्त होता है। भले ही वह ज्ञान से पूर्व तो कर्म में वस्तुतः प्रवृत्त होता था; परन्तु ज्ञान होने के पश्चात् वस्तुतः कर्म में प्रवृत्त नहीं होता। जिसने कर्मों का प्रारम्भ किया है, पश्चात् यथार्थ ज्ञान जिसको उत्पन्न हो गया है, वह सर्व कर्मों में कोई प्रयोजन न देखता हुआ साधन के सहित कर्म को त्याग ही देता है।

वह ब्रह्मवेत्ता किसी प्रारब्धादि निमित्त से कर्म के त्याग क

दर्शनसम्पन्नत्वात्। तेनैवंभूतेनस्वप्रयोजनाभावात् ससाधनं कर्मपरित्यक्तव्यमेवेति प्राप्ते सति ततो निर्गमासंभवाल्लोकसंग्रहचिकीर्षया शिष्टविगर्हणापरिजिहीर्षया वा पूर्ववत् कर्मण्यभिप्रवृत्तोऽपि निष्क्रियात्मदर्शनसम्पन्नत्वान्नैव किञ्चित्करोति सः।

'सर्वभूतात्मभूतात्मा कुर्वन्नपि न लिप्यते' (५।७) सर्वेषां ब्रह्मादीनां स्तम्बपर्यन्तानां भूतानामात्मभूत आत्मा प्रत्यक्चेतनो यस्य स सर्वभूतात्मभूतात्मा सम्यग्दर्शीत्यर्थः। स तत्रैवं वर्तमानो लोकसंग्रहाय कर्म कुर्वन्नपि न लिप्यते न कर्मभिर्बध्यत इत्यर्थः (५.७)। तथा च 'यस्य नाहं कृतो भावः' (१८;१७) देहाद्यात्मबुद्धया हन्ताहमिति लौकिकीं दृष्टिमाश्रित्य 'हत्वापी'त्याह, पारमार्थिकीं दृष्टिमाश्रित्य 'न हन्ति न निबध्यते' इति।

असंभव होने पर भी कर्म में कर्तृत्वाभिमान से शून्य तथा कर्म के फल की इच्छा से शून्य होने से अपना कोई प्रयोजन नहीं, फिर लोकसंग्रह के लिये अज्ञानदशा के समान कर्म में प्रवृत्त हुआ भी "मैं कुछ नहीं करता हूँ' इस ज्ञानाग्नि से कर्मों को दग्ध हो जाने से उस का कर्म अकर्म ही हो जाता है। इस अर्थ को दिखलाने की इच्छा से भगवान् कहते हैं कि—'वह ब्रह्मवेत्ता कर्म के फल की आसक्ति को त्यागकर कर्म में प्रवृत्त होता भी कुछ नहीं करता' (भगवद्गीता ४. २०)। विद्वान् के द्वारा किया हुआ कर्म वास्तव से अकर्म ही है। क्योंकि ज्ञानीपुरुष तो निष्क्रिय (कर्म से सदा असंग) आत्मा के दर्शन से युक्त रहता है।

ऐसे निष्क्रिय आत्मदर्शी के द्वारा तो कर्म त्याग ही देने योग्य है, क्योंकि उसको कर्मसे कोई प्रयोजन नहीं है, अतः कर्म-त्याग प्राप्त होने पर भी, किसी निमित्त से गृहस्थादि आश्रमसे निकलना असंभव होनेसे लोकसंग्रह की इच्छा अथवा शिष्ट पुरुषों से प्राप्त निन्दा के परित्याग की इच्छा से कर्म में प्रवृत्त भी ज्ञानी पुरुष, निष्क्रिय आत्मदर्शी होने से कुछ नहीं करता। अत एव भगवान् श्रीकृष्ण ने कहा है कि—'ब्रह्मा से लेकर क्षुद्र चींटीपर्यंन्त सम्पूर्ण भूतों का आत्मारूप ही जिसका आत्मा है ऐसा विद्वान् सर्वभूतात्मभूत, अर्थात् सम्यक्दर्शी कहलाता हैं। वह

ननु भाष्यकारवार्तिककारयोर्विषयाभेदेन सन्यास तदभाव-प्रतिपादन एव विरोधोद्भावनादि सङ्गच्छते, नान्यथा। प्रकृते च बृ० १.४.१५,३.५.१ इत्यत्र भाष्यकारैः सन्यासे ब्राह्मणस्यैवाधिकार उक्तः। उभयत्र वार्तिककारैर्भाष्यकारमतं श्रुतिविरुद्धमुक्त्वा खण्डितम्। 'पारिव्राज्यदर्शनाच्च' (१.४.१५) 'ब्राह्मणानाम् एवाधिकारो व्युत्थाने' (बृ० ३.५.१) इत्यस्य भाष्यस्य 'त्रयाणामपि वर्णानां श्रुतौ सन्यासदर्शनात्। ब्राह्मणस्यैव सन्यास इति श्रुत्या विरुद्धचते॥'

[112]उपलक्षणं वा तद्ग्राह्यं ब्राह्मणग्रहणं श्रुतौ।
ब्राह्मणस्य प्रधानत्वाद्युक्तं तदुपलक्षणम्॥

(बृ० वार्ति० १.४.१६५१, १६५३)

'न हि क्षत्रियवैश्ययोः पारिव्राज्यप्रतिपत्तिरस्ति' (बृ० भा० ४.५.१५) इत्यपि वार्तिककारैः खण्डितम्।

लोकसंग्रह के लिये कर्म करता हुआ भी कर्मों से बन्धन को प्राप्त नहीं होता।" अत एव भगवान् कहते हैं कि कर्तृत्वाभिमान से रहित तथा कर्मफल की आसक्ति से शून्य पुरुष तीनों लोकों का हनन करके भी न हनन करता है, न उससे बन्धन को प्राप्त होता है (गी० १८.१७)।

---

११२. क्षत्रियस्य ब्राह्मणत्वलाभः राजसूये आसन्दीस्थो राजा अध्वर्युमाह—ब्रह्माहम् इति। अध्वर्युश्च राजानमाह—त्वं राजन् ब्रह्मासि इति। एवं वैश्यस्तोमे संवादं उदाहार्यः। तेन क्षत्रियवैश्ययोः ब्राह्मणत्वलाभः अग्निब्राह्मणायत्तः न जन्मतः अतो ब्राह्मणस्यैव जन्मतो ब्राह्मणत्वलाभात् प्राधान्यमित्यर्थः।

न च तर्हि शूद्रस्यापि ब्राह्मणग्रहणेनोपलक्षणात्क्षत्रियादेरिव शूद्रस्य पारिव्राज्यं स्यादिति युक्तं, तस्य 'सशिखं वपनं कृत्वा बहिःसूत्रं त्यजेदि'ति (नारदपरि० ३.७७) शिखात्यागपूर्वकोपवीतत्यागानधिकारित्वादादावेवासतः शिखादेस्त्यागायोगात्। अपशूद्राधिकरणे च वेदद्वारा विद्याधिकारं तस्य निरस्यद्भिर्वैदिकसंन्यासेऽपि तदधिकारनिरासदर्शनादिति द्रष्टव्यम्।

[113]त्रयाणामविशेषेण सन्यासः श्रूयते श्रुतौ ।
यदोपलक्षणार्थं स्याद् ब्राह्मणग्रहणं तदा ॥
(बृ० वार्तिक ३।५।८९)

[114]कर्माधिकारविच्छेदि ज्ञानं चेदभ्युपेयते ।
कुतोऽधिकारनियमो व्युत्थाने क्रियते बलात् ॥
(३।५।९०)

[115]प्रत्यग्याथात्म्यविज्ञानस्वभावश्चेत्समर्थ्यते ।
व्युत्थानं यस्य यस्य स्यात्स स व्युत्थानमर्हति ॥
(३।५।९१)

शङ्का—भाष्यकार तथा वार्तिककार का एक जैसे सन्यास के विधान तथा उसके अभाव के प्रतिपादन में ही विरोध का प्रदर्शन करना संभव हो सकता है। भिन्न प्रकार के संन्यास में तो ऐसा संभव नहीं है। (बृ० उ० १।४।१५ तथा ३.५.१)भाष्य में भाष्यकार ने संन्यास में ब्राह्मण का ही अधिकार कहा है। इन बृहदारण्यक के दोनों स्थलों में वार्तिकार ने भाष्यकार के मत का खण्डन किया है। (बृहदा० १.४. १५) के 'ब्राह्मण काही सन्यास देखा जाने से ब्राह्मण का ही सन्यास में अधिकार है' इस भाष्य का भी 'तीनों वर्णों का श्रुति में सन्यास देखा जाता है। अतः ब्राह्मण का ही सन्यास में अधिकार है, यह भाष्य-वाक्य श्रुतिविरुद्ध है।' कहकर तथा 'क्षत्रिय तथा वैश्य के सन्यास की श्रुति से प्राप्ति नहीं है' इस बृ० ४।५।१५ के भाष्यवाक्य का भी वार्तिक-कार ने यह कहकर कि 'तीनों वर्णों का समान रूप से सन्यास श्रुति में सुना है' खण्डन किया है।

---

११३. तीनों वर्णों का समान रूप से सन्यास श्रुति में सुना जाता है, तब श्रुति में ब्राह्मण का ग्रहण तीनों वर्णों के उपलक्षण के लिये ही है।

११४. जब कर्मों के अधिकार की समाप्ति करने वाला ज्ञान को स्वीकार किया जाता है, तब जबरन अधिकार का नियम क्यों किया जाता है ?

११५. 'यदि प्रत्यग् आत्मा के यथार्थ ज्ञान का स्वभाव ही सन्यास है'

[११६]एवं चेद्ब्राह्मणोक्तिः स्याद्ध्वस्ताविद्यगृहीतये ।
'स ब्राह्मण' इति स्पष्टं श्रुतिरन्ते च वक्ष्यति ।।
(३।५।९२)

एतेन स्पष्टमेव भाष्यरीत्या यद्यपि ब्राह्मणस्यैव सन्यासाधिकारस्तथापि वार्तिककाररीत्या श्रुतौ त्रयाणामपि वर्णानां सन्यासश्रवणात् 'ब्राह्मणस्यैवाधिकार:' इति कथनं श्रुतिविरुद्धमेवेति चेन्न, त्रयाणामपि वर्णानां सन्यासविधायकश्रुतेरद्याप्यदर्शनात् ।

यत्तु 'यदि वेतरथा ब्रह्मचर्यादेव प्रव्रजेद् गृहाद्वा वनाद्वा । यदहरेव विरजेत्तदहरेव प्रव्रजेत्' (जाबालोपनिषत् ४, नारद परि० उ० ३।७७) इति श्रुतेस्त्रयाणामपि वर्णानां सन्यासविधायकत्वं केनचिदुक्तम्, तत्त्वति तुच्छम्, श्रुतौ क्षत्रियवैश्ययोर्नामाश्रवणात् ।

यत्तु 'वेदे त्रयाणां वर्णानामधिकाराद्वेदवर्णित सन्यासे सुतरां

पूर्वोक्त सन्दर्भ से भाष्य की रीति से स्पष्टरूप से ब्राह्मण का ही सन्यास में अधिकार है, तथापि वार्तिककार की रीति से श्रुतिमें तीनों वर्णों के सन्यास का श्रवण होने से 'ब्राह्मण का ही सन्यास में अधिकार है' यह कथन श्रुति से विरुद्ध ही है ।

समाधान—तीनों वर्णों के सन्यास की विधायक श्रुति का अब तक दर्शन न होने से केवल ब्राह्मण का ही सन्यास में अधिकार है, यह कथन श्रुति से विरुद्ध नहीं है ।

'यदि वेतरथा' इत्यादिक सामान्यश्रुतियों को जो सन्यास की विधायक किसी ने कहा है, वह भी उचित नहीं, क्योंकि किसी श्रुति में क्षत्रिय तथा वैश्य का नाम ही श्रवण नहीं है ।

ऐसा समर्थन किया जाता है, तब तो जिस-जिसको ज्ञान प्राप्त-हो जाय वह, वह सन्यास का योग्य है ।

११६. ऐसा यदि स्वीकार किया जाता है तो अविद्या नष्टवाले तत्त्ववेत्ता के ग्रहण करने के लियें ही श्रुति में ब्राह्मण शब्द है । श्रुति अन्त में विद्वान् के लिये कहती भी है 'कि वह ब्राह्मण है ।' (३.५. १ बृह०) ।

त्रयाणामपिवर्णानामधिकारः' इत्युच्यते, तदपि यत्किञ्चित्। तथात्वे, राजसूयेऽपि ब्राह्मणवैश्ययोरधिकारप्रसक्तेः। 'तत्र क्षत्रियवाचक राजपदवशान्न तत्र ब्राह्मणवैश्ययोरधिकारः' इत्युच्यते चेत्तर्हि प्रकृतेऽपि सन्यासविधायकेषु ब्राह्मणग्रहणात्तत्रापि न क्षत्रियवैश्ययोरधिकार इति समं समाधानम्। विशेषानुसारेणैव सामान्यस्य नयनं युक्तं, न सामान्यानुगुण्येन विशेषस्य नयनम्।

'कथमयज्ञोपवीती ब्राह्मणः' (नारद परि० ३.७७)इति प्रसङ्गेन तत्रापि ब्राह्मणस्यैव 'यदहरेव विरजेत्' इत्याद्युक्तिरित्यप्युक्तमेव। अत एव 'पुरोडाशं चतुर्धा करोती'ति सामान्यस्य 'आग्नेयं चतुर्धा करोति' इत्यनेनैकवाक्यतयैव शाब्दबोधो जायते।

यत्तु शङ्कराचार्याणां रीत्या तत्र भाष्येण प्रत्यग्याथात्म्यज्ञानवतो वर्णाश्रमाभिमानाभावात् कर्मस्वनधिकारत्वाद्व्युत्थानं स्वभावप्राप्त इति तदपि यत्किञ्चित्। स्वाभाविक व्युत्थानस्य स्वाभाविकत्वादेव विहितचतुर्थाश्रमसन्यासभिन्नत्वम्। गीताभाष्यादिषु ज्ञानिनामपि लोकसंग्रहार्थं कर्मादरसमर्थनात्, 'कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः

जो यह कहा गया है कि—'वेद में तीनों वर्णों का अधिकार है, इसलिये वेदविहित सन्यास में भी तीनों वर्णों का अधिकार होना चाहिए' ऐसा मानने पर तो राजसूययज्ञ में भी ब्राह्मण तथा वैश्य के अधिकार का प्रसंग हो जायगा। यदि कहा जाय कि 'राजसूय के विधायकवाक्य में क्षत्रियवाचक राजपद है, उसके बल से राजसूययज्ञ में ब्राह्मण तथा वैश्व का अधिकार नहीं है', तो प्रकृत में भी सन्यासविधायकवाक्यों में ब्राह्मणपद का ग्रहण होने से सन्यास में भो क्षत्रिय, वैश्य का अधिकार नहीं। यह समाधान समान ही है। **विशेष के अनुसार ही सामान्यवाक्य की गति उचित है, न कि सामान्य के अनुसार विशेष की।**

"अयज्ञोपवीती सन्यासी ब्राह्मण कैसे ?" इस प्रसंग से सामान्य वाक्यों के स्थलों में भी **'यदहरेव विरजेत्'** यह कथन भी ब्राह्मण के सन्यास का ही है, यह पूर्व में कह दिया है। विशेष के अनुसार सामान्य होता है, इसलिए ही 'पुरोडाश को चतुर्धा करे,' इस सामान्य का 'आग्नेय पुरोडाश को चतुर्धा करे' इस विशेषवाक्य के अनुसार

(३.२०) इत्यत्र सहयोगे कर्मणेति तृतीयाऽङ्गीकृता। कर्मणा सहैव-कर्माण्यपरित्यज्यैव संसिद्धिमास्थिता इत्युक्तम्। यदि संसिद्धिरन्तः-करणशुद्धिरुच्यते तदा तु कर्मणैवान्तःकरणशुद्धिं प्राप्नुवन्तः इत्येवार्थः। एवमेवान्यत्र ज्ञानिनां कर्मसत्त्वेऽपि ज्ञानस्यैव मोक्षहेतुत्वम्, न कर्मणाम्। यथा पिङ्गलताविशिष्टेऽग्नौ पिङ्गलतायाः सहभावेऽपि दाहेऽग्नेरेव हेतुत्वम्, न पिङ्गलतायाः तथैव ज्ञानकर्मणोः सहभावेऽपि ज्ञानस्यैव मोक्षहेतुत्वं न कर्मणो हेतुत्वमित्यादिना च ज्ञानिनामपि कर्मानुमतं भाष्यकारैः।

अर्थ किया जाता है। जो यह कहा जाता है कि—'शंकराचार्य जी की रीति से उनके भाष्य के द्वारा प्रत्यक्-चेतन आत्मा के यथार्थस्वरूप के ज्ञाता को वर्ण और आश्रम का अभिमान न रहने से कर्म में अधिकार नहीं, इसलिये सन्यास स्वभाव से ही प्राप्त है', यह कथन भी कुछ नहीं। स्वाभाविक सन्यास तो शास्त्र से विहित चतुर्थ-आश्रमरूप सन्यास से भिन्न है; क्योंकि वह स्वभाव से प्राप्त है विधि से नहीं, अतः विहित अधिकार की चर्चा उस सन्यास की नहीं। गीता भाष्या-दिकों में ज्ञानियों को भी लोकसंग्रह के लिये कर्म का समर्थन किया है। यदि ज्ञानियों को प्राप्त स्वाभाविक सन्यास तथा विधि प्राप्त सन्यास एक होते तो ज्ञानी के लिये लोकसंग्रह करने के लिये कर्म का समर्थन न किया जाता; क्योंकि विधिप्राप्त सन्यास तो विहितकर्मों का त्याग रूप ही है, उसके लिये कर्म का समर्थन तो कथमपि संभव नहीं; अतः स्वाभाविक सन्यास से विहित सन्यास भिन्न है। '**कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिताः**' इस वाक्य में '**कर्मणा**' इस पद में सहयोग में तृतीया अंगीकार है। 'कर्म के साथ ही अर्थात् कर्म का त्याग किये बिना ही जनकादिक सिद्धि को प्राप्त हुए हैं' ऐसा अर्थ किया है। यदि संसिद्धि शब्द का अर्थ, अन्तःकरण की शुद्धि कहा जाय तो कर्म से ही अन्तः-करण की शुद्धि को जनकादिक प्राप्त हुए हैं, यही अर्थ है। कहीं भी ज्ञानी पुरुषों में कर्म का वर्णन हो वहाँ ज्ञान को ही मोक्ष की कारणता है, कर्म को नहीं। यदि कहा जाय कि 'ज्ञानियों में यदि ज्ञान के साथ कर्म है तो मोक्ष की कारणता क्यों "नहीं' इसका उत्तर है कि जैसे पिङ्गलरूप से युक्त अग्नि में पिङ्गलरूप साथ है भी, परन्तु दाह की कारणता अग्नि को ही है, पिङ्गलता को नहीं। उसी प्रकार ज्ञान और

यत्तु 'ब्रह्मविद्ययाऽविद्यायामतीतायां कर्तृत्वभोक्तृत्वनानात्वबुद्धयपगमान्न सम्भवत्येव कर्मेति' तदपि यत्किञ्चित्, बाधितानुवृत्त्या कर्म सम्भवात्, 'पश्वादिभिश्चाविशेषादि' (ब्र० अध्यास०) त्युक्तेश्च ।

वस्तुतस्तु कर्तृत्वभोक्तृत्वनानात्वबुद्धिपूर्वकस्य साभिनिवेशाहङ्कारकर्मण एव कर्मत्वम् । कर्तृत्वभोक्तृत्वनानात्वबुद्धिबाधपूर्वकनिरहंकारं तु कर्म कर्माभासमेव यथा श्रीकृष्णस्य कर्माकर्मैव । वशिष्ठादीनां सर्वाधिकारविच्छेदिनि ज्ञाने जातेऽपि यथा मर्यादादिपरिपालनार्थमग्निहोत्रादौ रामस्य युद्धादौ प्रवृत्तिः लोक संग्रहार्थम्, योगवासिष्ठादिरीत्या वसिष्ठविश्वामित्ररामादयोऽपि तथाभूताकर्मिण आसन् । किं बहुना, ब्रह्मविष्णुरुद्रादयोऽपि कर्मवन्तोप्यकर्मिण एवासन् । 'नैव किञ्चित्करोमीति युक्तो मन्येत तत्त्ववित्' (५.८, ६) इति गीतोक्तेश्च ।

कर्म का सहभाव होने पर भी ज्ञान को ही मोक्ष के प्रति कारणता है, कर्म को मोक्ष के प्रति कारणता नहीं है । इत्यादिक कथनों से भाष्यकारों ने ज्ञानियों के लिये भी कर्म की अनुमति दी है ।

जो कहा कि 'ब्रह्मज्ञान से अज्ञान के समाप्त हो जाने पर कर्तृत्व-भोक्तृत्व-नानात्वबुद्धि के अभाव हो जाने से ज्ञानी का तो कर्म सम्भव ही नहीं' यह ठीक नहीं; क्योंकि बाधितानुवृत्ति से कर्म सम्भव है तथा 'व्यवहार में तो विवेकी भी पशु आदि के ही समान होता है ।' इस भाष्य के कथन से भी विवेकी पुरुष में कर्म संभव है ।

ज्ञानी का कर्म कर्म नहीं होता; क्योंकि कर्तृत्व-भोक्तृत्व तथा नानात्वबुद्धि से किया गया अहङ्कार के सहित जो कर्म होता है, कर्म वही होता है । कर्तृत्व-भोक्तृत्व तथा नानात्वबुद्धि के बाध (मिथ्यात्व निश्चय) पूर्वक किया गया तथा अहंकारशून्य कर्म तो कर्माभास ही होता है । जैसे श्रीकृष्ण महाराज का कर्म कर्म नहीं था, अपितु अकर्म ही था । सर्वप्रकार के अधिकार को समाप्त कर देनेवाले आत्मज्ञान के हो जाने पर भी वशिष्ठ आदिकों की जैसे मर्यादा के परिपालन के लिए अग्निहोत्रादिकों में तथा राम की युद्धादिकों में प्रवृत्ति लोकसंग्रह के लिये हुई थी, वह प्रवृत्ति आभासरूपा ही थी । योगवासिष्ठादि ग्रन्थों की रीति से तो वशिष्ठ, विश्वामित्र तथा रामादिक कर्म करते हुए भी अकर्मी ही थे । ब्रह्मा, विष्णु तथा रुद्रआदि भी कर्म करते हुए भी अकर्मी ही थे ।

अत एव ब्राह्मणग्रहणमुपलक्षणार्थमित्यप्यसङ्गतम्। तथात्वे 'राजा राजसूयेन यजेत' **(आप० श्रौ० १०.८.१,४) इत्यत्राप्युपलक्षणत्वापातात् ध्वस्ताविद्यगृहीतयेऽपि न ब्राह्मणग्रहणं युक्तम्, मुख्यार्थत्यागे माना-भावात्। शीघ्रोपस्थितिकत्वेन प्रसिद्धजात्यर्थापेक्षया बिलम्बोपस्थिति-कस्य गौणार्थस्य दुर्बलत्वात्।**

तथैव सर्वाधिकारविच्छेदि ज्ञानसम्पन्नेष्वपि अधिकारनियमो **युक्त एव। अत एव** 'क्षत्रधर्मो न मुण्डनम्' **(शान्ति० २३.४७)** 'ब्राह्मणः प्रव्रजेद् गृहात्' **(विष्णुस्मृतिः ४।६७)** 'चतुर्थाश्रमं गच्छेत्सन्यासविधिना द्विजः' **(हारीत स्मृ० ६।२)**,'द्विजः प्रव्रजितो भवेत्' **(संवर्त स्मृतिः १०६)**, 'द्विजो ब्रह्माश्रमीभवेत्' **(शंखस्मृतिः ६।७)**, 'सन्यसेद् बुद्धिमान् द्विजः **(कौर्मेपूर्वा० ३।५)**, 'तत्रैव सन्यसेद्विद्वाननिष्ट्वापि द्विजोत्तमः **(कौर्मे पूर्व० ३।६)** 'ब्राह्मणः प्रव्रजेद्गृहात्' **(मनुस्मृतिः ६।३८)**, 'भयं हृत्वा च भूतानाममृती भवति द्विजः' **(याज्ञवल्क्यो० ३, यज्ञ० स्मृ० यति० ३.६१)**, 'संन्यसेदकृतोद्वाहो ब्राह्मणो ब्रह्मचर्यवान्' **(नारद० परि० ३.१४)**, 'त्रिदण्डं वैष्णवं लिङ्गं विप्राणां मुक्तिसाधनम्' **(शाट्यायनीयो० १०)**,

---

"निष्ठावान् तत्त्वज्ञानी पुरुष 'मैं कुछ भी नहीं करता हूँ' ऐसा ही मानता अर्थात् इसी प्रकार के निश्चयवाला होता है" इस गीता के कथन से भी यही सिद्ध होता है कि तत्त्ववेत्ता करता हुआ भी कुछ नहीं करता, अर्थात् उसका कर्म कर्माभास ही होता है।

इसलिये 'सन्यासविधायक श्रुति में ब्राह्मण का ग्रहण क्षत्रिय तथा वैश्य के उपलक्षण के लिये है,' यह कथन भी असङ्गत है; क्योंकि तब तो राजापद को भी ब्राह्मण तथा वैश्य का उपलक्षण मानना पड़ जायगा। जिसका ज्ञान से अज्ञान नष्ट हो गया है, ऐसे अविद्या से शून्य ब्रह्मवेत्ता के ग्रहण के लिये भी सन्यास विधायकश्रुति में ब्राह्मणपद का ग्रहण नहीं; क्योंकि ब्राह्मण पद का मुख्य अर्थ जातितः ब्राह्मण है, अतः श्रुति के ब्राह्मणपद का मुख्य अर्थ जातितः ब्राह्मण के त्याग में कोई प्रमाण नहीं है। किसी भी पद का उच्चारण होते ही उसका मुख्य अर्थ शीघ्र उपस्थित (स्मृत) होता है तथा गौण अर्थ विलम्ब से उपस्थित होता है; अत एव गौण अर्थ दुर्बल होता है। **प्रसंग में 'जातितः ब्राह्मण' की अपेक्षा 'ब्रह्मज्ञानी' गौण-अर्थ है। अतः गौण-अर्थ दुर्बल होने से ग्रहण नहीं किया जा सकता।**

"ब्राह्मणस्य तु चत्वारस्त्वाश्रमा विहिताः प्रभो।
वर्णास्तान् नानुवर्तन्ते त्रयो भारतसत्तम ॥"
(महा० शान्ति० ६२.२)

"गार्हस्थ्यं ब्रह्मचर्यं च वानप्रस्थं [117]त्रयोऽश्रमाः।
क्षत्रियस्यापि गदितो य आचारो द्विजस्य हि ॥
वैखानसत्वं गार्हस्थ्यमाश्रमद्वितयं विशः।
गार्हस्थ्यमाश्रमं त्वेकं शूद्रस्य क्षणदाचर ॥"
(वामन पु० १४. १७,१८)

इति व्यवहारो युक्त एव।

येषु ज्ञानिषु तत्त्वज्ञाने जातेऽपि प्रारब्धदोषाद्द्वैतं प्रतीयते परं तत्र विश्वासो न भवति, तेषां विधिषु श्रद्धाराहित्यान्न प्रवृत्तिः। तत्र श्राद्धस्यैवाधिकारात्। निश्चितगुडमाधुर्यो यथा पित्तदोषवशात् गुडे तिक्ततामनुभूय त्यजन्नपि न श्रद्दधाति, तद्वत्। निषेधे तु तादृशज्ञान-

---

सर्वअधिकारों को समाप्त करनेवाले ज्ञान से युक्त ज्ञानियों में बाधितानुवृत्ति से कर्म संभव है, उसी प्रकार अधिकार का नियम भी सम्भव है। अत एव अधिकारनियम से प्राप्त सन्यास का 'क्षत्रधर्मो न मुण्डनम्' निषेध तथा 'ब्राह्मणः प्रव्रजेत्' इत्यादि अनेक स्मृतियों से ब्राह्मण के लिये विधान भी बाधितानुवृत्ति से सम्भव है, अर्थात् उचित ही है।

जिन ज्ञानियों में तत्त्वज्ञान के उत्पन्न हो जाने पर भी प्रारब्ध-दोष से द्वैत प्रतीत होता है; परन्तु द्वैत प्रतीति में विश्वास नहीं होता, उन विद्वानों की विधियों में श्रद्धा का अभाव होने से, विधि में प्रवृत्ति नहीं होती। क्योंकि विधि में तो श्रद्धावाले का ही अधिकार है। जैसे जिस पुरुष ने गुड की मधुरता का अनुभव कर लिया है, वह पित्तदोष के कारण गुड में कटुता (कड़ुआपन) का अनुभव करके गुड का त्याग कर देता है, फेंक देता है, फिर भी गुड़ की कटुता विषयक प्रतीति में विश्वास नहीं करता, उसी प्रकार प्रारब्ध दोष से संसार की प्रतीति

---

११७. अकारस्य ह्रस्व आर्षः।

वानपि भवत्येवाधिकारी, तत्र निषेध्यप्रतीतिरेवापेक्षिता न श्रद्धाऽपि। अत एव द्वैतमिथ्यात्व बोधेऽपि निषेधबलान्निर्वर्तितव्यमेव निषिद्धेभ्यः कर्मभ्यः। अतः सर्वाधिकारविच्छेदिनि ज्ञाने सत्यपि अधिकार-नियमो न विरुद्धयते।

अधिकार विच्छेदिज्ञानं यत्र जातं तत्र सन्यासेऽपि नाग्रहो भवति। अतः क्षत्रियवैश्ययोः सन्याससाधनाग्रहोऽपि निरर्थक एव। 'सम्यक् नितरां ब्रह्मण्यासः:' इति ज्ञानलक्षणां सन्यासस्तु ज्ञानेन स्वाभाविकः, सिद्धयत्येव। दण्डकाषायभिक्षाचर्यादिलक्षणसन्यासस्तु न स्वाभा-विकः, किन्तु चतुर्थाश्रमधर्मरूप एव। तेन तत्राधिकारनियमो युक्त एव। चतुर्थाश्रमधर्मरूपे सन्यासेऽधिकारनियमेऽपि स्वाभाविकेऽलिङ्ग सन्यासे तु नाधिकार नियमः, तस्य स्वाभाविकत्वात्। तत एव वार्तिक-

---

होती है, परन्तु प्रारब्धदोष से होने वाली प्रतीति में विश्वास नहीं करता। किसी पदार्थ के निषेध करने में तत्त्वज्ञानी पुरुष भी अधिकारी होता है; क्योंकि किसी पदार्थ के निषेध के लिये तो निषेध्य की प्रतीति की अपेक्षा है, उसके लिये श्रद्धा भी अपेक्षित नहीं है। इसलिये ही द्वैत के मिथ्यात्व का बोध होने पर भी निषेध के बल से निषिद्ध-कर्मों से निवृत्त होना ही चाहिए। सर्व अधिकारों को समाप्त करने वाले तत्त्वबोध के होने पर भी बाधितानुवृत्ति से अधिकार का नियम विरुद्ध नहीं है।

जिस अधिकारी को सर्व अधिकारों को समाप्त करनेवाला ज्ञान होगया है, उसका सन्यास में भी कोई आग्रह नहीं रहता। इस लिये क्षत्रिय तथा वैश्यों के सन्यास की सिद्धि का आग्रह भी व्यर्थ है। यदि सन्यासशब्द का यह अर्थ किया जाय कि—**सम्यक्'**=अतिशयरूप से, ब्रह्म में **'आस'**=:स्थिति, का नाम ही सन्यास है तो ऐसा ब्रह्मज्ञान में निष्ठारूप संन्यास तो ज्ञान से स्वाभाविक ही सिद्ध है। सिद्ध दण्ड तथा काषायवस्त्रधारण और भिक्षाचरणरूप विलक्षणसन्यास स्वाभा-विक नहीं; क्योंकि वह विधि से प्राप्त होता है। वह चतुर्थ-आश्रम का धर्मरूप ही है। चतुर्थ-आश्रमरूप सन्यास को स्वाभाविक न होने से ही उसमें अधिकार नियम उचित ही है। चतुर्थ-आश्रम का धर्मरूप सन्यास में अधिकार का नियम होने पर भी जो स्वाभाविक

वचनानि भाष्यकारानुगुण्येनैव [११८] **नेतव्यानि। अत एव विषयैक्येऽपि न सन्यास तदभावयोर्विरोधोऽपि, आश्रमरूपसन्याससाधनस्य निर्युक्तिकत्वेन भाष्यकारानुगुण्य नयनेनाविरोधसाधनमेव श्रेयः।**

अलिङ्गसन्यास है, उसमें अधिकार का कोई नियम नहीं; क्योंकि वह स्वाभाविक है। इसलिए वार्तिकक्कार के वचनों का भाष्यकार के अनुसार ही नयन (अर्थ) करना चाहिये। भाष्यकार के अनुसार ही वार्तिककार के वचनों का अर्थ करने से ही विषय की एकता होने पर

---

११८. श्री वार्तिकार आचार्य सुरेश्वर ने **'ब्राह्मणाः प्रव्रजन्ति'** (बृह० ४.४.२२) में ब्राह्मण को तीनों ही वर्णों का उपलक्षण माना है। शूद्रों के क्योंकि यज्ञोपवीतादि संस्कार नहीं; अतः यज्ञोपवीत के ग्रहण या विसर्जनपूर्वक सम्पन्न होने वाले संन्यास में अधिकार भी नहीं। ऐसी स्थिति में ब्राह्मणपद से शूद्र का उपलक्षित होना संभव नहीं। इस मत में तीनों वर्णों का सलिङ्गसन्यास में अधिकार सिद्ध होता है। ऐसा मानना इसलिये आवश्यक है; क्योंकि अलिङ्गसंन्यास ही यदि तीनों वर्णों का मान्य हो तो सर्वत्याग में शूद्रों के अधिकार के प्रतिपादक **'अन्तकाले च संप्राप्ते'** (महा० शा० ६३.२०-२३), **'यतिधर्ममवाप्तोऽसौ'** (महा० आश्रम० २६।३१-३३) आदि वचनों के बल पर ब्राह्मण ग्रहण तीनों ही नहीं; अपि तु चारों ही वर्णों का उपलक्षण हो जायगा।

ऐसा मानने पर (१) श्रुतिस्मृतियों में प्रयुक्त ब्राह्मण, विप्र, द्विज, द्विजोत्तम इन शब्दों के प्रसिद्धार्थ का सर्वत्र परित्याग करना होगा, जोकि **'प्रसिद्धार्थ परित्यागरूपदोष'** का प्रापक होगा।

(२) संन्यासाश्रमु के निषेधपरकवचनों की सार्थकता न सध पाने के कारण **'निषेधवचननिरवकाशदोष'** प्राप्त होगा।

(३) **'बहूदकाः ब्राह्मणकुलेषु भैक्षाचर्यां चरन्तः'**(आश्रमो० ४), **'शूद्रे च विप्रमुख्यानां यतिः सर्वोत्तमः स्मृतः'** (नारद परि०

अत एव भिक्षुकीत्यनेन स्त्रीणामपि प्राग्विवाहाद्वैधव्यादूर्ध्वं वा सन्यासेऽधिकारसाधनम्, तासां त्रिदण्डादिसाधनंत्वसङ्गतम्, भिक्षुकीति-स्मरणस्य जीवनयात्रार्थं लौकिकभिक्षाचरणेऽप्युपपन्नत्वात् ।

भी सन्यास तथा सन्यास के अभाव का विरोध भी नहीं । भाव यह है कि जिस सन्यास में भाष्यकारने ब्राह्मण का ही अधिकार कहा है, वह अधिकार के नियमपूर्वक चतुर्थ आश्रम का धर्मरूप है । जिस के विषय में वार्तिककार ने यह कहा है कि सर्वाधिकार को समाप्त करनेवाले ज्ञान के होने पर बलात् सन्यास का नियम क्यों थोपा जाय, वह स्वाभाविक सन्यास है जो कि ब्रह्मनिष्ठा (ज्ञाननिष्ठा) रूप है । अतः आश्रम के धर्मरूप सन्यास की सर्व के लिए सिद्धि करना शास्त्रानुसारी युक्ति से शून्य है । अत एव भाष्यकार के अनुसार वार्तिककार के वचनों का अर्थ करके दोनों आचार्यों का अविरोध सिद्ध करना ही श्रेष्ठ है ।

६.६), **'सायंकाले तु विप्राणां गृहाणि'** (लघु हारीते ६.१२), **'ब्राह्मण कुले वा यल्लभेत तद्भुञ्जीत'** (वसिष्ठ स्मृतिः ११.१८),**'सर्ववर्णेषु भिक्षूणां भैक्षाचर्यं'**(निषेध),(नारायण स्मृतिः४) आदि वचनोंके अनुसार ब्राह्मणघरों में विशेषकर कलियुग में भिक्षा माँगने के वचनों की सार्थकता सिद्ध करने पर **'ब्राह्मण-शोषणदोष'** चरितार्थ होगा ।

(४) क्षत्रिय और वैश्य भी संन्यासी होने लगेंगे तो रक्षा और अर्थ व्यवस्था दोनों ही शिथिल होगी । इस प्रकार **'अर्थव्यवस्थोच्छेददोष'** चरितार्थ होगा ।

(५) ऐसा होने पर **'आचार्यसांकर्यदोष'** भी प्राप्त होगा । तब तो ब्राह्मणपरिव्राजक ही नहीं, परिव्राजकमात्र आचार्य और पूज्य होने लगेंगे ।

(६) यज्ञोपवीत और वेदाध्ययनादिसाम्य के बल पर अवान्तर अधिकारभेद को न मानने पर **'वर्ण-सांकर्य और कर्मसांकर्य—दोष'** प्राप्त होंगे ।

वार्तिककारचरणैरपि 'सर्वाधिकारविच्छेदि' इत्यादिना विद्वत्सन्न्यासे नियमाभावस्य साधितत्वात् । तथा च —

[119]**ब्राह्मणानामयं धर्मो यद्विष्णोर्लिङ्गधारणम् ।**[120]

ब्राह्मण तथा उसमें भी पुरुष को ही सन्यास का अधिकार सिद्ध होने से सुलभा आदि स्त्रियों के लिये शास्त्र में भिक्षुकी पद को लेकर स्त्रियों का विवाह पूर्व अथवा विधवा हो जाने के पश्चात् सन्यास में अधिकार सिद्ध करना तथा त्रिदण्ड आदि को सिद्ध करना असंगत है। महाभारतादि ग्रन्थों में सुलभादि स्त्रियों के लिये जो भिक्षुकी पद का प्रयोग हुआ है, वह तो जीवनयात्रा के लिए लौकिक भिक्षाचरण करने पर भी संभव हो सकता है।

---

११९. विष्णुभगवान् का लिङ्ग–दण्डकाषायवस्त्रादि का धारण करना यह ब्राह्मण का ही धर्म है, क्षत्रिय तथा वैश्य का यह धर्म नहीं है।

१२०. **'वैष्णवं दण्डमेकं'** (नारद परिव्राजको० ५), **'एकदण्डी त्रिदण्डी वा स वै मोक्षं समश्नुते'** (गोपीचन्दनोपनिषत् १), **'एकदण्डी भवेद्वापि त्रिदण्डी वापि वा भवेत्'** (विष्णुस्मृतिः ४.७६), **'एकदण्डी त्रिदण्डी वा'** (बौधायनस्मृतिः २.११.१, २.१०.५३), **'बहूदकास्त्रिदण्डधारिणः, हंसा एकदण्डधारिणः'** (आश्रमोपनिषत् ४), **'एकदण्डधरा हंसाः, मुण्डाः'** (बृ० पराशर० १२.१६६, १७१), **'सखा मे गोपायेति दण्डं परिग्रहेत् ।'**

"दण्डं तु वैष्णवं सौम्यं सत्वचं समपर्वकम् ।
पुण्यस्थलसमुत्पन्नं नानाकल्मषशोधितम् ॥
अदग्धमहतं कीटैः पर्वग्रंथिविराजितम् ।
नासादघ्नं शिरस्तुल्यं भ्रुवोर्वा विभ्रयाद्यतिः ॥
दण्डात्मनोस्तु संयोगः सर्वथा तु विधीयते ।
न दण्डेन विना गच्छेदिषु क्षेपत्रयं बुधः ॥"
(संन्यासोपनिषत् २.९-११)

"कुटीचको बहूदकश्चापि हंसः परमहंस इव वृत्त्या च भिन्नाः। सर्वे एते विष्णुलिङ्ग

राजन्यवैश्ययोर्नेति दत्तात्रेयमुनेर्वचः ।'

इति बौधायनादि वचनानुसारेण काषायवस्त्रदण्डधारणादिनिषेधपराणीति माधवाचार्याः 'चत्वार आश्रमा ब्राह्मणस्य त्रयो राजन्यस्य द्वौ वैश्यस्य' **इतिस्मृतेः । पुराणेऽपि** 'मुखजानामयं धर्मः'

पूज्यवार्तिककारों ने भी **'सर्वाधिकारविच्छेदि'** इत्यादि कथन से विद्वत्सन्यास में नियम का अभाव सिद्ध किया ही है। सुलभा आदिकों का विद्वात्सन्यास है। उनका भिक्षाचरण शास्त्रीय नहीं; अपि तु स्वाभाविक है। विद्वत्सन्यास में नियम का अभाव होने पर तो **'ब्राह्मणानामयं धर्मः'** इत्यादिक बौधायनवचन के अनुसार वार्तिककार के वचन भी काषायवस्त्र, दण्डधारणादि के निषेध में तात्पर्यवाले हैं। ऐसा माधवाचार्य जी का निर्णय है। यह निर्णय **'चत्वार आश्रमा ब्राह्मणस्य'** इस स्मृति से भी अनुमत है। पुराणों में भी **'मुखजानामयं धर्मः'** इत्यादि वाक्यों से क्षत्रिय तथा वैश्य के सन्यास का अभाव ही कहा है। 'क्षत्रिय तथा वैश्य का भी सन्यास में अधिकार है' यह वार्तिककार का कथन प्रौढ़िवाद मात्र है। **'कर्मणैव हि संसिद्धिम्', 'यद्यदाचरित श्रेष्ठः'** इन श्लोकों की टीका में नीलकण्ठाचार्य ने कहा है कि—**'कर्मणैव'** इस श्लोक से भगवान् शिष्टपुरुषों के आचरण को प्रमाण में देते हैं तथा ऐसा अर्थ करते हैं कि-कर्मों के साथ ही,

---

दधाना वृत्त्या व्यक्तं बहिरन्तश्च नित्यम् ॥
"न त्यजेद्यावदुत्क्रान्तिरन्तेऽपि निखनेत्सह ॥"
(शाट्यायनीयो० ११, ८)

"त्रिदण्डं वैष्णवं लिङ्गं **विप्राणां** मुक्तिसाधनम् ॥
निर्वाणं सर्वधर्माणामिति वेदानुशासनम् ॥
(शाट्यायनीयो० १०)

उक्त उद्धरणों से सिद्ध है कि (१) ब्राह्मण को ही सलिंग संन्यास-एकदण्ड या त्रिदण्ड का अधिकार है। (२) कुटीचक, बहूदक हंस और परमहंस ये चारों ही दण्डी होते हैं। कुटीचक और बहूदक त्रिदण्डी, हंस और परमहंस एकदण्डी होते हैं। (३) दण्डत्याग अधर्म है।

इति क्षत्रियवैश्ययोः सन्यासाभाव एवोक्तः। 'क्षत्रियवैश्ययोरपि सन्यासाधिकारः' **इति वार्तिककारोक्तिस्तु**[१२१] **प्रौढिवादमात्रम्।** 'कर्मणैव हि संसिद्धिम्' **(गीता ३.२०),** 'यद्यदाचरति श्रेष्ठः' **(गीता ३.२१) इत्यत्र टीकायां नीलकण्ठाचार्यः—'अत्र शिष्टाचारं प्रमाणयति कर्मणेति। कर्मणैव सह संसिद्धिं श्रवणादिसाध्यां ज्ञाननिष्ठां गन्तुमास्थिताः प्रवृत्ता जनकादयस्त्वादृशाः क्षत्रियाः,** न तु सन्यासेन।'

श्रवणादि से साध्य ज्ञाननिष्ठा को प्राप्त करने को आप जैसे क्षत्रिय प्रवृत्त हुए हैं। जनकादि क्षत्रिय सन्यास से ज्ञाननिष्ठा को प्राप्त करने को प्रवृत्त नहीं हुए हैं। अतः नीलकण्ठाचार्य को भी क्षत्रियों का सन्यास अभिमत नहीं।

यदि अर्जुन कहे मेरा चित्त शुद्ध है, अतः मुझे कर्म की अपेक्षा नहीं है, तब भी लोकसंग्रह के लिए कर्म करना चाहिये। अपने धर्म में प्रवृत्ति कराने का नाम लोकसंग्रह है। यदि अपना कुछ प्रयोजन न होने पर भी लोकसंग्रह के लिये ही कर्म करना चाहिए तब तो

---

१२१. "दाढ्र्येन यन्न हि प्रोक्तं कर्तव्यत्वेन कोविदैः।
कंचित्तद्धेतुमादाय तत्साधनमिहोच्यते।
सर्वसाधनहीनत्वात्प्रौढिवादो बुधोज्झितः॥"

ध्यान रहे, संन्याससम्बन्धी उपनिषदों में नारदपरिव्राजकोपनिषत् अत्यन्त प्रसिद्ध है। उसके प्रारम्भ के उपक्रम वाक्य में **'गृहस्थोचितकर्म कुर्वन्नदौर्ब्राह्मण्यनिवृत्तिमेत्य स्ववंशवृद्धिकामः'** कह कर स्पष्ट ही ब्राह्मणवर्ण का उल्लेख है (नारद० २); पुनः **'यस्यैतानि सुगुप्तानि जिह्वोपस्थोदरं करः। संन्यसेदकृतोद्वाहो ब्राह्मणो ब्रह्मचर्यवान्॥"** (३.१४) **'कथमयज्ञोपवीती ब्राह्मणः'** (३.७७) **'तदेतद्विज्ञाय ब्राह्मणःपरिव्रज्य'** (३.८५ के बाद) ब्राह्मणवर्ण का ही परामर्श है; अतः **'ब्राह्मण'** पद क्षत्रिय और वैश्य का द्योतक कथमपि नहीं हो सकता। परब्रह्मोपनिषत् में 'विप्र' शब्द का प्रयोग भी इसी अर्थ का द्योतक है—**'बहिरन्तश्चोपवीती विप्रः।'**, **'ब्राह्मणोऽग्नीन्समारोप्य'** (बौधायनस्मृतिः १०.२.२५) आदि स्मृतियाँ भी इसी तथ्य का प्रकाश करती हैं।

ननु शुद्ध चित्तस्य मम नास्ति कर्मापेक्षेत्याशंक्याह—लोकेति। लोकस्य संग्रहः स्वधर्मे प्रवर्तनम्। ननु स्वप्रयोजनाभावेऽपि केवलं लोकसंग्रहार्थं चेत्कर्म कर्तव्यं तदा विदुषां ब्राह्मणानामपि सन्यासो न स्यात्। यतीनेव सन्यासधर्मान् ग्राहयितुं तेषां सन्यास इति चेत्, अर्जुनेऽपि न तद्दण्डवारितमस्ति। ननु क्षत्रियस्य सन्यासेऽधिकारो नास्तीति चेत्, लिङ्गधारणेऽधिकाराभावेऽपि भरतऋषभादिवद्विक्षेपककर्मत्यागमात्रेऽधिकारात्।

"सर्वाधिकारविच्छेदि ज्ञानं चेदभ्युपेयते।
कुतोऽधिकारनियमो व्युत्थाने क्रियते बलात्॥"

इति वार्तिके विद्वत्सन्यासे क्षत्रियादेरप्यधिकारस्य साधितत्वात्। अतो लोकसंग्रहो न मुख्यं कर्मप्रयोजनम्, इति चेत्, सत्यम्,।

'न मे पार्थास्ति कर्तव्यं त्रिषु लोकेषु किञ्चन।
नानवाप्तमवाप्तव्यं वर्त एव च कर्मणि॥"

(गीता० ३.२२)

ब्राह्मण भी सन्यासग्रहण नहीं करेंगे, क्योंकि ज्ञान होने पर ब्राह्मण भी लोकसंग्रह के लिये कर्म ही करते रहेंगे। यदि कहा जाय कि अन्य सन्यासियों के लिये सन्यासधर्म में प्रवृत्ति कराने के लिये ब्राह्मणों को सन्यासग्रहण करना चाहिये तो अर्जुन को भी अन्य सन्यासियों को अपने धर्मग्रहण कराने के लिये सन्यास ग्रहण को कौन अवरुद्ध करेगा? 'क्षत्रिय का सन्यास में अधिकार ही नहीं है', यदि ऐसा कहा जाय तो यह उचित नहीं, क्योंकि लिङ्गधारणसन्यास में अधिकार न होने पर भी भरत तथा ऋषभदेवादि के समान विक्षेपक कर्म के त्यागरूप सन्यास में तो अधिकार है ही।

'सर्वाधिकारविच्छेदि" इस वार्तिकवचन में क्षत्रियादिकों के लिये भी विद्वत्सन्यास में अधिकार सिद्ध किया है। इसलिए लोकसंग्रह ज्ञानी के कर्म का मुख्य प्रयोजन नहीं है। यदि ऐसा कहते हैं, ठीक हैं। भगवान् कहते हैं कि "हे अर्जुन! मेरे लिये तीनों लोकों में कोई कर्तव्य नहीं है, तीनों लोकों में ऐसी कोई वस्तु भी नहीं है, जो मेरे लिये अप्राप्त हो तथा मुझे प्राप्त करनी हो, फिर भी मैं कर्म करने में ही

इति स्वदृष्टान्तेनाधिकारिकत्वादर्जुन एवैवं नियोज्यते, न तु क्षत्रियमात्रम्' इति तुष्यतु भवान् । नीलकण्ठप्रतिपादितक्षत्रियवैश्यादीनां भैक्ष्याचरणन्तु न सन्यासरूपं किन्तु देहयात्रानिर्वाहार्थमेव । तस्य सन्यासपदवाच्यताविचारस्तु व्यर्थ एव । ब्रह्मनिष्ठायाः सर्वकर्मसन्यासरूपत्वेऽपि व्यवहारे न सन्यासपदवाच्यता, जनकादिषु व्यभिचारात् ।[१२२]

प्रवृत्त रहता हूँ'' इस वाक्य में भगवान् ने अपने दृष्टान्त से आधिकारिक अर्जुन को ही लोकसंग्रह के लिये कर्म करने की प्रेरणा दी है। क्षत्रियमात्र के लिये भगवान् का यह कथन नहीं है। यदि ऐसा आप कहते हैं तो आप प्रसन्न रहें । नीलकण्ठ प्रतिपादितक्षत्रियवैश्यादिकों के लिये भिक्षा का आचरण सन्यासरूप नहीं है, किन्तु देह के निर्वाह के लिये लौकिक है। अतः ''लौकिकभिक्षाचरण सन्यास पद का वाच्य है,'' यह विचार तो व्यर्थ ही है। ब्रह्मनिष्ठा सर्वकर्मों का सन्यास (त्याग) रूप है, किन्तु लोकव्यवहार में उसे सन्यास नहीं कहा जाता है। क्योंकि जनकादिकों में ब्रह्मनिष्ठारूप सन्यास विद्यमान है, फिर भी उनको सन्यासी नहीं कहा जाता ।

---

१२२. ध्यान रहे, (१) 'तुरीयातीतोपनिषत्' में तुरीयातीत और अवधूतों के मार्ग का निरूपण है। उसमें कुटीचक को अधिकारानुसार बहूदक, बहूदको हंस, हंसको परमहंस और परमहंस को तुरीयातीत तथा अवधूत होने का उपदेश है। उसी सन्दर्भ में चरमभूमिका की अभिव्यक्ति होने की स्थिति में दण्डादि आश्रमसूचक चिह्नों के जल में विसर्जन का प्रतिपादन अवश्य है; परन्तु द्वन्द्वातीत दिगम्बर होकर बालोन्मत्तपिशाचवत् एकाकी विचरण करने का असाधारण वर्णन भी है ! उसके बल पर दण्डादि के त्याग का समर्थन अनर्गल और अमङ्गल है। सन्यासोपनिषत् और शाट्यायनी उपनिषत् में स्पष्ट ही निषेध है।

(२) बहुत से महानुभाव मैत्रेयी और गार्गी को अविवाहिता और सन्यासिनी मानकर स्त्रियों के सन्यास [illegible] और

अविवाह का समर्थन करते हैं। उनका यह कृत्य शास्त्रविरुद्ध है। कारण यह है कि मैत्रेयी श्रीयाज्ञवल्क्य महर्षि की धर्मपत्नी थी। उसने पतिदेव से ज्ञान अवश्य प्राप्त किया; परन्तु वह 'संन्यासिनी हो गयी' यह कथन सर्वथा भ्रामक है।

"अथ ह याज्ञवल्क्यस्य द्वे भार्ये बभूवंतुर्मैत्रेयी च कात्यायनी च तयोर्ह मैत्रेयी ब्रह्मवादिनी बभूव। सा होवाच मैत्रेयी येनाहं नामृता स्यां किमहं तेन कुर्यां, यदेव भगवान्वेद तदेव मे विब्रूहीति।" (बृह० ४.५.१,४)

रही गार्गी की बात। वह भी विवाहिता थी। अन्यथा शतपथब्राह्मण बृहदारण्यक में उसके वंशधर–पुत्र का उल्लेख कैसे होता? यह बात दूसरी है कि सत्संग और पौर्वदैहिकप्रज्ञा के बल पर वह त्याग और तपसे सम्पन्न तथा ब्रह्मवादिनी थी। अथ स्त्री प्रधानो विद्यावंशः

(४) पाराशरी पुत्रो गार्गी पुत्रात्, (५) गार्गीपुत्रः पाराशरी कौण्डनी पुत्रात्, (६) पाराशरी कौण्डिनी पुत्रो गार्गी पुत्रात्, (७) गार्गी पुत्रो गार्गी पुत्रात्, (८) गार्गी पुत्रो बाडेयी पुत्रात्,॥ (शतपथ ब्राह्मणम् १४ का. ५ प्र०, ५ ब्रा०, ३० बृहदा० ६ अ०, ४ ब्रा०, ३०)

स्त्रियों के लिये अविवाहिता रहना अनुपयुक्त है। इस तथ्य की विशेष जानकारी महा० शल्यपर्व वृद्धाकन्या के इतिहास से प्राप्त करें (अध्याय ५२, गीताप्रेस)।

(३) इसी सन्दर्भ में यह भी समझ लेना आवश्यक है कि बृहदारण्यक उपनिषत् के अनुसार यह तथ्य भी सिद्ध है कि अवरवर्ण का शिष्य बनना और वरवर्ण को अपना शिष्य बनना प्रतिलोम (विपरीत) है —

"प्रतिलोमं चैतद्यद् ब्राह्मणः क्षत्रियमुपेयात्"

(बृह० उप० २.१.१५)

स्मृति के अनुसार भी यह तथ्य सिद्ध है कि बहुश्रुत

पूषन्नेकर्षे यम सूर्य प्राजापत्य

व्यूह रश्मीन्समूह ।

तेजो यत्ते रूपङ्कल्याणतमन्तत्ते

पश्यामि योऽसावसौ पुरुषस्सोऽहमस्मि ॥१६॥

(शुक्लयजुर्वेदकाण्वसंहिता ४०.१.१६)

पूषन्, एकर्षे, यम, सूर्य, प्राजापत्य, व्यूह, रश्मीन्, समूह। तेजः, यत्, ते, रूपम्, कल्याणतमम्, तत्, ते, पश्यामि, यः, असौ, असौ, पुरुषः, सः, अहम्, अस्मि ॥१६॥

हे जगत् पोषक! हे एकाकी गमन करनेवाले! हे यम–संसार का संयमन करनेवाले! हे सूर्य-रश्मि, प्राण और रसों के धारक! हे प्रजापतिनन्दन! आप अपनी किरणों को समेट लें! आप श्री के अनुग्रह से मैं आपके अत्यन्त शोभनस्वरूप का दर्शन करता हूँ। मैं आपके भूः, भुवः, स्वः रूप शिर, भुजा और चरणयुक्त पुरुषाकार हिरण्यगर्भात्मक-प्रज्ञा और प्राणशक्ति से विशिष्ट अन्तर्यामिरूप पूर्ण-स्वरूप से अपनी एकरूपता का अनुभव करता हुआ ही आपसे यह निवेदन कर रहा हूँ ॥१६॥

'तथा ज्ञान-गुण-कर्म से युक्त होने पर भी क्षत्रियादि का ब्राह्मण अभिवादन न करे' —

"नाभिवाद्यास्तु विप्रेण क्षत्रियाद्याः कथञ्चन।
ज्ञानकर्मगुणोपेता यद्यप्येते बहुश्रुताः॥"

(वीरमित्रोदये संस्कारप्रकाशे)

एवमुपासकः मार्गं याचित्वा, उपास्यतेजः पुञ्जेन प्रतिहता (मा) अस्मदीया दृष्टिः ताम् आक्षिप क्षमस्वेति तत्तेजसः अपनयनं प्रार्थयते।

हे पूषन् ! जगतः पोषक सूर्य, हे एकर्षे ! 'ऋषिः गत्यर्थः' एक एव ऋषति गच्छतीति एकर्षिः ! "सूर्यं एकाकी चरति" (यजुः अ. मा. सं. २३.४६) इति श्रुतेः। सर्वस्य संनियमनात् यमः, हे यम ! रश्मीनां प्राणानां रसानाञ्च स्वीकरणात् प्रेरणात् सूर्यः, हे सूर्य ! प्रजापतेरपत्यगुणविशिष्ट, हे प्राजापत्य ! त्वदीयान् रश्मीन् किरणसंघान् व्यूह विगमय ते तेजस्तापकः ज्योतिः–उत्कृष्टं ज्योतिः समूह सूर्य एकीकुरु उपसंहर।

ते तव यद्रूपं कल्याणतमं अत्यन्तशोभनं तदहं पश्यामि साक्षात्करोमि, तव प्रसादात् पश्यामि। किञ्चाहं न त्वां भृत्यवद्याचे। अपि च तव असौ यः खलु प्रसिद्धः अस्य मण्डलान्तर्वर्त्ती भूरित्यादि व्याहृत्यवयवः 'तस्य भूरिति शिरः, भुव इति बाहू, सुवरितिप्रतिष्ठा' (बृह० ५.५.३), पुरुषः पुरुषाकारत्वात्पूर्णं वानेन प्राणबुद्ध्यात्मना जगत्समस्तमिति पुरुषः पुरिशयनाद्वा "य एषोन्तरादित्ये हिरण्मयः पुरुषः" (छान्दो० अ. १, खं. ६.६) इति श्रुत्यन्तरम्। सः अहमस्मि, तद्विधो

इस प्रकार उपासक मार्ग की याचना करके उपास्य के तेजः–पुञ्ज से प्रतिहत होकर उसके संवरण की प्रार्थना करता है। हे पूषन् ! अर्थात् आप जगत् के पोषक हैं। हे एकर्षे ! आप अकेले ही चलते हैं। जैसा कि **'सूर्य एकाकी चरति'** इस श्रुति से सिद्ध है। हे यम ! आप सबके नियायक हैं। हे सूर्य ! आप रश्मि, प्राण और रसों के धारक और प्रेरक हैं। हम आपसे प्रार्थना करते हैं कि अपनी प्रशस्त और प्रखर किरणमाला को दुरा लीजीए—समेट लीजिए।

आपका अत्यन्त शोभन–कल्याणतम जो दिव्यरूप है, आपके अनुग्रह से मैं उसका दर्शन करता हूँ। मैं आपसे भृत्य की तरह याचना नहीं करता, अपि तु जो आपका आदित्यमण्डलान्तर्गत 'भूः' आदि व्याहृतिरूप दिव्य हिरण्यगर्भात्मक पूर्णस्वरूप है, उससे अपनी एकरूपता का अनुभव करके—आपसे एकरूप हो करके, प्रार्थना कर रहा हूँ। हे सूर्य ! आप मुझे अनुग्रहपूर्वक अङ्गीकार करें—अपनाएँ।

पासनादहमपि तद्रूप एव भवामि। अतः हे सूर्य! मां अनुगृहाण इति भावः।

यद्वा—इदानीं तत्संबोधनानि कार्यान्तरार्थं–पूषन् हे पूषन्नेकर्षे! एकश्चासावृषिश्चैकर्षिस्तत्तत्संबोधनमेकर्षे एकाकित्वेन गन्तः, यम! हे नियन्तः, सूर्य! हे सुष्ठुगमन, प्राजापत्य, हे प्रजापतेरपत्यभूत! इदानीं कार्यमाह–व्यूह, उपसंहर रश्मीन्किरणान्समूह सम्यक्स्वात्ममात्रं कुरु। तेजश्चन्द्रमण्डलम्। तत्रापि प्रयोजनमाह—यत्प्रसिद्धं ते तव रूपं स्वयञ्ज्योतिः स्वभावं कल्याणतममतिशयेन कल्याणमानन्दात्मरूपं तदुक्तं ते तव पुनस्ते शब्द उपचार निवारणार्थः। पश्यामि साक्षात्करोमि। द्रष्टृदृश्यप्रयुक्तं भेदं वारयति–यः प्रसिद्धोऽसावादित्यमण्डलस्थः परोक्षोऽसौ शास्त्रदृष्टया प्रत्यक्षः पुरुषः परिपूर्णः स उक्तो यः प्रसिद्धः स एवाहमस्मत्प्रत्ययालम्बनोऽस्मि भवामि ॥१६॥

अथवा अब प्रयोजनान्तर की सिद्धि के लिये संबोधनान्तर का प्रयोग किया जाता है। हे पूषन्! हे एकर्षे! आप एक हैं और ऋषि हैं, अर्थात् अकेले ही गमन करते हैं। हे यम! आप नियन्ता होने से यम हैं। हे सूर्य! आप सुष्ठु—शोभन गमन करनेवाले हैं। हे प्राजापत्य! आप प्रजापतिनन्दन हैं। आपसे जो कार्य है, उसे मैं निवेदित करता हूँ। आप किरणसमूह का उपसंहार कीजिए। आप परम आह्लादक-आनन्दप्रद स्वप्रकाश-आनन्दात्मकचन्द्र हैं। निःसन्देह आपके दिव्य स्फूर्तिप्रद रम्य इस रूपका मैं साक्षात्कार करता हूँ, आपको दृश्य और स्वयं को द्रष्टा बनाकर नहीं—अपि तु आप से निज ऐक्य का अनुभव कर–सर्वथा एकीभूत होकर। शास्त्रसिद्ध हिरण्यगर्भात्मकरूप से मैं यही कहता हूँ कि जो यह आदित्यमण्डलान्तर्गत पुरुष है, वह मैं हूँ ॥१६॥

ऋग्वेदादिविभागेन शान्तिः

अथ हैनं श्रीरामचन्द्रं मारुतिः पप्रच्छ 'ऋग्वेदादि विभागेन पृथक् शान्तिमनुब्रूहि' इति । स होवाच श्रीरामः । ऐतरेयकौषीतकी-नादबिन्द्वात्मप्रबोधनिर्वाणमुद्गलाक्षमालिकात्रिपुरासौभाग्यबह्वृचाना-मृग्वेदगतानां दशसंख्याकानामुपनिषदां 'वाङ् मे मनसी'ति शान्तिः ।।१।।

ईशावास्यबृहदारण्यजाबालहंसपरमहंससुबालमन्त्रिकानिरालम्ब-त्रिशिखीब्राह्मणमण्डलब्राह्मणाद्वयतारकपैङ्गलभिक्षुतुरीयातीताध्यात्म-तारसारयाज्ञवल्क्यशाट्यायनीमुक्तिकानां शुक्लयजुर्वेदगतानामेकोनविं-शतिसंख्याकानामुपनिषदां 'पूर्णमदः' इति शान्तिः ।।२।।

कठवल्लीतैत्तिरीयकब्रह्मकैवल्यश्वेताश्वतरगर्भनारायणामृतबि-न्द्वमृतनादकालाग्निरुद्रक्षुरिकासर्वसारशुकरहस्यतेजोबिन्दुध्यानबिन्दु-ब्रह्मविद्यायोगतत्त्वदक्षिणामूर्तिस्कन्दशारीरकयोगशिखैकाक्षराक्ष्यव-धूतकठरुद्रहृदययोगकुण्डलिनीपञ्चब्रह्मप्राणाग्निहोत्रवराहकलिसंतरण-सरस्वतीरहस्यानां कृष्ण यजुर्वेदगतानां द्वात्रिंशत्संख्याकानामुपनिषदां 'सह नाववत्वि'ति शान्तिः ।।३।।

केनच्छान्दोग्यारुणिमैत्रायणिमैत्रेयीवज्रसूचिकायोगचूडामणि-वासुदेवमहत्संन्यासाव्यक्तकुंडिकासावित्रीरुद्राक्षजाबालदर्शनजाबालीनां सामवेदगतानां षोडशसंख्याकानामुपनिषदा 'माप्यायन्त्वि'ति शान्तिः ।।४।।

प्रश्नमुण्डकमाण्डूक्याथर्वशिरोऽथर्वशिखाबृहज्जाबालनृसिंहताप-नीनारदपरिव्राजकसीताशरभमहानारायणरामरहस्यरामतापनीशाण्डि-ल्यपरमहंसपरिव्राजकान्नपूर्णासूर्यात्मपाशुपतपरब्रह्मत्रिपुरातपनदेवीभाव-नाब्रह्मजाबालगणपतिमहावाक्यगोपालतपनकृष्णहयग्रीवदत्तात्रेयगारुडा-नामथर्ववेदगतानामेकत्रिंशत्संख्याकानामुपनिषदां 'भद्रं कर्णेभिरि'ति शान्तिः ।।५।। (मुक्तिकोपनिषत् १)

ईशावास्योपनिषत्

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णमुदच्यते ।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥[123]

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥

अदः पूर्णम् इदं पूर्णं पूर्णात् पूर्णं उदच्यते ।
पूर्णस्य पूर्णं आदाय पूर्णं एव अवशिष्यते ।

वह कारणब्रह्म पूर्ण है—परिच्छेदशून्य है । यह जगत् कार्यब्रह्म भी उस कारण ब्रह्म की पूर्णता से पूर्ण है; क्योंकि पूर्ण उस कारणब्रह्म से पूर्ण यह कार्यजगत् उदित होता है । पूर्ण इस कार्यजगत् की पूर्णता को पृथक् कर लेने पर पूर्ण कारणब्रह्म ही शेष रहता है । कार्य का प्रतिषेध हो जाने पर ब्रह्म, कार्य-कारण विनिर्मुक्त अद्वितीय चिदात्मा ही अवशिष्ट रहता है । आध्यात्मिक, आधिभौतिक और आधिदैविक प्रपञ्च की अध्यारोप और अपवाद-प्रक्रिया से परब्रह्मरूपता सिद्ध हो जाने पर सर्वात्मभाव के अमोघ-प्रभाव से त्रिविधतापों की निवृत्ति हो जाती है ।

---

१२३. **अदस्तत्**पदलक्ष्यं ब्रह्म, **पूर्णमा**काशवद्व्यापि अपरिच्छिन्नमिति यावत् । **इदं** च त्वं पद लक्ष्यं जीवस्वरूपमपि **पूर्णम्** । ननु द्वयोः पूर्णत्वं विरुद्धं वस्तुपरिच्छेदादित्यत आह **पूर्णा**दित्यादि । **पूर्णाद्** ब्रह्मणः **पूर्ण**मेव जीवस्वरूप**मुदच्यत** उद्रिच्यत उदेतीति यावत् । **पूर्णस्य** परिणामासंभवेन तत उत्पद्यमानस्यौपाधिकत्वमेव महाकाशादुद्गच्छतो घटाद्याकाशस्य तथा दर्शनात् । औपाधिकस्य च तदेव तथ्यं रूपं यतः स उदेतीति निदानाभेदात् पूर्णादुद्रिच्यमानं पूर्णमेवेति भावः । ननु जीवस्वरूपस्य पूर्णत्वे कुतस्तन्नानुभूयते तत्राह—**पूर्णस्ये**त्यादि । '**पूर्णस्य** यत्**पूर्णं** स्वरूपं तन्मात्र**मादाय** उपाध्यँशमपहायेति यावत् । पश्यत इति शेषः । **पूर्णमेवावशिष्यते**—पूर्णमेवस्वरूपमवभातीति , यावत् । घटेन सहावलोक्यमानस्य नभसोऽपूर्णत्वभानेऽपि घटांशं विहायावलोकने पूर्णत्वस्यैवानुभवो यथेति भावः । त्रिःशान्तिरिति पठनं [illegible]त्मिकादित्रिविधोपद्रवशमनायेति ध्येयम् । आदौ च

'पूर्णमदः' (बृह० उप० ५.१.१) पूर्णं न कुतश्चिद् व्यावृत्तं व्यापीत्येतत्। निष्ठा च कर्तरि द्रष्टव्या। 'अद' इति परोक्षाभिधायि सर्वनाम, तत्परं ब्रह्मेत्यर्थः। तत् सम्पूर्णमाकाशवद् व्यापि निरन्तरं निरुपाधिकं च तदेवेदं सोपाधिकं नामरूपस्थं व्यवहारापन्नं पूर्णं स्वेन रूपेण परमात्मना व्याप्येव नोपाधिपरिच्छिन्नेन विशेषात्मना।

'पूर्णमदः'–पूर्णम्—जो कहीं से भी व्यावृत्त नहीं है, अर्थात् व्यापक है। 'पूर्ण' शब्द में जो निष्ठा नामक 'क्त' प्रत्यय हुआ है उसे कर्ता अर्थ में समझना चाहिये—'पूरयति निरतिशयं वर्द्धत इति पूर्णं'। 'अदः' यह पद परोक्ष अर्थ को वतलानेवाला सर्वनाम है, इसका अर्थ है–वह परब्रह्म। वह सम्पूर्ण है,आकाश के समान व्यापक, अन्तरहित और उपाधिशून्य है। वही यह नाम-रूप में स्थित व्यवहारदशा को प्राप्त

प्रणवघोषो वेदोच्चारणनियतो मङ्गलमातनोतीति विज्ञेयम्।

'अदः' परमात्मा और 'इदं' जीव–दोनों ही स्वरूपतः पूर्ण हैं। उपाधिविनिर्मुक्त (माया और अविद्या या पञ्चकोश विरहित) 'तत्' (ईश्वर) और 'त्वं (जीव) का ऐक्य स्वतः सिद्ध है। घटाकाश और महाकाशका ऐक्य इसमें दृष्टान्त है। इससे देशकृत परिच्छेदरूपा अव्यापकताकी आशङ्का दूर हो जाती है। महाकाशतुल्य परब्रह्म से घटाकाशतुल्य जीवका उदय होता है। जीवेश्वर में औपाधिक कार्य-कारणभावरूप सम्बन्ध होने से वस्तुकृत परिच्छेद भी नहीं है। उपाधि परामर्श के कारण जीव अपूर्ण-सा परिलक्षित होता हैं। उपाधिवारण-पूर्वक अवलोकन करने पर घटनिरसनपूर्वक नभदर्शनवत् जीव पूर्ण ही अवशिष्ट रहता है—परिलक्षित होता है। क्योंकि ब्रह्म सर्व-उपप्लव–द्वैतभेदविरहित है; अतः आध्यात्मिकादि त्रिविध ताप से नित्य विनिर्मुक्त है। इस तथ्य की अनुभूति 'शान्तिः' पद की तीन वार आवृत्ति करके की जाती है। 'ॐ' यह ब्रह्मात्मक ब्रह्म नाम है। यह तत्त्व का बोधक और तत्त्वभावना से उपास्य है। वेदपाठ के प्रारम्भ में इसका उच्चारण मंगल-दायक होता है।

तदिदं विशेषापन्नं कार्यात्मकं ब्रह्म 'पूर्णात्' कार्यात्मन 'उदच्यत' उद्रिच्यत उद्गच्छतीत्येतत्। यद्यपि कार्यात्मनोद्रिच्यते तथापि यत् स्वरूपं पूर्णत्वं परमात्मभावं तन्न जहाति पूर्णमेवोद्रिच्यते।

'पूर्णस्य' कार्यात्मनो ब्रह्मणः, 'पूर्णं' पूर्णत्वमादाय गृहीत्वा आत्मस्वरूपैकरसत्वमापद्य, विद्यया अविद्याकृतं भूतमात्रोपाधिसंसर्गजमन्यत्वावभासं तिरस्कृत्य, पूर्णमेवानन्तरमबाह्यं प्रज्ञानघनैकरसस्वभावं केवलं ब्रह्मावशिष्यते।

यदुक्तं 'ब्रह्म वा इदमग्र आसीत् तदात्मानमेवावेत् तस्मात्तत् सर्वमभवत्' (बृह० १.४.१०) इत्येषोऽस्य मन्त्रस्यार्थः। तत्र 'ब्रह्मेत्य'स्यार्थः 'पूर्णमद' इति। 'इदं पूर्णमि'ति 'ब्रह्म वा इदमग्र आसीदि'त्यस्यार्थः। तथा च श्रुत्यन्तरम् "यदेवेह तदमुत्र यदमुत्र तदन्विह" (क० उ० २.१.१०) इति। अतोऽदः शब्दवाच्यं पूर्णं ब्रह्म तदेवेदं पूर्णं कार्यस्थं नामरूपोपाधिसंयुक्तमविद्ययोद्रिक्तम्। तस्मादेव परमार्थस्वरूपादन्यदिव प्रत्यवभासमानम्। तद् यदात्मानमेव परं पूर्णं ब्रह्म विदित्वा

सोपाधिकरूप भी पूर्ण है अर्थात् अपने परमात्मस्वरूप से व्यापक ही है– उपाधिपरिच्छिन्न (सीमित) विशेषरूप से व्यापक नहीं है। अभिप्राय यह कि उपाधिपरिच्छिन्न परिलक्षित होता हुआ भी वस्तुतः अपरिच्छिन्न ही है।

वह यह विशेषभाव को प्राप्त हुआ कार्यात्मक ब्रह्म, पूर्ण से —कारणात्मकब्रह्म से 'उदच्यते' उद्रिक्त–उद्गत (अभिव्यक्त) होता है। यद्यपि यह कार्यरूप से उदित होता है, तथापि इसका जो स्वरूपभूत पूर्णत्व अर्थात् परमात्मभाव है, उसे नहीं छोड़ता। अभिप्राय यह कि पूर्ण ही प्रकट होता है।

इस पूर्ण अर्थात् कार्यरूप ब्रह्म का सम्पूर्ण पूर्णत्व लेकर अर्थात् उसे आत्मस्वरूप के साथ एकरस करके अविद्याकृत भूतमात्रोपाधि के संसर्ग से होनेवाली भेदप्रतीति को मिटा देने पर, पूर्ण ही अर्थात् अन्तर्बाह्यशून्य प्रज्ञानघनैकरसस्वरूप शुद्धब्रह्म ही शेष रहता है।

पहले जो यह कहा गया था 'ब्रह्म वा'="आरम्भ में यह एक ब्रह्म ही था, उसने अपने को जाना, इसलिये वह सर्व हो गया" यही इस मन्त्र का भी अर्थ है। इसमें 'ब्रह्म' इस पद का अर्थ है 'पूर्णमद'

'अहमदः पूर्णं ब्रह्मास्मि' इत्येवं पूर्णमादाय तिरस्कृत्यापूर्णस्वरूपताम-विद्याकृतां नामरूपोपाधिसम्पर्कजामेतया ब्रह्मविद्यया पूर्णमेव केवल-मवशिष्यते । तथा चोक्तम्—'तस्मात्तत्सर्वमभवत्'–(१.४.१०) इति ।

अत्रैके वर्णयन्ति पूर्णात्कारणात् पूर्णं कार्यमुद्रिच्यते । उद्रिक्तं कार्यं वर्तमानकालेऽपि पूर्णमेव परमार्थवस्तुभूतं द्वैतरूपेण । पुनः प्रलयकाले पूर्णस्य कार्यस्य पूर्णतामादायात्मनि धित्वा पूर्णमेवावशिष्यते कारण-रूपम् । एवमुत्पत्तिस्थितिप्रलयेषु त्रिष्वपि कालेषु कार्य-कारणयोः पूर्ण-तैव । सा चैकैव पूर्णता कार्यकारणयोर्भेदेन व्यपदिश्यते । एवञ्च द्वैताद्वैतात्मकमेकं ब्रह्म ।

यथा किल समुद्रो जलतरङ्गफेनबुद्बुदाद्यात्मक एव । यथा च

और 'इदं पूर्णं' यह 'ब्रह्म वा इदमग्र आसीत्' इसका अर्थ है । ऐसी ही एक दूसरी श्रुति भी है 'यदेवेह तदमुत्र'="जो यहाँ है, वही परलोक में है और जो परलोक में है, वही यहाँ"; अतः 'अदः' शब्दवाच्य जो पूर्णब्रह्म है, वही 'इदं पूर्णम्' अर्थात् कार्यवर्ग में स्थित नाम-रूपात्मक उपाधि से युक्त अविद्याजनित (कार्यब्रह्म) है । वह इसी परमात्मस्वरूप परब्रह्म से अन्य-सा प्रतीत होता है । ऐसी स्थिति में जब अपने को ही पूर्ण परब्रह्म जानकर 'मैं ही यह पूर्ण ब्रह्म हूँ' इस प्रकार पूर्णत्व को लेकर इस ब्रह्मविद्या के द्वारा अविद्याकृत नामरूपोपाधि के संसर्ग से उत्पन्न हुई अपूर्णरूपता का तिरस्कार कर दिया जाता है तो केवल पूर्ण ही रह जाता है । यह तथ्य 'तस्मात्तत्सर्वमभवत्' इस वचन के द्वारा कहा गया है ।

यहाँ कोई ऐसा वर्णन करते हैं कि पूर्ण कारण से पूर्ण कार्य उत्पन्न होता है । वह उत्पन्न हुआ कार्य वर्तमान समय में भी पूर्ण ही है । अभिप्राय यह कि द्वैतरूप से परमार्थ वस्तुरूप ही है । फिर प्रलय-काल में पूर्णकार्य की पूर्णता को लेकर उसका आत्मा में आधान करने पर कारणरूप पूर्ण ही रह जाता है । इस प्रकार उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय–तीनों ही कालों में कार्य-कारणकी पूर्णता ही है । यह एक पूर्णता ही कार्य-कारण के भेद से कही जाती है । इस प्रकार द्वैताद्वैतरूप एक ब्रह्म है ।

जिस प्रकार समुद्र जल-तरङ्ग-फेन-बुद्बुदादिरूप ही है और

जलं सत्यं तदुद्भवाश्च तरङ्गफेनबुद्बुदादयः समुद्रात्मभूता एवाविर्भावतिरोभावधर्मिणः परमार्थसत्या एव। एवं सर्वमिदं द्वैतं परमार्थसत्यमेव जलतरङ्गादिस्थानीयम्, समुद्रजलस्थानीयं तु परं ब्रह्म।

एवं च किल द्वैतस्य सत्यत्वे कर्मकाण्डस्य प्रामाण्यं, यदा पुनर्द्वैतं द्वैतमिवाविद्याकृतं मृगतृष्णिकावदनृतम्, अद्वैतमेव परमार्थतः, तदा किल कर्मकाण्डं विषयाभावादप्रमाणं भवति। तथा च विरोध एव स्यात्—वेदैकदेशभूतोपनिषत् प्रमाणम्, परमार्थाद्वैतवस्तुप्रतिपादकत्वात्; अप्रमाणं कर्मकाण्डम्, असद्द्वैत विषयत्वात्। तद्विरोध परिजिहीर्षया श्रुत्यैतदुक्तं कार्यकारणयोः सत्यत्वं समुद्रवत् 'पूर्णमदः' इत्यादिनेति।

तदसत्। विशिष्टविषयापवादविकल्पयोरसम्भवात्। न हीयं सुविवक्षिता कल्पना, कस्मात्? यथा क्रियाविषय उत्सर्गप्राप्तस्यैकदेशेऽपवादः क्रियते, यथा "अहिंसन् सर्वभूतान्यन्यत्र तीर्थेभ्यः" (छा० उ० ८.१५.१) इति हिंसा सर्वभूतविषयोत्सर्गेण निवारिता, तीर्थे

उसमें जैसे जल सत्य है, उसी प्रकार उससे निष्पन्न आविर्भाव-तिरोभाव-धर्मी तरङ्ग, फेन और बुद्बुदादि भी समुद्ररूप और परमार्थ सत्य हैं। इस प्रकार यह जलतरङ्गादिस्थानीय सारा द्वैतप्रपञ्च परमार्थ सत्य ही है और परब्रह्म तो समुद्रजलस्थानीय ही है।

इस प्रकार द्वैतके सत्य होने पर ही कर्मकाण्ड की प्रामाणिकता हो सकती है। जब द्वैत केवल द्वैत-सा तथा अविद्याकृत और मृगतृष्णा के तुल्य मिथ्या है—वस्तुतः अद्वैत ही सत्य है—ऐसा मानते हैं, तब तो अपने विषयका अभाव हो जाने के कारण कर्मकाण्ड अप्रामाणिक ही हो जाता है। ऐसा मानने पर परमार्थ अद्वैत का प्रतिपादन करनेवाली होने के कारण वेद के एक देशरूपा उपनिषदें तो प्रामाणिक हैं; किन्तु असद्द्वैत विषयक होने से कर्मकाण्ड अप्रमाणिक हैं—विरोध अनिवार्य होगा। उस विरोध का परिहार करने की इच्छा से ही **'पूर्णमदः'** इत्यादि मन्त्र द्वारा श्रुति ने समुद्र के समान कार्य-कारण की यह सत्यता बतलायी है।

ऐसा कहना अनुचित है, क्योंकि ब्रह्म वस्तुतः निर्विशेष है। उसमें विशिष्ट के विषयभूत अपवाद और विकल्प सम्भव नहीं हैं।

विशिष्टविषये ज्योतिष्टोमादावनुज्ञायते; न च तथा वस्तुविषय इहाद्वैतं ब्रह्मोत्सर्गेण प्रतिपाद्य पुनस्तदेकदेशेऽपवदितुं शक्यते, ब्रह्मणोऽद्वैतत्वादेवैकदेशानुपपत्तेः।

तथा विकल्पानुपपत्तेश्च। यथा 'अतिरात्रे षोडशिनं गृह्णाति' (मै० स० ४.७.६), 'नातिरात्रे षोडशिनं गृह्णाति' इति ग्रहणाग्रहणयोः पुरुषाधीनत्वाद्विकल्पो भवति; न त्विह तथा वस्तुविषये 'द्वैतं वा स्यादद्वैतं वा' इति विकल्पः सम्भवति, अपुरुषतन्त्रत्वादात्मवस्तुनः, विरोधाच्च द्वैताद्वैतत्वयोरेकस्य। तस्मान्न सुविवक्षितेयं कल्पना।

श्रुतिन्यायविरोधाच्च—'सैन्धवघनवत् प्रज्ञानैकरसघनं निरन्तरं पूर्वापरबाह्याभ्यन्तरभेदविवर्जितं' (बृ० ४.५.१३), 'सबाह्याभ्यन्तरमजं','नेति नेत्यस्थूलमनण्वह्रस्वमजरमभयममृतम्'—इत्येवमाद्याः श्रुतयो निश्चितार्थाः संशयविपर्यासाशङ्कारहिताः सर्वाः समुद्रे प्रक्षिप्ताः स्युरकिञ्चित्करत्वात्।

आपकी यह कल्पना उपयुक्त नहीं है। क्यों? जिस प्रकार क्रिया के विषय में उत्सर्ग से सामान्यतः प्राप्त किसी क्रिया का किसी एक देश में विशेष-वचन द्वारा अपवाद कर दिया जाता है; जैसे "तीर्थों (पुण्य-कर्मों) को छोड़कर अन्यत्र सभी प्राणियों की हिंसा न करता हुआ" इस वाक्य में जिस सब प्राणियों की हिंसा का सामान्यतः निवारण किया है, उसकी तीर्थ यानी विशिष्ट विषय—ज्योतिष्टोमादि यज्ञों में अनुज्ञा दी जाती है। वैसा उस प्रकार वस्तु के विषय में यहाँ अद्वैतब्रह्म का प्रतिपादन कर, फिर उसके किसी एक देश में ब्रह्म का अपवाद (बाध) नहीं किया जा सकता; क्योंकि अद्वैत होने के कारण ब्रह्म का कोई एक देश नहीं हो सकता।

इसी प्रकार विकल्प न होने के कारण भी ऐसा असम्भव है। जिस प्रकार 'अतिरात्र में षोडशी का ग्रहण करे', 'अतिरात्र में षोडशी का ग्रहण नहीं करे' इस प्रकार ग्रहण और अग्रहण पुरुष के अधीन होने के कारण उनमें विकल्प हो सकता है, उस प्रकार 'क्वचिद् अतिरात्रे षोडशिनं गृह्णाति क्वचिन्न गृह्णाति' (कहीं अतिरात्र में षोडशी का ग्रहण करे और कहीं न करे) यहाँ वस्तु के विषय में 'वह द्वैत है या अद्वैत है' ऐसा विकल्प नहीं हो सकता; क्योंकि आत्मा

तथा न्यायविरोधोऽपि सावयवस्यानेकात्मकस्य क्रियावतो नित्यत्वानुपपत्तेः। नित्यत्वं चात्मनः स्मृत्यादिदर्शनादनुमीयते। तद्विरोधश्च प्राप्नोत्यनित्यत्वे, भवत्कल्पनानर्थक्यं च; स्फुटमेव चास्मिन् पक्षे कर्मकाण्डानर्थक्यम्, अकृताभ्यागमकृतविप्रणाशप्रसङ्गात्।

ननु ब्रह्मणो द्वैताद्वैतात्मकत्वे समुद्रादिदृष्टान्ता विद्यन्ते, कथमुच्यते भवतैकस्य द्वैताद्वैतत्वं विरुद्धमिति।

न अन्यविषयत्वात्। नित्यनिरवयववस्तुविषयं हि विरुद्धत्वमवोचाम द्वैताद्वैतत्वस्य, न कार्यविषये सावयवे। तस्माच्छ्रुतिस्मृतिन्यायविरोधादनुपपन्नेयं कल्पना; अस्याः कल्पनाया वरमुपनिषत्परित्याग एव।

पुरुषतन्त्र नहीं है। इसके अतिरिक्त एक ही वस्तु का द्वैताद्वैतरूप होना विरुद्ध भी है। इसलिये यह कल्पना युक्तियुक्त नहीं है।

श्रुति और युक्ति से विरुद्ध होने के कारण भी उक्त कथन उचित नहीं। 'सैन्धवघन के समान प्रज्ञान एकरस घनरूप–निरवयव निरवकाश तथा पूर्वापर और बाह्याभ्यन्तर भेद से रहित है', 'सबाह्याभ्यन्तर अज है', 'नेति-नेति', 'अस्थूल–अनणु–अह्रस्व–अजर–अभय और अमृत है' इत्यादि श्रुतियाँ जो निश्चितार्थ और संशय-विपर्यय तथा शङ्का से रहित हैं, सारी ही समुद्र में डाल देनी होंगी; क्योंकि रहकर भी वे कुछ नहीं कर सकतीं।

इसी तरह युक्तिविरुद्ध भी है। कारण यह है कि सावयव, अनेकात्मक और क्रियावान् पदार्थ का नित्य होना संभव नहीं है। साथ ही स्मृति आदि के अवलोकन से आत्मा के नित्यत्व का अनुमान होता है। उसका अनित्यत्व मानने पर उस युक्तिसिद्ध नित्यत्व से विरोध प्राप्त होता है। साथ ही यदि आत्मा का अनित्यत्व स्वीकार भी किया जाय तो भी आपकी कल्पना व्यर्थ ही ठहरती है। इस पक्ष में कर्मकाण्ड की व्यर्थता स्पष्ट ही है; क्योंकि (आत्मा को अनित्य मानने पर) बिना किये की प्राप्ति और किये हुए का नाश होने का प्रसङ्ग उपस्थित होगा।

"किन्तु ब्रह्म के द्वैताद्वैतरूप होने में समुद्रादि दृष्टान्त विद्यमान हैं, फिर आप ऐसा कहते हैं कि एकका द्वैताद्वैतरूप होना विरुद्ध है ?"

अध्येयत्वाच्च न शास्त्रार्थेयं कल्पना। न हि जननमरणाद्यनर्थ-शतसहस्रभेदसमाकुलं समुद्रवनादिवत् सावयवमनेकरसं ब्रह्म ध्येयत्वेन विज्ञेयत्वेन वा श्रुत्योपदिश्यते।

प्रज्ञानघनतां चोपदिशति, "एकधैवानुद्रष्टव्यम्" (बृ० उ० ४.४.२०) इति च अनेकधादर्शनापवादाच्च–"मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति" **(४.४.१९) इति। यच्च श्रुत्या निन्दितं तन्न कर्तव्यम्, यच्च न क्रियते न स शास्त्रार्थः ब्रह्मणोऽनेकरसत्वमनेकधात्वं च द्वैतरूपं निन्दितत्वान्न द्रष्टव्यम्; अतो न शास्त्रार्थः। यत्त्वेकरसत्वं ब्रह्मणः; तद् द्रष्टव्यत्वात् प्रशस्तम्, प्रशस्तत्वाच्च शास्त्रार्थो भवितु-मर्हति।**

ऐसा कहना उपयुक्त नहीं। कारण यह है कि हम जो विरोध दर्शाते हैं, उसका विषय अन्य है। हमने नित्य और निरवयव वस्तु के विषय में द्वैताद्वैत का विरोध बतलाया है, सावयव कार्य के विषय में नहीं। इसीलिये श्रुति-स्मृति-युक्तिविरुद्ध होने के कारण यह कल्पना अनुचित है। इस कल्पना की अपेक्षा तो उपनिषत् का परि-त्याग कर देना ही अच्छा है।

सावयव ब्रह्म का ध्येयरूप से उपदेश न होने के कारण भी यह कल्पना शास्त्र का तात्पर्य नहीं हो सकती। जो जन्म-मरणादि सैकडों-सहस्रों अनर्थरूप भेद से सम्पन्न और समुद्र तथा वनादि के समान सावयव और अनेकरस है, ऐसे ब्रह्म का श्रुति द्वारा ध्येय या विज्ञेय-रूप से उपदेश नहीं किया जाता।

और भी। श्रुति उसकी प्रज्ञानघनता का भी उपदेश देती है तथा ऐसा भी बताती है कि "उसे निरन्तर एक प्रकार ही देखना चाहिये।", "जो यहाँ नानावत् देखता है, वह मृत्यु-से-मृत्यु को प्राप्त होता है", इस प्रकार अनेकरूप देखने की निन्दा की जाने से भी यही सिद्ध होता है। साथ ही श्रुति ने जिसकी निन्दा की हो, वह कर्तव्य नहीं हो सकता तथा जो नहीं किया जाता, वह शास्त्र का तात्पर्य नहीं हो सकता। ब्रह्म के द्वैतरूप अनेकरसत्व और नानात्व की निन्दा की गयी, इसलिये उसे ब्रह्म में नहीं देखना चाहिये, अत एव वह शास्त्र का तात्पर्य नहीं है। ब्रह्म की जो एकरसता है, वही द्रष्टव्य

यत्तूक्तं वेदैकदेशस्याप्रामाण्यं कर्मविषये द्वैताभावादद्वैते च प्रामाण्यमिति तन्न; यथाप्राप्तोपदेशार्थत्वात् । न हि द्वैतमद्वैतं वा वस्तु जातमात्रमेव पुरुषं ज्ञापयित्वा पश्चात् कर्म वा ब्रह्मविद्यां वोपदिशति शास्त्रम् ।

न चोपदेशार्हं द्वैतम्; जातमात्रप्राणिबुद्धिगम्यत्वात् । न च द्वैतस्यानृतत्वबुद्धिः प्रथममेव कस्यचित्स्यात्, येन द्वैतस्य सत्यत्वमुपदिश्य पश्चादात्मनः प्रामाण्यं प्रतिपादयेच्छास्त्रम् । नापि पाषण्डिभिरपि प्रस्थापिताः शास्त्रस्य प्रामाण्यं न गृह्णीयुः ।

तस्माद् यथाप्राप्तमेव द्वैतमविद्याकृतं स्वाभाविकमुपादाय स्वाभाविक्यैवाविद्यया युक्ताय रागद्वेषादिदोषवते यथाभिमतपुरुषार्थसाधनं कर्मोपदिशत्यग्रे पश्चात् प्रसिद्धक्रियाकारकफलस्वरूपदोषदर्शन-

---

होने के कारण प्रशस्त है और प्रशस्त होने के कारण वह शास्त्र का तात्पर्य भी हो सकती है ।

साथ ही यह जो कहा कि "द्वैत का अभाव होने के कारण वेद के कर्मविषयक एक भाग की तो अप्रामाणिकता हो जायगी और अद्वैतविषय में प्रामाणिकता होगी ।" वह उपयुक्त नहीं; क्योंकि शास्त्र तो यथाप्राप्त वस्तु का उपदेश करने के लिये है । जन्म लेते ही किसी पुरुष को द्वैत या अद्वैत-तत्त्व का बोध कराकर फिर उसे कर्म या ब्रह्मविद्या का उपदेश शास्त्र नहीं कर देता ।

यह भी हृदयङ्गम कर लेना आवश्यक है कि 'द्वैत' उपदेश के योग्य है भी नहीं, क्योंकि वह तो प्रत्येक जन्मधारी जीवकी बुद्धि का विषय है । आरम्भ से ही किसी की द्वैत में मिथ्यात्वबुद्धि नहीं होती, जिससे शास्त्र उसे द्वैत का सत्यत्व समझकर फिर अपनी प्रामाणिकता का प्रतिपादन करे । साथ ही पाखण्डियों द्वारा प्रवृत्त किये हुए शिष्यगण शास्त्र का प्रामाण्य स्वीकार न करें, ऐसी भी बात नहीं है ।

अतः अविद्याकृत यथाप्राप्त स्वाभाविक द्वैत को ही ग्रहणकर जो स्वाभाविक अविद्या से युक्त और रागद्वेषवान् है, उस पुरुष को शास्त्र पहले उसके अभिमत कर्मरूप पुरुषार्थ के साधन का उपदेश करता है । पीछे जो प्रसिद्ध क्रिया, कारक और फलस्वरूप कर्म में दोष

वते तद्विपरीतौदासीन्यस्वरूपावस्थानफलार्थिने तदुपायभूतामात्मैक-त्वदर्शनात्मिकां ब्रह्मविद्यामुपदिशति। अथैवं सति तदौदासीन्यस्व-रूपावस्थाने फले प्राप्ते शास्त्रस्य प्रामाण्यं प्रत्यर्थित्वं निवर्तते। तद-भावाच्छास्त्रस्यापि शास्त्रत्वं तं प्रति निवर्तत एव।

तथा प्रतिपुरुषं परिसमाप्तं शास्त्रमिति न शास्त्रविरोधगन्धोऽ-प्यस्ति, अद्वैतज्ञानावसानत्वाच्छास्त्रशिष्यशासनादिद्वैतभेदस्य। अन्य-तमावस्थाने हि विरोधः स्यादवस्थितस्य, इतरेतरापेक्षत्वात्तु शास्त्र-शिष्यशासनानां नान्यतमोऽप्यवतिष्ठते। सर्वसमाप्तौ तु कस्य विरोध आशङ्क्येताद्वैते केवले शिवे सिद्धे ? नाप्यविरोधता अत एव।

देखनेवाला तथा उससे विपरीत उदासीनरूप से स्थितिरूप फल का इच्छुक होता है, उसे ही वह उसकी उपायभूता आत्मैकत्वदर्शनरूपा ब्रह्मविद्या का उपदेश करता है। फिर ऐसा होने पर उस औदासीन्य-स्वरूप में स्थितिरूप फल की प्राप्ति हो जाने पर शास्त्र के प्रामाण्य के प्रति आकाङ्क्षा की निवृत्ति हो जाती है। उसका अभाव हो जाने पर उसके लिये शास्त्र का शास्त्रत्व भी निवृत्त हो जाता है।

इस प्रकार प्रत्येक पुरुष के प्रति शास्त्र का प्रयोजन पूरा हो जाता है, इसलिये शास्त्र के विरोध की तो गन्ध भी नहीं है, क्योंकि शास्त्र, शिष्य और शासनादि द्वैतभेद की तो अद्वैतज्ञान होने पर समाप्ति हो जाती है। यदि इनमें से कोई भी रह जाता तो उस रहे हुए का विरोध रहता। ये शास्त्र, शिष्य और शासनादि एक-दूसरे की अपेक्षा रखनेवाले हैं, इसलिये इनमें से कोई भी अवस्थित नहीं रहता। इस प्रकार सबकी समाप्ति हो जाने पर तो एकमात्र शिवस्वरूप नित्य-सिद्ध अद्वैत में किसके विरोध की आशङ्का की जाय ! और इसी से उसका किसी से अविरोध भी नहीं है।

अब हम ब्रह्म को द्वैताद्वैतरूप मानकर भी बतलाते हैं कि उस के द्वैताद्वैतरूप होने पर भी शास्त्र का विरोध ऐसा ही है। जब हम समुद्रादि के समान द्वैताद्वैतरूप एक ही ब्रह्म स्वीकार करते हैं, उसके अतिरिक्त कोई अन्य वस्तु नहीं मानते, उस समय भी हम आपके बतलाये हुए शास्त्रविरोध से मुक्त नहीं होते। किस प्रकार ? इस प्रकार कि द्वैताद्वैतरूप एक ही ब्रह्म है, वह शोक-मोहादि से अतीत

अथाप्यभ्युपगम्य ब्रूमः–द्वैताद्वैतात्मकत्वेऽपि शास्त्रविरोधस्य तुल्यत्वात्। यदापि समुद्रादिवद् द्वैताद्वैतात्मकमेकं ब्रह्माभ्युपगच्छामो नान्यद् वस्त्वन्तरम्, तदापि भवदुक्ताच्छास्त्रविरोधान्न मुच्यामहे। कथम् ? एकं हि परं ब्रह्म द्वैताद्वैतात्मकं तच्छोकमोहाद्यतीतत्वादुपदेशं न कांक्षति। चोपदेष्टा अन्यो ब्राह्मणो द्वैताद्वैतरूपस्य ब्रह्मण एकस्यैवाभ्युपगमात्।

अथ द्वैतविषयस्यानेकत्वादन्योन्योपदेशो न ब्रह्मविषय उपदेश इति चेत् ? तदा द्वैताद्वैतात्मकमेकमेव ब्रह्म नान्यदस्तीति विरुध्यते। यस्मिन्द्वैतविषयेऽन्योन्योपदेशः सोऽन्यो द्वैतं चान्यदेवेति समुद्रदृष्टान्तो विरुद्धः। न च समुद्रोदकैकत्ववद् विज्ञानैकत्वे ब्रह्मणोऽन्यत्रोपदेशग्रहणादिकल्पना सम्भवति। न हि हस्तादिद्वैताद्वैतात्मके देवदत्ते वाक्कर्णयोर्देवदत्तैकदेशभूतयोर्वागुपदेष्ट्री कर्णः केवल उपदेशस्य ग्रहीता, देवदत्तस्तु नोपदेष्टा नाप्युपदेशस्य ग्रहीतेति कल्पयितुं शक्यते; समुद्रोदकात्मत्ववदेकविज्ञानवत्त्वाद्देवदत्तस्य। तस्माच्छ्रुतिन्यायविरोधश्चाभिप्रेतार्थासिद्धिश्चैवंकल्पनायां स्यात्। तस्माद् यथाव्याख्यात एवास्माभिः 'पूर्णमदः' इत्यस्य मन्त्रस्यार्थः।

होने के कारण उपदेश की आकांक्षा नहीं रख सकता। इसके सिवा उपदेश करनेवाला भी ब्रह्म से भिन्न नहीं हो सकता; क्योंकि द्वैताद्वैतरूप एक ही ब्रह्म स्वीकार किया गया है।

अब यदि ऐसा कहो कि द्वैत विषय अनेकरूप है, इसलिए उसमें परस्पर उपदेश हो सकता है, ब्रह्मरूप विषय में उपदेश नहीं होता, तब तो "द्वैताद्वैतरूप एक ही ब्रह्म है, उससे भिन्न कोई नहीं है" इस कथन से विरोध होगा। जिस द्वैतविषय में परस्पर उपदेश होता है, वह तो अन्य होगा और द्वैत अन्य होगा–इस प्रकार समुद्र का दृष्टान्त विरुद्ध ही रहा। यदि समुद्र के जल की एकता के समान विज्ञान की भी एकता है, तो ब्रह्म से भिन्न उपदेशग्रहणादि की कल्पना संभव नहीं हो सकती। हस्त-पादादि द्वैताद्वैतरूप देवदत्त में देवदत्त के एकदेशभूत वाणी और कर्ण में से केवल वाणी उपदेश करनेवाली है और अकेला कर्ण उपदेश को ग्रहण करनेवाला है, देवदत्त न तो उपदेश करनेवाला है और न उसे ग्रहण करनेवाला–ऐसी कल्पना नहीं की जा

सकती; क्योंकि जिस प्रकार समुद्र एकमात्र जलस्वरूप है, उसी प्रकार देवदत्त भी एक ही विज्ञानवान् है। अतः ऐसी कल्पना करने में श्रुति और युक्ति से विरोध तथा अभीष्ट अर्थ की असिद्धि भी होगी। इस लिये **'पूर्णमदः'** इस मन्त्र का अर्थ, जैसी हमने व्याख्या की है, वही है।

★

शुक्ल यजुर्वेदान्तर्गत काण्वशाखानुसार-मीशावास्योपनिषन्मन्त्राणां पाठः

ॐ ईशा वास्यमिदꣳ सर्वं

यत्किञ्च जगत्यां जगत्।

तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा

मा गृधः कस्यस्विद्धनम् ॥१॥

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतँ समाः ।
एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे ॥२॥

असुर्या नाम ते लोका अन्धेन तमसावृताः ।
ताँस्ते प्रेत्याभिगच्छन्ति ये के चात्महनो जनाः ॥३॥

अनेजदेकं मनसो जवीयो
नैनद्देवा आप्नुवन्पूर्वमर्षत् ।
तद्धावतोऽन्यानत्येति
तिष्ठत्तस्मिन्नपो मातरिश्वा दधाति ॥४॥

तदेजति तन्नैजति तद्दूरे तद्वन्तिके ।
तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्यास्य बाह्यतः ॥५॥

यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्नेवानुपश्यति ।

सर्वभूतेषु चात्मानन्ततो न विजुगुप्सते ॥६॥

यस्मिन्सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद्विजानतः ।

तत्र को मोहः कश्शोक एकत्वमनुपश्यतः ॥७॥

स पर्यगाच्छुक्रमकायमव्रणमस्नाविर

ँ शुद्धमपापविद्धम् ।

कविर्मनीषी परिभूस्स्वयम्भूर्याथातथ्यतोऽ-

र्थान्व्यदधाच्छाश्वतीभ्यस्समाभ्यः ॥८॥

अन्धन्तमः प्रविशन्ति येऽविद्यामुपासते ।

ततो भूय इव ते तमो य उ विद्यायाँ रताः ॥९॥

अन्यदेवाहुर्विद्ययान्यदाहुरविद्यया ।

इति शुश्रुम धीराणाँय्ये नस्तद्विचचक्षिरे ॥१०॥

विद्याञ्चाविद्याञ्च यस्तद्वेदोभयँ सह ।

अविद्यया मृत्युन्तीर्त्वा विद्ययामृतमश्नुते ॥११॥

अन्धन्तमः प्रविशन्ति येऽसम्भूतिमुपासते ।

ततो भूय इव ते तमो य उ सम्भूत्याँ रताः ॥१२॥

अन्यदेवाहुस्सम्भवादन्यदाहुरसंभवात् ।

इति शुश्रुम धीराणांय्ये नस्तद्विचचक्षिरे ॥१३॥

सम्भूतिंच विनाशञ्च यस्तद्वेदोभयँ सह ।

विनाशेन मृत्युं तीर्त्वा सम्भूत्याऽमृतमश्नुते ॥१४॥

हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम् ।

तत्त्वम्पूषन्नपावृणु सत्यधर्माय दृष्टये ॥१५॥

पूषन्नेकर्षे यम सूर्य प्राजापत्य

व्यूह रश्मीन्समूह ।

तेजो यत्ते रूपङ्कल्याणतमन्तत्ते पश्यामि ।

योऽसावसौ पुरुषस्सोहमस्मि ॥१६॥

वायुरनिलममृतमथेदम्भ-

स्मान्त ँ शरीरम् ।

ॐ क्रतो स्मर कृत ँ स्मर

क्रतो स्मर कृत ँ स्मर ॥१७॥

अग्ने नय सुपथा राये अस्मान्विश्वानि

देव वयुनानि विद्वान् ।

युयोध्यस्मज्जुहुराणमेनो भूयिष्ठान्ते

नम उक्तिँ विधेम ॥१८॥

★

❀ श्री हरिः ❀

विद्याऽविद्यादि तत्त्वमीमांसा

संस्कृत साहित्य में वेद **'अनुश्रव'** कहे जाते हैं। अनुश्रव का भाव—**'गुरोर्मुखादनुश्रूयते'** इस व्युत्पत्ति के अनुसार यह होता है कि वे गुरुमुख से ही केवल सुने जाते हैं। इससे दो बातें सिद्ध होती हैं—एक तो यह कि वेद किसी से भी निर्मित नहीं हैं, केवल गुरुपरम्परा से सुने ही जाते हैं। अविच्छिन्न सम्प्रदाय-परम्परा से ही प्राप्त तथा अप्रमितकर्तृक होने से **'अपौरुषेय'** हैं। उनमें पुरुषदोष के शंकारूप कलंक का स्पर्श नहीं है। वे स्वतः प्रमाण हैं। दूसरी बात यह कि वेदों का अध्ययन तथा तदर्थज्ञान आचार्य से ही करना चाहिये। मनमाना अध्ययन तथा अर्थज्ञान नहीं करना चाहिये। इस बात को श्रुति स्वयं कहती है कि—**"तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत् समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम्'** (मुण्डको० १.२.१२) अवधारणार्थक **'एव'** शब्द का तात्पर्य यह है कि व्याकरण, काव्य, कोश आदि में कुशल पुरुष भी स्वयं वेद के अर्थज्ञान में प्रवृत्त न हो; किन्तु उसके विज्ञान के लिये समित्पाणि होकर श्रोत्रिय-ब्रह्मनिष्ठ की शरण में जाय, कारण कि अनेक दोषदूषित प्राणी विपरीत अर्थ समझकर लाभ के वदले अपना सर्वस्व नाश कर सकता है। वेद भगवान् को भी भय होता है कि अल्पश्रुत मूढ मुझ पर प्रहार करेगा, अर्थात् कुछ-का-कुछ अर्थ करेगा —

"इतिहासपुराणाभ्यां वेदं समुपबृंहयेत् ।
बिभेत्यल्पश्रुताद् वेदो मामयं प्रहरिष्यति ॥"

(महा० आदि० १.२६७, २६७½)

वेदव्याख्याकार 'आचार्य' मीमांसा, कल्प, निरुक्त आदि के आधार पर सम्प्रदाय के अनुरोध से व्याख्या लिखते हैं। आज कल

साहसवश कुछ लोग व्याकरणादि ज्ञानशून्य 'स्वयंभू' आचार्य पूर्वाचार्यों के शास्त्रीय व्याख्यानों का खण्डन कर अटकलपच्चू मनगढन्त वेद व्याख्यान करते हैं।

पाठकवृन्द ! आज हम आपके सामने एक ऐसा ही विषय उपस्थित करते हैं। आप जानते होंगे—"शङ्करः शङ्करः साक्षात्" के अनुसार भगवान् शङ्कर ने ही श्रीशङ्कराचार्यरूप से अवतीर्ण होकर उपनिषदादि प्रस्थानत्रयी का यथोचित व्याख्यान कर दुरवग्राह्य वेदार्थ को प्रकाशित करने की कृपा की है।

'कल्याण' के **वेदान्ताङ्क** में श्रीजयदयाल गोयनका ने **'विद्या, अविद्या तथा संभूति और असंभूति'** शीर्षक लेख में एक विचित्र मनगढन्त अर्थ करके भगवान् शङ्कराचार्य के अर्थ का निराकरण किया है। यद्यपि लेखक ने अपनी छद्ममयी नीति से आरम्भ में अपने को वेदार्थज्ञान के अयोग्य और उक्त लेख का अनधिकारी बतलाया है तथा परमाचार्यकृत व्याख्यान को निःसार तथा स्वकृत व्याख्या को महत्त्वपूर्ण कहकर छद्म का भी अन्त में भंडाफोड़ कर ही दिया है। यहाँ हम पहले इनके व्याख्यान का सार लिखते हुए उसकी समालोचना करते हैं।

जिन मन्त्रों की आपने व्याख्या की है वे मन्त्र ये हैं—"**अन्धन्तमः प्रविशन्ति येऽविद्यामुपासते। ततो भूय इव ते तमो य उ विद्यायां रताः॥ विद्यां चाविद्यां च यस्तद्वेदोभयं सह। अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययाऽमृतमश्नुते॥ अन्धन्तमः प्रविशन्ति येऽसम्भूतिमुपासते। ततो भूय इव ते तमो य उ संभूत्यां रताः॥**" लेखक का कहना है कि "बड़े-बड़े विद्वानों ने इन मन्त्रों के जो अर्थ किये हैं वे संगत नहीं मालूम पड़ते। इसीलिये इनका विचार यथाबुद्धि किया जाता है। सुतरां पहले विद्या तथा अविद्या का विचार करना चाहिये। यहाँ विद्या का अर्थ ब्रह्मविद्या समझना चाहिए। जो लोग अविद्या में निरत हैं अर्थात् सकामकर्म करते हैं, वे अन्धतम में प्रविष्ट होते हैं और उससे भी तम में वे जाते हैं, जो विद्या में रत हैं अर्थात् ब्रह्मविद्या में अभिमान करने वाले हैं। ब्रह्मविद्या के अभिमान में पाप करनेवाले हैं। क्योंकि यदि कर्म का फल स्वर्गादि अन्धन्तम माना जाय, तो उससे भी अन्धन्तम सूकर-कूकर आदि योनियाँ ही हो सकती हैं और वे विद्या का फल नहीं

हो सकती हैं। इसलिये **'रताः'** इस पद का अर्थ अभिमानी ही है। इसी वास्ते आगे विद्या तथा अविद्या को जाननेवाले के लिये मृत्युतरण और अमृतत्वप्राप्ति फल कहा है। अर्थात् जो भगवदर्थ निष्कामकर्म करता है तथा श्रवण, मनन और निदिध्यासन करके ब्रह्मविद्या को ठीक-ठीक जानता है, वह स्वर्गादिरूप मृत्यु को तैर कर मोक्ष पा लेता है" इत्यादि।

हम लेखक से यह पूछते हैं कि आपने **'विद्या'** पद से **'ब्रह्मविद्या'** कैसे समझी? देवविद्यारूप उपासना ही विद्या पद से क्यों न मान ली जाय, **'य एवं वेद'** इत्यादि स्थलों में सभी आचार्य **'वेद'** का **'उपास्ते'** अर्थ करते हैं। समस्त वैष्णव आचार्य भी विद्या का अर्थ उपासना ही करते हैं। **'विद्यया देवलोकः'** (बृह० १.५.१६) यहाँ पर भी विद्या का अर्थ उपासना ही होता है, फिर यहाँ विद्या पद से ब्रह्मविद्या क्यों मानी जाय? यद्यपि मीमांसकों के पास यहाँ बहुत कोटियाँ उपस्थित हो सकती हैं; परन्तु मनगढन्त व्याख्याताओं के पास क्या युक्ति हो सकती है! इसके सिवा **'अविद्या'** का अर्थ कर्म ही क्यों लिया गया? यदि कहें कि "अविद्याकार्य होने से कर्म ही अविद्या पद से लिया जाता है" तो वह ठीक नहीं है, कारण कि वैदिककर्म भी यदि अविद्या है तो वैदिक-उपासना भी अविद्या क्यों नहीं? ज्ञान भी यदि उत्पन्न होने वाला है, तब तो वह भी अविद्या का कार्य होने से अविद्या ही है। यदि नित्य है, तब तो उसके लिये साधन व्यर्थ हों। एवं यदि 'तरु' बीज शब्द से नहीं कहा जाता तो 'कर्म' अविद्या पद से कैसे कहा गया? इसके सिवा आपके नवीन सिद्धान्त में अविद्या का भी क्या अर्थ है? यदि पूर्वाचार्यों की उक्तियों की परवाह न करें तो अविद्या विद्या का अभावमात्र है, उससे कर्मरूप भावकार्य कैसे उत्पन्न हो सकता है?

स्वर्गादि को अन्धतम भी किस आधार पर कहते हैं, कारण वह भी ज्योतिःस्वरूप है। 'विद्यायां रताः' का अर्थ 'विद्या में अभिमान' तो किसी तरह भी युक्तिसंगत हो ही नहीं सकता। यदि कुछ व्याकरण का बोध होता तो 'रताः' का 'अभिमान' अर्थ करने में कुछ तो संकोच मालूम पड़ता! क्या **'सर्वभूतहिते रताः'**, **'आत्मरति'** इत्यादि स्थलों में क्रीड़ार्थक **'रमु'** धातु का अभिमान अर्थ लिया जाता है? यदि नहीं तो यहाँ कैसे अभिमान अर्थ हो गया? जो लेखक ने **'विद्या'** और

'अविद्या' का स्वाभिमत अर्थ होने में यह कहा है, क्योंकि यहाँ पर 'विद्या' और 'अविद्या' के तत्त्व को समझने वालों की निन्दा करके इन दोनों के तत्त्व समझने वाले की प्रशंसा की गई है। इनके तत्त्व समझने का फल मृत्यु से तैर कर अमृतत्व की प्राप्ति बतलाई है। ऐसा फल उपर्युक्त अर्थ मानने पर ही हो सकता है।" परन्तु लेखक ने यह हेतु कहाँ से निकाला, इसका पता नहीं है। मन्त्र में तो अविद्या के उपासक तथा विद्या में रत की निन्दा पाई जाती है तथा 'विद्या' और 'अविद्या' का साथ अनुष्ठान करने वाले की मृत्युतरणपूर्वक अमृतत्व-प्राप्ति बतलाई गई है। 'विद्या' और 'अविद्या' के तत्त्वज्ञ की प्रशंसा का तो स्पर्श भी मन्त्र में नहीं है। सम्भव है कि **'यस्तद्वेद'** के **'वेद'** शब्द से लेखक को विभ्रम हुआ हो, परन्तु पूर्व मन्त्रों के अनुसार यहाँ **'वेद'** का अर्थ **उपासना** ही है,अन्यथा पूर्वापर विरोध अनिवार्य होगा। 'निन्दा अविद्या-उपासक एवं विद्यानिरत की तथा प्रशंसा अविद्या तथा विद्या के तत्त्व की' इसका कुछ सम्बन्ध ही नहीं है। यदि कहें, "पहले **'अविद्यामुपासते'** का अर्थ कर्मतत्त्व को न जानना ही है"–तो इसका उत्तर यही है कि उच्छृङ्खल–पन्थियों की दृष्टि में भैंस भी 'उपासते' का अर्थ हो सकता है, इसका उत्तर हमारे पास क्या है? कोई भी समझदार **'येऽविद्यामुपासते'**,**'विद्यायां रताः'**का यही अर्थ कर सकता है कि 'जो अविद्या की उपासना अर्थात् अनुष्ठान करते हैं', 'जो विद्या में रत हैं अर्थात् तन्निष्ठ हैं।' इन पदों से' विद्या-अविद्या के तत्त्व को न जानने वाला, यह अर्थ कैसे निकला? जब पूर्वार्द्ध का 'तत्त्व न जानने वाला' यह अर्थ नहीं हुआ, तब **'यस्तद्वेदोभयं सह'** का अर्थ दोनों के तत्त्वों का जानने वाला कैसे हुआ? क्योंकि आपके कथनानुसार पहले अविद्यादि के तत्त्वज्ञानरहित की निन्दा की गयी है तथा अन्त में उनके तत्त्वज्ञोंकी प्रशंसा की गई है। सो पूर्वार्द्ध बिगड़ने से उत्तरार्द्ध भी बिगड़ गया। इसके सिवाय प्रशंसा किन शब्दों का अर्थ है? अतः पूर्वकथनानुसार **'वेद'** का **'उपास्ते'** ही अर्थ है। तात्पर्य यही है कि विद्या और अविद्या के पृथक्-पृथक् उपासना की निन्दा द्वारा ही दोनों के एक साथ अनुष्ठान की प्रशंसा करके दोनों के एक साथ अनुष्ठान करने वाले के लिये मृत्युतरणपूर्वक अमृतत्वप्राप्तिरूप फल बतलाया गया है। जिसके मत में विद्यादि के तत्त्वज्ञान से ही अमृतत्व-फल प्राप्त होगा, उसके यहाँ फिर अनुष्ठान की आवश्यकता ही नहीं सिद्ध होती है। यदि कहें कि ज्ञान के बाद अनुष्ठान भी अपेक्षित है तो अनुष्ठान किस

शब्द का अर्थ है ? 'वेद' का अर्थ तो आपने तत्त्वज्ञान कर लिया, अनुष्ठान अर्थ अब कैसे निकलेगा ?

अब श्रीमच्छङ्करभगवत्पूज्यपाद के व्याख्यान का अभिप्राय दिखाया जाता है। "वे अदर्शनात्मक तम में प्रविष्ट होते हैं जो अविद्या पदवाच्य कर्म की उपासना करते हैं और वे उनसे भी अधिक अदर्शनात्मक तम में प्रविष्ट होते हैं जो विद्या अर्थात् हिरण्यगर्भोपासना में निरत हैं।"

जैसे अधर्मपद से धर्मविरुद्ध निषिद्ध कृत्य ही गृहीत होता है धर्माभाव मात्र गृहीत नहीं होता, वैसे ही यहाँ पर्युदासार्थक नञ् के योग से शास्त्रविहित विद्या से अन्य शास्त्रविहित कर्म ही अविद्या पदवाच्य हैं। यहाँ विद्या और अविद्या के समुच्चय विधान के लिये एक-एक की निन्दा है। कर्म तथा ब्रह्मविद्या का विरोध होने से समुच्चय नहीं हो सकता, कारण कि द्वैतबुद्धिपूर्वककर्म का अद्वैतबुद्धिरूपविद्या के साथ विरोध प्रत्यक्ष है। इसी वास्ते 'विद्या' पद से ब्रह्मविद्या नहीं गृहीत है, किन्तु कार्यब्रह्म की उपासनारूप अपरविद्या ही गृहीत है।

लेखक जी ने जो कहा है "यदि 'रताः' का अर्थ विद्या में अभिमान न माना जाय तो विद्या में रत को कर्मरत से भी अधिक तम की प्राप्ति होना कैसे सम्भव होगा ? यदि अविद्या (कर्म) में रत को अन्धतम की प्राप्ति होगी तब तो विद्यारत को उससे भी अधिक अन्धतम श्व, सूकर आदि योनियों की प्राप्ति होगी। परन्तु यह सब विरुद्ध है। अविद्या के तत्त्व को न जानकर सकामभाव से अनुष्ठान करने वाले को अनित्य स्वर्गादि प्राप्त होता है, यह अविद्या-रत को अन्धतम की प्राप्ति है। विद्या के तत्त्व को न जानकर विद्या का अभिमान कर यथेष्टाचरण करनेवाले को स्वर्गादि से भी अपकृष्ट श्व-शूकर आदि योनिरूप, घोर अन्धतम की प्राप्ति होती है। जो लोग विद्या तथा अविद्या को तत्त्वतः जानकर अनुष्ठान करते हैं, वे अविद्या से मृत्यु को तैरकर विद्या से अमृत अर्थात् मोक्ष को प्राप्त कर लेते हैं।"

इत्यादि कथन सूचन करता है कि वे वेदार्थनिर्णायक पूर्वमीमांसादिशास्त्रों से परिचित नहीं हैं। सिद्धान्ततः विद्या-अविद्या-समुच्चय विधि के अर्थवादभूत वचनों का तात्पर्य केवल समुच्चय की स्तुति में

ही है। **'विधिना त्वेकवाक्यत्वात्स्तुत्यर्थेन विधीनां स्युः'** जै.१.२.६(विधि के साथएकवाक्यता होने से अर्थवाद विधियों की स्तुति के लिये होते हैं।)। अर्थवादवचन से प्रसिद्ध अर्थ मानान्तर से सिद्ध हो तव तो अर्थवाद **'अनुवाद'** माना जाता है। जैसे **'अग्निर्हिमस्य भेषजम्'** यहाँ अग्नि का शीतभेषजत्व प्रत्यक्ष से ही ज्ञात है। सिद्ध अर्थ का द्योतक होने से यह अनुवाद है। मानान्तर अविरुद्ध अर्थ का द्योतन करनेवाले अर्थवाद को **'भूतार्थवाद'** कहते हैं। अर्थात् महातात्पर्य, विधि की स्तुति में होते हुए अवान्तरतात्पर्य स्वार्थ में भी रखनेवाले अर्थवाद को भूतार्थवाद कहते हैं, जैसे **'वज्रहस्तः पुरन्दरः'** यहाँ इन्द्र का वज्रहस्तत्व आगमातिरिक्त मान से अज्ञात है। अज्ञातज्ञापक होने से यह भूतार्थवाद है। मानान्तरविरुद्ध अर्थ का प्रतिपादन करनेवाले अर्थवाद को **'गुणवाद'** कहते हैं। अर्थात् उसका स्वार्थ में कुछ भी तात्पर्य नहीं होता। यहाँ **'विद्यया देवलोकः','कर्मणा पितृलोकः'** (बृ० १.५.१६) इत्यादि श्रुति से कर्मनिष्ठ एवं उपासनानिष्ठ को पितृ, देवलोक आदि की प्राप्ति श्रुत है। यह अर्थवाद मानान्तर विरुद्ध होने से गुणवाद है।

'नहि निन्दा निन्द्य'' निन्दितुम्प्रवर्तते, अपितु विधेयं स्तोतुम्' = **'निन्दा का तात्पर्य निन्दा में नहीं, अपि तु विधेय की स्तुति में हैं'** ऐसी मीमांसकों की रुढि है। जो अविद्यापदवाच्यकर्म में निरत हैं, उनकी निन्दा विद्या के समुच्चय के लिये की गई है। विद्याफल की अपेक्षा अविद्याफल स्वर्गादि की प्राप्ति निकृष्ट है। उसे अन्धतम की प्राप्ति कहकर उसकी निन्दा की गई है। जो केवल विद्या में निरत हैं; वर्णाश्रमानुसार श्रौत-स्मार्तधर्म का अनुष्ठान नहीं करते, उन्हें अविद्यारतों से भी अधिक अन्धतम की प्राप्ति कही गयी है, कारण कि अविद्या पदवाच्य श्रौत-स्मार्तधर्मनिरत तो विद्याफल से ही वञ्चित रहेंगे, अविद्याफलस्वर्गादि के भागी तो अवश्य होंगे। परन्तु कर्म-धर्म छोड़कर विद्या में रत तो कर्म और उपासना दोनों के ही फल से वञ्चित रहेंगे। कारण कि 'उपासना' लक्ष्याकाराकारितवृत्ति का दीर्घकाल निरन्तर सत्कारपूर्वक आवर्त्तन को कहते हैं। चित्त की चंचलता की निवृत्ति के बिना वह असम्भव है। चित्त की चंचलता की निवृत्ति देहेन्द्रियचाञ्चल्य की निवृत्ति के विना असम्भव है। बहिरङ्ग चांचल्य निवृत्ति के बिना मानस चाञ्चल्य निवृत्ति असम्भव है। देह तथा इन्द्रियों का चाञ्चल्य श्रौतस्मार्त धर्मानुष्ठान के विना नहीं मिट

सकता। इसी वास्ते कहा है कि अविद्या से मृत्यु अर्थात् स्वाभाविक-कामकर्मलक्षणमृत्यु को तैरकर विद्या से अमृतत्व को प्राप्त होता है।

जैसे सुरापान आदि की निन्दा उनके त्याग के लिये की जाती है, वैसे यहाँ अविद्या की निन्दा उसके त्याग के लिये नहीं, किन्तु दोनों का एक साथ अनुष्ठान करने के लिये ही है। ठीक ऐसे ही छान्दोग्योपनिषत् में **'वैश्वानर विद्या'** में ५.१३ भी द्युलोकादिरूपमूर्धादि एक-एक अंग के उपासक की **"मूर्धातेव्यपतिष्यत्"** इत्यादि से निन्दा की गई है, परन्तु वहीं एक-एक अङ्ग की उपासनाओं का फल भी बतलाया गया है। ये दोनों बातें विरुद्ध हैं। यदि एक अङ्ग की उपासना निन्दित है, तो उसका फल कैसा? कारण कि 'जो कृत्य निन्दित तथा अनिष्ट के हेतु हैं; उनका शुभ फल नहीं होता। यदि वह एकाङ्गोपासना शुभ फल का हेतु है तो उससे मूर्धपातरूप अनिष्ट फल बतलाकर उसकी निन्दा नहीं करनी चाहिये। कारण कि स्वर्गादिशुभफल के हेतु अग्नि-होत्रादि की निन्दा नहीं होती है। इसी वास्ते मूर्धपातादिसूचक अर्थवाद-वचन स्वार्थपर्यवसायी शुभफल प्राप्ति सूचक प्रमाण से विरुद्ध होने से केवल **'गुणवाद'** माने जाते हैं। अर्थात् उनका तात्पर्य एक-एक अङ्ग की उपासना की निन्दा में नहीं है, किन्तु सप्ताङ्ग उपासना के समुच्चय में ही है। इसी वास्ते एकाङ्गोपासना की निन्दा की गई है—**औपमन्यव कं त्वमात्मानमुपास्स इति दिवमेव भगवो राजन्निति होवाचैष वै सुतेजा आत्मा वैश्वानरो यं त्वमात्मानमुपास्से तस्मात्तव सुतं प्रसुतमासुतं कुले दृश्यते। अत्स्यन्नं पश्यसि प्रियमत्त्यन्नं पश्यति प्रियं भवत्यस्य ब्रह्मवर्चसं कुले य एतमेवात्मानं वैश्वानरमुपास्ते मूर्धा त्वेष आत्मन इति होवाच मूर्धा ते व्यपतिष्यद्यन्मां नागमिष्य इति।"** यहाँ सुतेजा दिवलोक रूपवैश्वानर की उपासना का फल कहकर मूर्धपातका भय दिखलाया है सप्ताङ्ग के समुच्चय के लिये। ठीक इस उदाहरण के अनुसार ही प्रकृत विद्या तथा अविद्या के समुच्चय के लिये ही निन्दा है। अर्थवादों का स्वार्थ में तात्पर्य नहीं है। इसी वास्ते यहाँ पर कर्मठ एवं उपासकों को अन्धतम या घोर अन्धतम की प्राप्ति का समर्थन आवश्यक नहीं है। जैसे पूर्वोक्त वैश्वानरोपासना में मूर्धपात का समर्थन आवश्यक नहीं है। अतः इसके लिये **'विद्यायां रताः'** का विद्या में अभिमानकर दुराचारादि करना इत्यादि मनमानी अक्षरासम्बद्ध खींचातानी की आवश्यकता ही नहीं है। विद्या पद से ब्रह्मविद्या नहीं

विवक्षित है, यह बात पूर्व में कह चुके हैं।

यदि कोई मीमांसक कहे कि 'प्रकरणवश विद्या का अर्थ '**ब्रह्मविद्या**' है,कारण **ईशा वास्यम्**' इस मन्त्र से ब्रह्मविद्या प्रकृत है; प्रकृत-परित्यागपूर्वक अप्रकृतप्रक्रिया ठीक नहीं है", तो इसका उत्तर यह है कि प्रकरण की अपेक्षा श्रुति बलवती होती है ,अतः वह प्रकरण की बाधिका होती है। '**श्रुतिलिङ्गवाक्यप्रकरणस्थानसमाख्यानां समवाये पारदौर्बल्यमर्थविप्रकर्षात्**'। (जं० सू० ३.३.१४) से साबित है कि लिङ्ग, प्रकरण आदि सबसे श्रुति प्रबल होती है। यद्यपि प्रकरण से मालूम होता है कि विद्या से ब्रह्मविद्या ही गृहीत है और उसी से कर्म का समुच्चय विधित्सित है; परन्तु '**तमेतमात्मानं ब्राह्मणाः यज्ञेन दानेन तपसाऽनाशकेन विविदिषन्ति**' (बृ० ४.४.२२) उस श्रुति से यज्ञादिकर्मों का ब्रह्मवेदन की इच्छा के प्रति या इष्यमाण वेदन के प्रति साधनरूप से अन्वय है। यदि कर्म ब्रह्मविविदिषा या इष्यमाण ब्रह्मवेदन का साधन है तो इसका ब्रह्मविद्या के साथ समुच्चय कैसे हो सकता है ? कारण कि **जहाँ साधन-साध्यभाव या प्रत्येक का स्वतन्त्र फल न होना निश्चित होता है, वहाँ अङ्गाङ्गिभाव होता है; समुच्चय नहीं होता। जैसे व्रीहिप्रोक्षण तथा दर्शपौर्णमास का अङ्गाङ्गिभाव माना जाता है, समुच्चय नहीं माना जाता। अङ्गाङ्गिभावशून्य स्वतन्त्र फलवाले दो कृत्यों का समुच्चय हुआ करता है। कर्मों का ब्रह्मविद्या के साथ समुच्चय 'यज्ञेन' इत्यादि श्रुति से विरुद्ध है। क्योंकि 'श्रुति' कर्म को विद्या में हेतु बतलाती है, अतः 'प्रकरण' वश विद्या से ब्रह्मविद्या नहीं गृहीत हो सकती। कारण कि प्रकरण श्रुति से दुर्बल है।** कर्म तथा विद्या का परस्पर विरोध होने से समुच्चय को असम्भव दिखा चुके हैं। अद्वैत ज्ञाननिष्ठ के आभासमय कर्मों में कर्तृत्व, नानात्वादि का अभिनिवेश नहीं होता, वे निष्फल तथा आभास मात्र होते हैं। वे किसी पुरुषार्थ के लिये समुच्चित नहीं कहे जा सकते। उपासनारूप विद्या ही यहाँ 'विद्या' पद से विवक्षित है। उसी का कर्म के साथ समुच्चय हो सकता है। जहाँ कहीं 'माण्डूक्यकारिका' व्याख्यादिकों में आचार्यों ने इस मन्त्र के विद्यापद से ब्रह्मविद्या ग्रहण की है, वहाँ पर कर्म के साथ '**क्रम-समुच्चय**' स्वीकार किया है। यानी प्रथम अज्ञान दशा में पुरुष कर्मानुष्ठान करे। अनन्तर योगारूढ़ होने पर वही ज्ञाननिष्ठ होवे। इस तरह क्रमशः एक पुरुषानुष्ठेय होने के कारण क्रम समुच्चय

कहा है। सम-समुच्चय अर्थात् दोनों का साथ अनुष्ठान नहीं बन सकता।

"विद्याञ्चाविद्यांच यस्तद्वेदोभयं सह" यहाँ पर लेखक जी कहते हैं कि "जो विद्या-अविद्या को तत्त्व से जानता है; अर्थात् कर्म को भगवदर्थ समझता है तथा श्रवणादि से विद्या को; वह पूर्व से मृत्युतरण तथा उत्तर से अमृतत्व प्राप्त करता है।" यह कथन तात्पर्य-गन्धसम्बन्धशून्यता का सूचक है। भला यहाँ कर्म तथा उपासना केवल अपने ज्ञान से कल्याण के हेतु होते हैं या अनुष्ठान की अपेक्षा रखते हैं? यदि प्रथम पक्ष है तो अनुष्ठान की व्यर्थता ही है। यदि द्वितीय पक्ष है तो यहाँ **'वेद'** का अर्थ **"उपास्ते'** है। अर्थात् यहाँ कर्मादि का तत्त्वज्ञान नहीं विवक्षित है; किन्तु कर्म तथा उपासना का साथ अनुष्ठान विवक्षित है। इससे अनुष्ठानोपयोगी ज्ञान अपने आप सिद्ध हो जायगा। कारण ज्ञान के बिना अनुष्ठान ही नहीं हो सकता। इस तरह **'वेद'** का अर्थ **अनुष्ठान** ही है।

'सम्भूति' का परमात्मा तथा **'असम्भूति'** का देवता अर्थ करना भी अत्यन्त असम्बद्धालाप है। यदि सम्पूर्वक 'भू' धातु का 'सम्यक्-सत्ता' अर्थ ही हो तो **'सम्भवोऽस्य न विद्यते'**, **'सम्भवः सर्वभूतानां ततो भवति भारत'** (गी० १४.३) इत्यादि स्थल में सम्भव का 'उत्पत्ति' अर्थ ही न बने; किन्तु इन स्थलों में सम्भव-सम्भूति इत्यादि का उत्पत्ति ही अर्थ होता है। यद्यपि सम्भूति का अर्थ–**'सम्यग्भूतिरैश्वर्यं यस्य स सम्भूतिः'** इत्यादि व्युत्पत्ति के बल से 'हिरण्यगर्भ' अर्थ लिया जा सकता है, तथापि आगे 'माण्डूक्यकारिका' में **'सम्भूतेरपवादाच्च सम्भवः प्रतिषिद्ध्यते'** ३.२५ यहाँ पर कहा गया है कि हिरण्यगर्भ की निन्दा से उत्पत्तिमात्र का मन्त्र ने निषेध किया है। जब प्रधान कार्य हिरण्यगर्भ का ही अपवाद है, तब सामान्य कार्य का अपवाद सुतरां सिद्ध है। इस तरह अजातवाद में ही शास्त्र का तात्पर्य है।

यदि आपके मत में 'सम्भूति' का अर्थ परमात्मा है तो **'सम्भूतेरपवादाच्च'** यहाँ 'सम्भूति' का क्या अर्थ होगा? क्या परमात्मा का अपवाद? साथ ही **'सम्भूत्यां रताः'** का क्या अर्थ होगा? क्या यह कि उससे भी घोरतम नरक में वे जायेंगे जो परमात्मा में निरत हैं? यदि **'रताः'** का अभिमान अर्थ करें तो कैसे? किसी प्रकृत-प्रत्यय के बल

पर या मनमानी ही ? फिर अभिमान से भी तो अहंग्रहोपासना ही होती है, उससे घोर तम की प्राप्ति कैसी ? फिर यदि 'सम्भूति' में रमण करने वाले घोर तम में जायेंगे तब तो आत्मरत की यही दशा होगी। एवञ्च असम्भूति से देवता ही क्यों लिये जाते हैं, सम्यक् सत्तावाले तो पत्र-फल आदि भी हैं, वे ही क्यों नहीं गृहीत होते ? फिर यदि 'सम्भूति-उपासना' से देवता की उपासना विवक्षित हो तो विद्या और अविद्या से ही गतार्थता हो गई। कारण कर्म से इन्द्रादि देवताओं की उपासना और विद्या से परमात्मा की उपासना आ ही गयी, इन दोनों का समुच्चय पहले मन्त्रों से हो ही गया। **'सम्भूति'** और **'असम्भूति'** शब्द से भी उसी को कहने की क्या आवश्यकता थी ? अतः यहाँ भाष्यकारकृत व्याख्यान ही युक्त है। प्रथम असम्भूति तथा सम्भूति दोनों की पृथक्-पृथक् उपासनाओं की निन्दा करके समुच्चय का विधान किया गया है। असम्भूति का अर्थ अव्याकृत जगत् का मूल-कारणप्रकृति गृहीत हुआ है। 'न सम्भूतिर्यस्य स असम्भूतिः' जिसकी उत्पत्ति नहीं होती ऐसा मूलकारण ही असम्भूति है, क्योंकि वही सब का मूल है। उसका कोई मूल नहीं है, अतः उसकी उत्पत्ति नहीं होती, **'मूले मूलाभावादमूलं मूलम्'** (सा. सू.)। जो असम्भूति की उपासना करते हैं वे अन्धतम के भागी होते हैं तथा उनसे भी अधिक अन्धतम की प्राप्ति उन्हें होती है जो सम्भूति अर्थात् हिरण्यगर्भ की उपासना करते हैं। सम्भूति=उत्पत्ति होती है जिसकी, या सम्यक् भूतिः=ऐश्वर्य है जिसका, इस तरह से भी सम्भूति का हिरण्यगर्भ ही अर्थ होता है। इसके अनन्तर समुच्चय का हेतुभूत दोनों का भिन्न फलत्व दिखाया गया है **'अन्यदाहुः सम्भवात्'**, इत्यादि से। यहाँ पर भी निन्दा में तात्पर्य बिल्कुल नहीं है, केवल समुच्चय में ही तात्पर्य है। कारण दोनों उपासनाएँ शास्त्रविहित हैं तथा दोनों ही स्वतन्त्र फल वाली हैं। अतः निन्दा प्रमाणान्तर विरुद्ध होने से गुणवाद ही है। विधि ब्राह्मण भाग में ही होती है, इसी वास्ते शतपथ के चौदहवें कांड में कारण तथा कार्यब्रह्मरूप हिरण्यगर्भ की उपासना बहुधा विहित है। एतावता लेखक जी का यह कथन भी निर्मूल है कि यह उपासना कहीं मिलती ही नहीं। मीमांसकों की रूढ़ि यह है कि जहाँ अपूर्व द्रव्य-देवता देखते हैं वहाँ कर्म विधि की कल्पना करते हैं। जैसे **"आग्नेयोऽष्टाकपालो भवति"**।

यहाँ पर आग्नेय याग का विधिप्रत्यय न होने पर भी विधि की कल्पना होती है। वैसे ही उपास्यस्वरूप देखकर उपासना का विधि-प्रत्यय न होने पर भी विधि की कल्पना करते हैं। पुराणों में भी अव्यक्तोपासकों को परमोत्कृष्ट फल बतलाया गया है।

"ब्रह्मा विश्वसृजो धर्मो महानव्यक्तमेव च।
उत्तमां सात्त्विकीमेतां गतिमाहुर्मनीषिणः ॥"

यहाँ इस स्मृति में अव्यक्त प्राप्ति को ही अन्तिम सात्त्विक फल कहा गया है।

"दश मन्वन्तराणीह तिष्ठन्तीन्द्रियचिन्तकाः।
पूर्णं शतसहस्रं तु तिष्ठन्त्यव्यक्तचिन्तकाः॥
पुरुषं निर्गुणं प्राप्य कालसंख्या न विद्यते।"

लेखक जी ने जो कहा है कि "भाष्यकारीय व्याख्यान में समुच्चय में भी यदि प्रकृतिलय ही फल हुआ, तो प्रकृति-उपासना के फल से क्या विलक्षणता हुई ?" यह ठीक नहीं, कारण कि प्रकृतिलय रूप फल यहाँ अन्धतम शब्द से विवक्षित नहीं है। वह तो केवल विद्या की भाँति असम्भूति उपासना का अन्धतम फल बतलाकर समुच्चय के लिये केवल निन्दा की गई है। जैसे विद्या का फल अन्धतम नहीं हो सकता, केवल निन्दा मात्र के लिये यह उक्ति है। विद्या का फल तो देवलोकादि ही है। वैसे ही केवल प्रकृति-उपासना की निन्दा के लिये अन्धतम फल कहा गया है; वस्तुतः नहीं। प्रकृति उपासना का तो परमफल प्रकृतिसायुज्य ही है; जो कि मुक्ति के समान तथा पारलौकिक फलों में सर्वोत्कृष्ट फल है। प्रकृतिलय अन्धतम शब्द से विवक्षित नहीं है। वह तो समुच्चय के फल रूप में प्राप्त होगा। आगे 'सम्भूतिञ्च-विनाशञ्च' इत्यादि से भी दोनों का तत्त्वज्ञान विवक्षित नहीं है; किन्तु साथ उपासना विवक्षित है। विनाशपद से कार्यरूप हिरण्यगर्भ विवक्षित है, जो कि कार्य होने से विनाशधर्मक है। **'विनाशो धर्मोऽस्यास्तीति विनाशः'** इस व्युत्पत्ति से अर्श अच् से अजन्त विनाश शब्द विनाश धर्मवाले हिरण्यगर्भ का वाचक है; जोकि प्रकरणवश गृहीत होता है। उसकी उपासना से अनैश्वर्य-दारिद्र्यरूप मृत्यु तैरी जाती है। कारण हिरण्यगर्भोपासना से ऐश्वर्य प्राप्त होती है। उससे

अनैश्वर्य मिट जाता है। दुःख रूप होने से तथा संसारवासना का हेतु होने से ऐश्वर्य से मृत्युरूप दारिद्य दूर होता है। अभिलाषा भी शांत होती है। तदनन्तर असंभूति की उपासना से कारणसायुज्यरूप महाफल प्राप्त होता है, जिस फल के आगे बस कैवल्य ही है। जैसे कर्मके साथ ही उपासना को स्वफल संपादन में सुविधा होती है; वैसे ही सम्भूति-उपासना सहित ही असम्भूति उपासना को स्वफल संपादन में सुविधा होती है। इसी वास्ते जैसे केवल विद्या में रत रहने से उसका फल नहीं होता; वैसे ही केवल असंभूति उपासना से प्रकृतिसायुज्य नहीं हो सकता, किन्तु संभूति उपासना से राग, दुःखादि निदान दारिद्य को तर कर ही असंभूति से तत्सायुज्य होगा। कहा जा सकता है कि "यदि सम्भूति उपासना से ब्रह्मलोक प्राप्त होता है और वहाँ से क्रममुक्ति होती है, तब तो संभूति की उपासना से क्रमशः प्राणी मुक्त होता है। असंभूति उपासना से तो कारणमें लय होना होगा और कालान्तर में पुनः संसार अनिवार्य होगा; अतः उलटा असंभूतिका समुच्चय अनर्थ का हेतु हुआ।" परन्तु सो कहना ठीक नहीं, क्योंकि 'आब्रह्मभुवनाल्लोकाः पुनरावर्तिनोऽर्जुन'(गी.८.१६) के अनुसार कार्यब्रह्मोपासकों का भी ब्रह्मलोक से पुनरावर्तन होता है। क्रममुक्ति दहरविद्या, शाण्डिल्यविद्या आदि से ही होती है। इसी वास्ते जहाँ'इमं मानवमावर्त्तं नावर्तन्ते'(छा ४.६.१) इत्यादि स्थलोंमें भी इदं पद का निर्देश है वहाँ केवल वर्त्तमान मानवावर्त में ही आवृत्ति का निषेध है; अर्थात् आवर्तान्तर में उनकी आवृत्ति होती है, अतः सिद्ध हुआ कि कार्यब्रह्म की उपासना की अपेक्षा कारण ब्रह्म की उपासना श्रेष्ठ ही है। उसका फल भी बड़ा है। जैसे केवल कार्य की उपासना नहीं; किन्तु कार्य्यावच्छिन्न ब्रह्म की ही उपासना है, वैसे ही प्रकृत्यवच्छिन्न चैतन्य की उपासना अव्यक्तोपासना है। उससे वहुत काल तक कारणसायुज्य के उपरान्त कारणानुग्रह से कारणातीत निर्गुणतत्त्व की भी प्राप्ति क्रमशः होती है; अतः कोई दोष नहीं है। समुच्चयानपेक्ष केवल ब्रह्मविद्या का फल निर्विशेष ब्रह्मभावापत्ति ही है। जिसका सविस्तार उपनिषदों में वर्णन है। यहाँ पर लेखक ने जो सूचना की है कि असम्भूति निकालने के लिये दो जगह अकार का अध्याहार करना पड़ता है, सो भी निर्मूल है। कारण, तात्पर्य से वेदों का अर्थ निकाला जाता है। वेदों में सहस्रों स्थलों में ऐसा किया जाता है। जब विनाश शब्द का तात्पर्य भूमयुक्ति से हिरण्यगर्भ हुआ, तब सुतरां संभूति के पीछे

अकारच्छेदकर असम्भूति निकालना उचित है। कारण जिसकी संभूति नहीं उसका तो विनाश (स्वाभाविक) धर्म हुआ ही नहीं करता, जिसकी सम्भूति होती है, ऐसे कार्य का विनाश धर्म हुआ करता है। सर्वत्र भवति, उत्पद्यते, भावयति, उत्पादयति, सम्भव, उत्पत्ति, सम्भूतिः—ये सब उत्पत्त्यर्थक माने जाते हैं। अतः अगत्या विनाश शब्द से सम्भूति ली गई है। परिशेष असम्भूति ही बची और उसके लिये अकार छेदयुक्त ही है। अवैयाकरणों को ही यह सन्देह हो सकता है। वैयाकरणों के लिये 'एङः पदान्तादति' (पा. सू.), 'अकः सवर्णे दीर्घः' (पा.सू.) सूत्रों से लुप्तादि अकार का बोध सहज में ही हो सकता है, 'विचचक्षिरेऽसम्भूतिञ्च तीर्त्वाऽसम्भूत्यामृतमश्नुते'। लेखक जी को अध्याहार अनुकर्षण आदि का पहले अर्थ समझने का प्रयत्न करना चाहिये; तब भगवान् भाष्यकार के व्याख्यान में अध्याहारदूषण उद्भावन करना चाहिये।

यद्यपि इस पर उचित अन्यान्य बहुत से विचार उठाये जा सकते थे, तथापि लेखक ने निरर्थक विचारों का उत्थापन किया है जो कि केवल दुःसाहस का सूचक है उस पर कुछ भी लिखना केवल समय का अपव्यय करना है। तथापि अज्ञजनता को कहीं भगवान् शंकराचार्य के लेख में भ्रम न हो जावे, बस केवल इसी लिए लेखनी को किञ्चित् श्रम दिया गया है, बुद्धिमानों के लिये तो कुछ कहना ही नहीं है।

❖

श्रीहरिः

ईशावास्योपनिषत् • सभाष्य-सपरिशिष्ट

शुद्धि-पत्र

पृष्ठ		पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
१			वाजसनेय	वाजसनेयि
१		७	कर्मष्वविनियुक्ताः	कर्मस्वविनियुक्ताः
१	हिन्दी	४	दिये	दिये गये
१	हिन्दी	६	मन्त्रों को	मन्त्रों की
२	हिन्दी	१	प्रमाण	वचन
२	हिन्दी	२	प्रमाणों	वचनों
४		१०	द्विजाति	द्विजातिः
५		४	ब्रह्मात्म्यैक्ये-	ब्रह्मात्मैक्ये
६		३	तानिलिङ्गानि	तानि लिङ्गानि
६		८	रितम्	रितम् ।
९		३	त्यां	त्यां
१०		१	सम्ब	सम्व
१२		४	भावे-	भावे
१५		१	कार्यस्यकारणेनैव	कार्यस्य कारणेनैव
१८		५	पारमार्थिक कल्पनाऽनुपपत्तेः	पारमार्थिककल्पनानुपपत्तेः
२२		२	मित भक्षणेन	मितभक्षणेन
२५		४	स्वत्यागानुवादेन	स्व त्यागानुवादेन
२५		११	नानुध्याद्	नानुध्यायाद्
२७		४	कर्मविहितम्	कर्म विहितम्
२९		४	धर्मः	धर्मो

३०	११	जातुतिष्ठ०	जातु तिष्ठ०
३१	१०	तत्तद्दाढ्य	तद्दाढ्य
३२	६	परमाप्नोतिपूरुषः	परमाप्नोति पूरुषः
३४	५	भुज्यन्तेविषया	भुज्यन्ते विषया
७७	८	यत्तुकेनचित्	यत्तु केनचित्
८३	६	उननिषत्सुदर्शनात्	उपनिषत्सु दर्शनात्
८४	२	साघ्य	साध्य
९२	२	णा	णां
९३	५	द्व दो	द्वे दो
१३८ हिन्दी	१	वैस्श्ययाद्यौ	वैश्यस्याद्यौ
१७२ टिप्पणी	१	ब्रा	बा
१८२	१	भूतेनस्व	भूतेन स्व

प्रकाशन संस्थान द्वारा प्रकाशित

पूज्यपाद
स्वामी श्रीकरपात्री जी महाराज
के अन्य ग्रन्थ

★

१.	वेदार्थ पारिजात [२ खण्ड]	मूल्य १८० रु.
२.	शुक्ल यजुर्वेद संहिता करपात्र भाष्य–प्रथम खण्ड	६५ रु.
३.	भक्ति सुधा [तृतीय संस्करण]	६० रु.
४.	भागवत सुधा	३० रु.
५.	श्रीराधा सुधा	३० रु.
६.	गीताजयन्ती और भीष्मोत्क्रांति	२२ रु.
७.	ईशा वास्योपनिषत् करपात्र भाष्यम्	.... रु.
८.	विभीषण शरणागति	३ रु.

★